॥ श्रीराधा ॥

समर्पणमूर्त्ति श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी

समर्पण-मूर्ति पूज्य श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी

नेहनिकुंज, जयपुर

॥ श्रीराधा ॥

समर्पणमूर्त्ति श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी

[रस–प्रवाहका द्वितीय विशेषांक]

सम्पादक :

सुभाष दीपक ● ऋत्विक मिश्र

प्रकाशक : सुभाष दीपक

नेहनिकुंज, जयपुर

प्रथम संस्करण : वैशाख शुक्ल चतुर्दशी, वि. सं. २०७९ (श्रीनृसिंह चतुर्दशी)

{ पूज्य श्रीगोस्वामीजीकी ४८ वीं पुण्यतिथि }

नेहनिकुंज, जयपुर द्वारा मुद्रित

॥ श्रीहरिः ॥

विषय–सूची

विषय **पृष्ठ-संख्या**

इष्ट–वन्दन —

१. महाभाव–रसराज–वन्दना १३

२. श्रीराधामाधव स्तवन (परम पूज्य श्रीराधाबाबा) १४

महापुरुषका स्वरूप और महात्म्य—

३. महापुरुषका स्वरूप और महात्म्य (शास्त्रोंमें) १५

४. भक्त–चरितकी उपादेयता २६

(श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्यजी महाराज)

५. भगवद्भक्तोंकी महिमा ३१

(परम श्रद्धेय सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

६. प्रेमी भक्तका अलौकिक महात्म्य ३३

(परम पूज्य भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

७. सच्चे संतका स्पर्श करें (परम पूज्य श्रीराधाबाबा) ४४

प्रसाद—

विषय	पृष्ठ-संख्या
८. श्रीगोपाङ्गनाओंकी महिमा	४६
(परम पूज्य भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)	
९. परम पूज्य भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके उद्गार	५०
१०. परम पूज्य श्रीराधाबाबाके उद्गार	५१
११. पूज्या श्रीमती सावित्रीबाई फोगलाके उद्गार	५२

चिंतवन-चन्द्रिका —

१२. बस, यही अभिलाषा है	५४
(पूज्य श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी)	
१३. श्रीभाईजीद्वारा आयोजित दिव्य साधन-सत्रका विवरण श्रीगोस्वामीजीके शब्दोंमें	
पूर्व-भूमिका	५६
प्रसंग संख्या १	५८
प्रसंग संख्या २	६४
प्रसंग संख्या ३	६७
प्रसंग संख्या ४	६८
प्रसंग संख्या ५	७१
पूज्य श्रीभाईजीद्वारा समाधि अवस्थामें मन्त्रदान	७५

विषय **पृष्ठ-संख्या**

मृगमद–सुरभि —

१४. सन्त–समर्पण–तत्त्व एवं पूज्य सेठजी
श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी महिमा ८७

१५. अभिनव–चैतन्य श्रीभाईजी ११३

१६. भाईजीकी कृपाप्राप्तिका एकमात्र साधन — अनन्यता ११९

१७. श्रीभाईजीके महिमाकी कुछ और गम्भीर बातें १२३

१८. सर्वसमर्थ श्रीभाईजी १२९

१९. मत्सुखकी होली जला दें १३४

२०. देहाध्यासकी निवृत्ति तथा
अ० सौ० बाई सावित्री एवं श्रीकृष्णकी एकरूपता १४३

२१. शक्ति–साधना–सम्बन्धी प्रश्न एवं उनके पू. श्रीराधाबाबा द्वारा उत्तर १४८

नीलतरुकी छाँह तले —

२२. पूज्य श्रीभाईजीद्वारा श्रीगोस्वामीजीको प्रेषित किये गये पत्रोंका संकलन —
पत्र–संख्या १ १७४
पत्र–संख्या २ १७५
पत्र–संख्या ३ १७९
पत्र–संख्या ४ १८१

विषय	पृष्ठ-संख्या
पत्र–संख्या ५	१८६
पत्र–संख्या ६	१८७
पत्र–संख्या ७	१९०
पत्र–संख्या ८	१९२
पत्र–संख्या ९	१९४
पत्र–संख्या १०	१९५

समर्पित जीवनकी लोकयात्रा —

२३. जय भक्त–शिरोमणि चिम्मनलाल (श्रीमुकुन्दजी गोस्वामी)	१९९
२४. भरत सरिस को राम सनेही (श्रीमती राधा भालोटियाजी)	२४५
२५. श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी (श्रीभगवतीप्रसाद सिंहजी)	३०२
२६. समर्पणमूर्ति श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी (श्रीराधेश्यामजी बंका)	३०७
२७. विलक्षण विभूति श्रीगोस्वामीजी (श्रीमती उषा गोस्वामीजी)	३४०
२८. गोस्वामीसे गोस्वामीतक की यात्रा	३४९
२९. निष्ठाके प्रतीक (श्रीमती अचलनन्दिनीजी श्रीवास्तव)	३५२

विषय **पृष्ठ-संख्या**

३०. आध्यात्मिक साहित्य–सम्पादनकी यशस्वी परम्पराओंके संवाहक श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी

(श्रीभानुस्वरूपजी गोस्वामी, सम्पादक — तैलंग कुलम्) ३५४

३१. श्रीरामचरितमानसके प्रकाशनमें गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजी आदिका योगदान

(श्रीहेमन्त शेष, प्रख्यात साहित्यकार, पूर्व आईएएस अधिकारी) ३५९

३२. करुणा के रससागर (श्रीप्रदीप तैलंगजी) ३६३

३३. श्रद्धा सुमन : एक भावाभिव्यक्ति (श्रीमती चित्रा तैलंगजी) ३६४

शिवोदधि —

३४. 'श्रीराधा–माधव–चिन्तन' में प्रकाशित निवेदन ३६७

३५. 'पदरत्नाकर' में प्रकाशित निवेदन ३७६

३६. 'परमार्थका सरगम' में प्रकाशित निवेदन ३७७

३७. पूज्य श्रीबाबाद्वारा चुने हुए पदरत्नाकरके पदोंका अंग्रेजी अनुवाद ३८३

38. The Nectarean Bliss of Śrī Rādhā Mādhav 395

39. Preface of 'A Broken Vina : A Wailing Note' 440

40. Who was Śrī Rādhā 442

41. Love of God 451

विषय	पृष्ठ-संख्या
42. The Philosophy of Love	459
43. Thy Laughter	462
44. My Darling	465
45. Devotee	467
46. Practices leading to Devotion	475
47. Perception of God	479
48. You must find Time	485

बिखरे मोती —

४९. पूज्य श्रीगोस्वामीजीसे सम्बन्धित विभिन्न लघु संस्मरण	४८९

* * *

सम्पादकका निवेदन	५०१
सहायक ग्रन्थों / पुस्तकोंकी सूची	५०५
समर्पण	५०८

मेरे धन–जन–जीवन तुम ही, तुम ही तन–मन, तुम सब धर्म।
तुम ही मेरे सकल सुख सदन, प्रिय निज जन, प्राणोंके मर्म॥
तुम्हीं एक, बस, आवश्यकता; तुम ही एकमात्र हो पूर्ति।
तुम्हीं एक सब काल, सभी विधि, हो उपास्य शुचि सुन्दर मूर्ति॥
तुम ही काम–धाम सब मेरे, एकमात्र तुम लक्ष्य महान।
आठों पहर बसे रहते तुम मम मन–मन्दिरमें भगवान॥

●

श्रीराधामाधव चरन बंदौं बारंबार

॥ श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः ॥

महाभाव–रसराज–वन्दना

दोउ चकोर, दोउ चंद्रमा, दोउ अलि, पंकज दोउ।
दोउ चातक, दोउ मेघ प्रिय, दोउ मछरी, जल दोउ॥
आस्रय–आलंबन दोउ, बिषयालंबन दोउ।
प्रेमी–प्रेमास्पद दोउ, तत्सुख–सुखिया दोउ॥
लीला–आस्वादन–निरत, महाभाव–रसराज।
बितरत रस दोउ दुहुन कौं, रचि बिचित्र सुठि साज॥
सहित बिरोधी धर्म–गुन जुगपत नित्य अनंत।
बचनातीत अचिन्त्य अति, सुषमामय श्रीमंत॥
श्रीराधा–माधव–चरन बंदौं बारंबार।
एक तत्व दो तनु धरें, नित–रस–पाराबार॥

●

॥ श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः ॥

श्रीराधामाधव स्तवन

(परम पूज्य श्रीराधाबाबा द्वारा उद्धृत श्लोक)

श्रीकृष्ण

व्रजेन्द्रनन्दनो देवो निकुञ्जवनभूपतिः ।
नित्यो राधापदाम्भोजमधुपो वेणुवादकः ॥
नवनीरदवर्णाङ्गः पीताम्बरविभूषितः ।
कचलसन्मुखपद्मः पद्ममन्मथमोहनः ॥

श्रीराधा

व्रजवनलीलापाली महाभावकलेवरा ।
राधिका कीर्तिदापुत्री मञ्जुश्यामासहोदरा ॥
रासेश्वरेश्वरी राधा रासमण्डलमण्डना ।
गोकुलेन्द्रसुतप्राणा गोपपत्तनभूषणा ॥

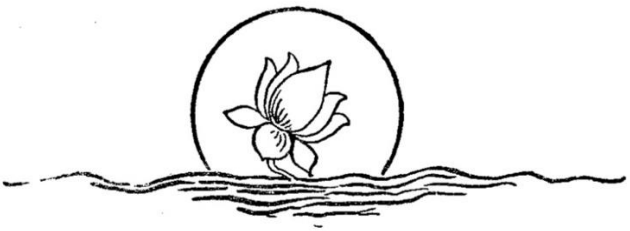

॥ श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः ॥

महापुरुषोंका स्वरूप और महात्म्य

(शास्त्रोंमें)

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च। निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः। मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः। हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः। सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति। शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥

सम शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः। शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मोनी संतुष्टो येन केनचित्। अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥

(गीता १२। १३—१९)

भगवान् कहते हैं—

'जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेष-भावसे रहित, स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहंकारसे शून्य, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है; तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है—वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है। जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता, तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है—वह भक्त मुझको प्रिय

है। जो पुरुष आकाङ्क्षासे रहित, बाहर-भीतरसे शुद्ध, चतुर, पक्षपातसे रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है—वह सब आरम्भोंका त्यागी मेरा भक्त मुझको प्रिय है। जो न कभी हर्षित होता है न द्वेष करता है, न शोक करता है न कामना करता है और जो शुभ तथा अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंका त्यागी है—वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है। जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सर्दी, गर्मी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और आसक्तिसे रहित है, जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला, मननशील और जिस-किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही संतुष्ट है और रहनेके स्थानमें ममता और आसक्तिसे रहित है—वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है।'

❁ ❁ ❁

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्।अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः॥

मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम्। मत्कृते त्यक्तकर्माणास्त्यक्तस्वजनबान्धवाः ॥

मदाश्रयाः कथा मृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च। तपन्ति विविधास्तापा नैतान्मद्गतचेतसः ॥

त एते साधवः साध्वि सर्वसङ्गविवर्जिताः। सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहरा हि ते॥

(श्रीमद्भागवत ३। २५। २१—२४)

भगवान् कपिलदेव माता देवहूतिसे कहते हैं—

'माता ! जो सुख-दुःखमें सहनशील, करुणापूर्ण-हृदय, सबका अकारण हित करनेवाले, किसीके प्रति कभी भी शत्रुभाव न रखनेवाले, शान्तस्वभाव, साधुओंका सम्मान करनेवाले हैं, मुझमें अनन्यभावसे सुदृढ़ भक्ति करते हैं, मेरे लिये समस्त कर्म तथा स्वजन-बन्धुओंको भी त्याग चुके हैं, मेरे परायण होकर मेरी पवित्र कथाओंको

सुनते, कहते और मुझमें ही चित्त लगाये रहते हैं, उन भक्तोंको संसारके विविध प्रकारके ताप कोई कष्ट नहीं पहुँचाते। साध्वि ! ऐसे सर्वसङ्ग-परित्यागी महापुरुष ही संत होते हैं, तुम्हें उन्हींके सङ्गकी इच्छा करनी चाहिये; क्योंकि वे आसक्तिसे उत्पन्न सभी दोषोंको हरनेवाले होते हैं।'

गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान् यो न द्वेष्टि न हृष्यति। विष्णोर्मायामिदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः॥

देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः।

संसारधर्मैरविमुह्यमानः स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः॥

न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः। वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः॥

न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः। सज्जतेऽस्मिन्नहम्भावो देहे वै स हरेः प्रियः॥

न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा। सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः॥

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।

न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥

भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिशाखानखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे।

हृदि कथमुपसीदतां पुनः स प्रभवति चन्द्र इवोदितेऽर्कतापः॥

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।

प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥

(श्रीमद्भागवत ११। २। ४८—५५)

योगीश्वर हरिजी राजा निमिसे कहते हैं—

'राजन ! जो श्रोत्र–नेत्र आदि इन्द्रियोंके द्वारा शब्द–रूप आदि विषयोंका ग्रहण तो करता है, परंतु अपनी इच्छासे प्रतिकूल विषयोंसे द्वेष नहीं करता और अनुकूल विषयोंके मिलनेपर हर्षित नहीं होता—उसकी यह दृष्टि बनी रहती है कि यह सब हमारे भगवान्‌की माया—लीला है, वह उत्तम भागवत है। संसारके धर्म हैं—जन्म–मृत्यु, भूख–प्यास, श्रम–कष्ट और भय–तृष्णा। ये क्रमशः शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धिको प्राप्त होते ही रहते हैं। जो पुरुष भगवान्‌की स्मृतिमें इतना तन्मय रहता है कि इनके बार–बार होते–जाते रहनेपर भी उनसे मोहित नहीं होता, पराभूत नहीं होता, वह उत्तम भागवत है। जिसके मनमें विषयभोगकी इच्छा, कर्मप्रवृत्ति और उनके बीज—वासनाओंका उदय नहीं होता और जो एकमात्र भगवान् वासुदेवमें ही निवास करता है, वह उत्तम भगवद्भक्त है। जिसका इस शरीरमें न तो सत्कुलमें जन्म, तपस्या आदि कर्मसे तथा न वर्ण, आश्रम एवं जातिसे ही अहंभाव होता है, वह निश्चय ही भगवान्‌का प्यारा है। जो धन–सम्पत्तिमें अथवा शरीर आदिमें 'यह अपना है और यह पराया'—इस प्रकारका भेदभाव नहीं रखता, समस्त प्राणि–पदार्थोंमें समस्वरूप परमात्माको देखता हुआ समभाव रखता है तथा प्रत्येक स्थितिमें शान्त रहता है, वह भगवान्‌का उत्तम भक्त है। बड़े–बड़े देवता और ऋषि–मुनि भी अपने अन्तःकरणको भगवन्मय बनाते हुए जिन्हें ढूँढ़ते रहते हैं—भगवान्‌के ऐसे चरणकमलोंसे आधे क्षण, अथवा पलक पड़नेके आधे समयके लिये भी जो नहीं हटता, निरन्तर उन चरणोंकी सेवामें ही लगा रहता है—यहाँतक कि कोई स्वयं उसे त्रिभुवनकी राज्यलक्ष्मी दे तो भी वह भगवत्स्मृतिका तार जरा भी नहीं तोड़ता, उस राज्यलक्ष्मीकी ओर ध्यान ही नहीं देता, वही पुरुष वास्तवमें भगवद्भक्त—वैष्णवोंमें अग्रगण्य है, सर्वश्रेष्ठ है। रासलीलाके अवसरपर नृत्य–गतिसे भाँति–भाँतिके पद–विन्यास करनेवाले निखिल–सौन्दर्य–माधुर्य–निधि भगवान्‌के श्रीचरणोंके अङ्गुलि–नखरूप मणियोंकी चन्द्रिकासे

जिन शरणागत भक्तजनोंके हृदयका विरहजनित संताप एक बार दूर हो चुका है, उनके हृदयमें वह फिर कैसे आ सकता है; जैसे चन्द्रमाके उदय होनेपर सूर्यका ताप नहीं लग सकता। विवशतासे नामोच्चारण करनेपर भी सम्पूर्ण अघराशिको नष्ट कर देनेवाले स्वयं भगवान् श्रीहरि जिसके हृदयको क्षणभरके लिये भी नहीं छोड़ते हैं; क्योंकि उसने प्रेमकी रस्सीसे उनके चरण कमलोंको हृदयमें बाँध रखा है, वास्तवमें ऐसा ही पुरुष भगवान्‌के भक्तोंमें प्रधान होता है।'

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम्।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा॥
निमज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥
अन्नं हि प्राणिनां प्राण आर्तानां शरणं त्वहम्।
धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग् बिभ्यतोऽरणम्॥
सन्तो दिशन्ति चक्षूँषि बहिरर्कः समुत्थितः।
देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च॥

(श्रीमद्भागवत ११। २६। ३१—३४)

भगवान् श्रीउद्धवजीसे कहते हैं—

'उद्धव ! जिसने उन संत पुरुषोंकी शरण ग्रहण कर ली, उसकी कर्मजडता, संसारभय और अज्ञान आदि सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं। भला, जिसने अग्निभगवान्‌का

आश्रय ले लिया, उसे क्या कभी शीत, भय अथवा अन्धकारका दुःख हो सकता है ? जो इस संसार–सागरमें डूब–उतरा रहे हैं, उनके लिये ब्रह्मवेत्ता और शान्त–स्वभाव संत एकमात्र आश्रय हैं—वैसे ही, जैसे जलमें डूबते हुए लोगोंके लिये दृढ़ नौका। जैसे अन्नसे प्राणियोंके प्राणकी रक्षा होती है, जैसे मैं आर्त प्राणियोंका एकमात्र आश्रय हूँ, जैसे मनुष्यके लिये परलोकमें धर्म ही एकमात्र पूँजी है—वैसे ही संसारसे भयभीत लोगोंके लिये संत–जन ही परम आश्रय हैं। जैसे सूर्य आकाशमें उदय होकर लोगोंको जगत् तथा अपनेको देखनेके लिये नेत्रदान करता है, वैसे ही संत पुरुष अपनेको तथा भगवान्‌को देखनेके लिये अन्तर्दृष्टि देते हैं। संत अनुग्रहशील देवता हैं। संत अपने हितैषी सुहृद हैं, संत अपने प्रियतम आत्मा हैं, अधिक क्या, संतके रूपमें स्वयं मैं ही प्रकट हूँ।'

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिंचनः।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः॥

(श्रीमद्भागवत ११। ११। २९—३१)

'उद्धव ! मेरा भक्त कृपाकी मूर्ति होता है, वह किसी भी प्राणीसे वैर नहीं करता, वह सब प्रकारके सुख–दुःखोंको प्रसन्नतापूर्वक सहन करता है, सत्यको जीवनका सार समझता है, उसके मनमें किसी प्रकारकी पापवासना कभी नहीं आती। वह समदर्शी

और सबका भला करनेवाला होता है। उसकी बुद्धि कामनाओंसे कलुषित नहीं होती। वह इन्द्रियविजयी, कोमलस्वभाव और पवित्र होता है; उसके पास अपनी कोई भी वस्तु नहीं होती। किसी भी वस्तुके लिये वह कभी चेष्टा नहीं करता, परिमित भोजन करता है, सदा शान्त रहता है। उसकी बुद्धि स्थिर होती है, वह केवल मेरे ही आश्रय रहता है, निरन्तर मननशील रहता है। वह कभी प्रमाद नहीं करता, गम्भीर-स्वभाव और धैर्यवान् होता है। भूख-प्यास, शोक-मोह और जन्म-मृत्यु—इन छहोंपर विजय प्राप्त किये रहता है। वह स्वयं कभी किसीसे किबी प्रकारका मान नहीं चाहता और दूसरोंको सम्मान देता रहता है। भगवत्सम्बन्धी बातें समझनेमें बड़ा निपुण होता है और सभीके साथ मित्रताका बर्ताव करता है। उसके हृदयमें करुणा भरी रहती है और भगवत्तत्वका उसे यथार्थ ज्ञान होता है।'

उपकृतिकुशला जगत्स्वजस्रं परकुशलानि निजानि मन्यमानाः।
अपि परपरिभावने दयार्द्राः शिवमनसः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः॥
दृषदि परधने च लोष्टखण्डे परवनितासु च कूटशाल्मलीषु।
सखिरिपुसहजेषु बन्धुवर्गे सममतयः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः॥
गुणगणसुमुखाः परस्य मर्मच्छदनपराः परिणामसौख्यदा हि।
भगवति सततं प्रदत्तचित्ताः प्रियवचनाः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः॥
स्फुटमधुरपदं हि कंसहन्तुः कलुषमुषं शुभनाम चामनन्तः।

जय–जय–परिघोषणां रटन्तः किमुविभवाः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः ॥

हरिचरणसरोजयुग्मचित्ता जडिमधियः सुखदुःखसाम्यरूपाः ।

अपचितिचतुरा हरौ निजात्मनतवचसः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः ॥

विगलितमदमानशुद्धचित्ताः प्रसभविनश्यदहंकृतिप्रशान्ताः ।

नरहरिममरापगबन्धुमिष्ट्वा क्षपितशुचः खलु वैष्णवाः जयन्ति ॥

(स्क० वै० पु० मा० १० । ११०—११४, ११७)

'समस्त विश्वका उपकार करनेमें ही जो निरन्तर कुशलताका परिचय देते हैं, दूसरोंकी भलाईको अपनी ही भलाई मानते हैं, शत्रुका भी पराभव होता देखकर उनके प्रति दयासे द्रवीभूत हो जाते हैं तथा जिनके चित्तमें सबका कल्याण बसा रहता है, वे ही वैष्णवके नामसे प्रसिद्ध हैं। जिनकी पत्थर, परधन और मिट्टीके ढेलेमें, परायी स्त्री और कूटशाल्मली नामक नरकमें, मित्र, शत्रु, भाई तथा बन्धुवर्गमें समान बुद्धि है, वे ही निश्चितरूपसे वैष्णवके नामसे प्रसिद्ध हैं। जो दूसरोंकी गुणराशिसे प्रसन्न होते और पराये दोषको ढकनेका प्रयत्न करते हैं, परिणाममें सबको सुख देते हैं, भगवान्‌में सदा मन लगाये रहते तथा प्रिय वचन बोलते हैं, वे ही वैष्णवके नामसे प्रसिद्ध हैं। जो कंसहन्ता भगवान् श्रीकृष्णके पाप–हारी शुभ नामसम्बन्धी मधुर पदोंका जाप करते और जय–जयकी घोषणाके साथ भगवन्नामोंका कीर्तन करते हैं, वे अकिंचन महात्मा वैष्णवके रूपमें प्रसिद्ध हैं। जिनका चित्त श्रीहरिके चरणारविन्दोंमें निरन्तर लगा रहता है, जो प्रेमाधिक्यके कारण जडबुद्धि–सदृश बने रहते हैं, सुख और दुःख दोनों ही जिनके लिये समान हैं, जो भगवान्‌की पूजामें दक्ष हैं तथा अपने मन और विनययुक्त वाणीको भगवान्‌की सेवामें समर्पित कर चुके हैं, वे ही वैष्णवके नामसे प्रसिद्ध हैं।'''मद और अभिमानके गल जानेके कारण जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है,

अहंकारके समूल नाशसे जो परम शान्त—क्षोभरहित हो गये हैं तथा देवताओंके विश्वसनीय बन्धु भगवान् श्रीनृसिंहजीकी आराधना करके जो शोकरहित हो गये हैं, ऐसे वैष्णव निश्चय ही उच्च पदको प्राप्त होते हैं।'

सुजन समाज सकल गुन खानी। करउँ प्रनाम सप्रेम सुबानी॥

साधु चरित सुभ चरित कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू॥

जो सहि दुख परछिद्र दुरावा। बंदनीय जेहिं जग जसु पावा॥

मुद मंगलमय संत समाजु। जो जग जंगम तीरथराजु॥

× × ×

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई॥

सो जानब सत्संग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ॥

बिनु सत्संग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥

सतसंगत मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥

बिधि हरि हर कबि कोबिद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी॥

बंदउँ संत समान चित हित अनहित नहिं कोइ।

अंजलि गत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोइ॥

× × ×

निज गुन श्रवण सुनत सकुचाहीं। पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं॥

सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती॥
जप तप ब्रत दम संजम नेमा। गुरु गोबिंद बिप्र पद प्रेमा॥
श्रद्धा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया॥
बिरति बिबेक बिनय बिग्याना। बोध जथारथ बेद पुराना॥
दंभ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतुरहित परहित रत सीला॥

× × ×

बिषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी॥
कोमलचित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया॥
सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥
बिगत काम मम नाम परायन। सांति बिरति बिनती मुदितायन॥
सीतलता सरलता मयत्री। द्विज पद प्रीति धर्म जनयत्री॥
ए सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥

निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुन मंदिर सुख पुँज॥

संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह परि कहै न जाना॥

निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥

(रामचरितमानस)

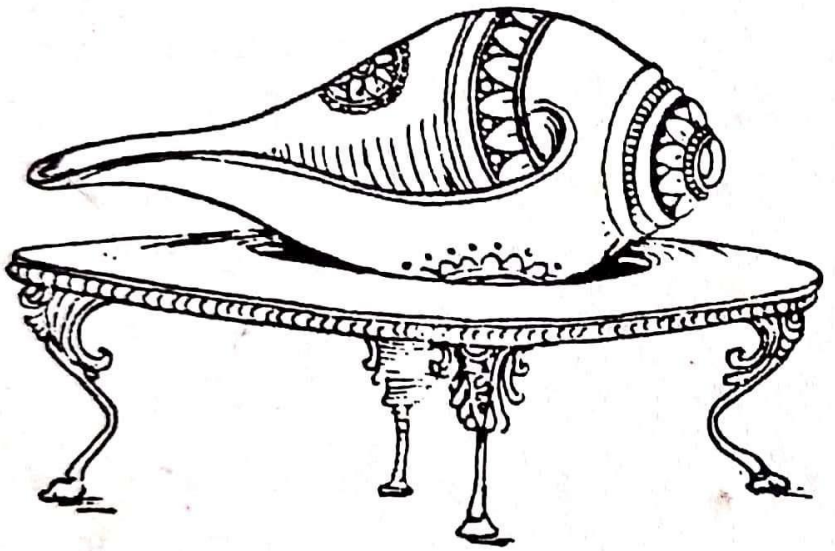

भक्त–चरितकी उपादेयता

(श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्यजी महाराज)

भक्त–चरितके अनुशीलनसे प्राणियोंके मनोमन्दिरमें भगवद्भक्तिकी भावना विकसित होती है। यह भक्त–चरितानुशीलनरूप साधन जितना सुगम, सरल और सुन्दर है, उतना ही महत्वशाली भी है। भगवान् भी भक्त और उनके चरितकी पद–पदपर प्रशंसा करते हैं—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः।

न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १५)

'उद्धव ! मुझको ब्रह्मा, शंकर एवं संकर्षण (श्रीबलरामजी) तथा लक्ष्मी—ये इतने प्रिय नहीं लगते, जितने आप और आप–जैसे भक्त लगते हैं; कारण मेरे भक्त मुझको अपनी आत्मासे भी बढ़कर प्रिय हैं।' क्योंकि —

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।

विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। २४)

'मेरा प्रेमी भक्त कभी रोता है, कभी हँसता है, कभी लज्जा छोड़कर गाता और नृत्य करने लगता है। उसकी वाणी गद्गद और चित्त द्रवित हो जाता है। वह अपनी इन विचित्र चेष्टाओंसे समस्त लोकोंको पवित्र करता रहता है।'

चाहे साधारणजन भक्त और उसकी चेष्टाओंके महत्वको न जान पायें, परंतु भक्तकी प्रत्येक चेष्टामें विश्वहित निहित रहता है। भक्तजन समस्त भुवनको किस प्रकार पवित्र करते रहते हैं, वह प्रकार भी भगवान्ने स्वयं भी बतला दिया है—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १६)

'निरपेक्ष, शान्तचित्त, किसी भी प्राणीसे वैर न रखनेवाला एवं प्रत्येक प्राणीमें समानरूपसे मुझको व्याप्त देखनेवाला, मननशील मेरा अनन्य भक्त जहाँ-जहाँ जाता है, सदा-सर्वदा मैं उसके पीछे-पीछे चलता हूँ। किसलिये? उसकी चरण रजसे पवित्र करनेके लिये।' कोई पूछे—'किसको पवित्र करनेके लिये?' तो भगवान् कहते हैं—'मेरे अंदर अनन्त ब्रह्माण्ड हैं, उनमें अनन्त प्राणी रहते हैं, उन सबको मैं अपने भक्तोंकी चरण-रजसे पवित्र करता रहता हूँ।'

उक्त १५वें तथा १६वें श्लोका पद्यानुवाद कृष्णगढ़नरेश महाराजा राजसिंहजीकी रानी तथा भक्तवर नागरीदासजीकी विमाताने इस रूपमें प्रस्तुत किया है—

सिव लछमी बिधि आत्म मो, हलधर धर बड़ सक्त।
ये ऐसे प्रिय नाहिं मुँहि, जैसे प्रिय मो भक्त॥
कछु न चाह जिन भक्त कै, अधिक सुबोलत नाहिं।
समदिष्टी हैं किहूँ से बैर नहीं मन माहिं॥
तिन के पीछे मैं चलौं, पद-रज राखौं सीस।
दरसन करि तन तृप्त हूँ, कबहूँ, बिस्वा बीस॥
कोटि-कोटि ब्रह्मांड हैं मेरे उदरहि मध्य।
भक्त-चरन-रज सौं करौं तिन्हैं पवित्र प्रसिध्य॥

भगवान् सर्वाधार, सर्वनियन्ता, सर्वेश्वर होते हुए भी यह प्रकट करते हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

(श्रीमद्भा० ९।४।६३)

अर्थात् 'सर्वस्वतन्त्र होकर भी मैं उन भक्तोंके तो अधीन ही हूँ, जिन साधु भक्तोंने मेरे चित्तको वशमें कर रखा है; इसीलिये वे मुझको प्रिय लगते हैं।' भगवान्‌को भक्त किस प्रकार वशमें कर लेता है, इस रहस्यको भी भगवान् प्रकट कर देते हैं—

मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शिनः।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥

(श्रीमद्भा० ९।४।६६)

'समदर्शी भक्त पहले अपना चित्त मुझमें लगा देते हैं, फिर उसीके द्वारा मेरे चित्तको उसी प्रकार आकर्षित कर लेते हैं—जैसे पतिव्रता स्त्री अपना तन-मन-धन—सर्वस्व पतिदेवके अर्पण करके उसके चित्तको अपने वशमें कर लेती है।' फिर तो—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

(श्रीमद्भा० ९।४।६८)

'जब साधुहृदय भक्त अपना हृदय मुझको दे देते हैं, तब मुझे भी अपना हृदय उनको देना अनिवार्य हो जाता है; इस लेन-देनसे भक्त और मुझमें ऐसी घनिष्ठता हो जाती है कि फिर मुझसे अतिरिक्त उनको कुछ दिखायी ही नहीं पड़ता और उनके अतिरिक्त फिर मुझको कुछ नहीं सुहाता।' बस, इसी कारणसे भगवान्‌को भक्तोंके इच्छानुसार आविर्भाव-अन्तर्भाव करना पड़ता है और इसी प्रकार अनेकों अवतार धारण करने पड़ते हैं। इसी आशयको आद्याचार्य श्रीनिम्बार्कभगवान्‌ने—**'भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहाद्।' (वेदान्तकामधेनुः)**

—इस वाक्यमें प्रकट किया है। अर्थात्—

भक्तवत्सल भगवान् भक्तके इच्छानुसार विग्रह धारण करके उनका उसी प्रकार संरक्षण करते हैं, जैसे अबोध शिशुकी प्रसन्नताके लिये माताको उसके हठ आदिकी रक्षा करनी पड़ती है।

इसीलिये गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी आदि भक्त कवियोंकी—

'राम ते अधिक राम कर दासा॥'

—इत्यादि सूक्तियाँ भी संगत ही हैं।

श्रीनारायणदास (नाभा)-जीने तो भक्त-चरितके अनुशीलनका स्पष्ट ही फल प्रकट किया है—

भक्ति भक्त भगवंत गुरु चतुर नाम बपु एक।
इन के पद बंदन किएँ नासत बिघ्न अनेक॥

भक्ति (साधन), भक्त (साधक), भगवंत (साध्य), गुरुदेव (साधयिता)—इन चारोंमें नामादिका भेद अवश्य है; किंतु ये इतने संनिकट हैं कि इनके कलेवरमें

विभेद प्रतीत नहीं होता। फलप्रदातामें भी चारों समान हैं अर्थात् मुक्तिरूप फल देनेमें चारों ही वरदहस्त हैं।

अतएव जो सुख–शान्ति भगवच्चरित्रके अनुशीलनसे मिलती है, वही सुख–शान्ति भक्तोंके चरित्रोंका अनुशीलन करनेसे प्राप्त होती है।

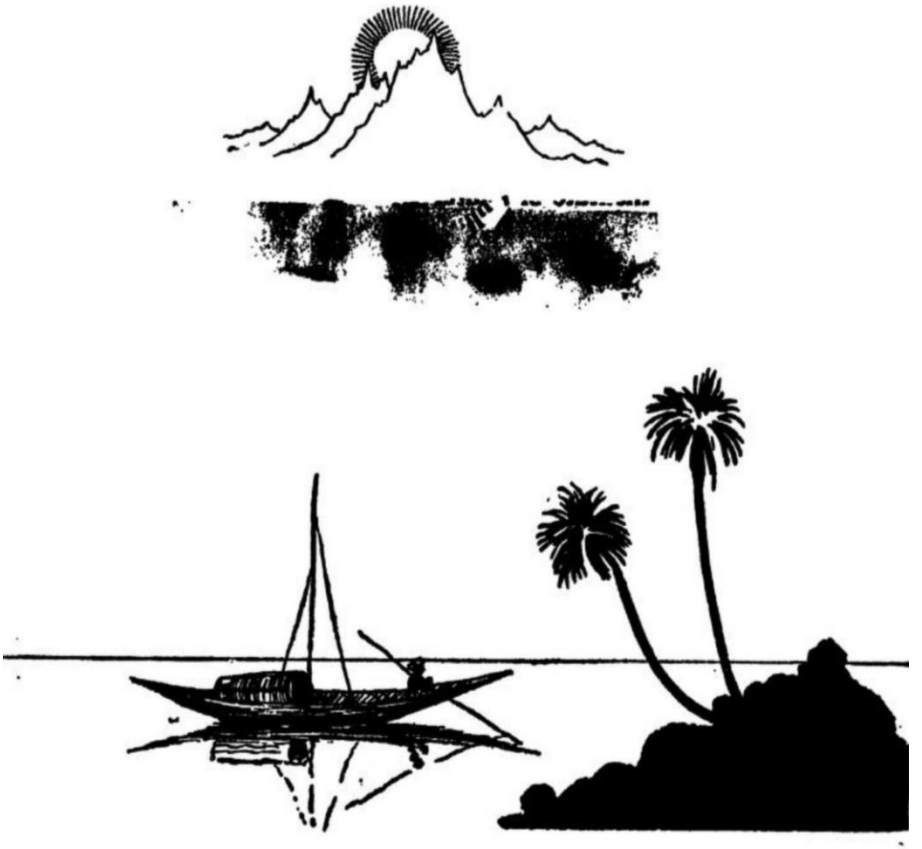

भगवद्भक्तोंकी महिमा

(परम श्रद्धेय सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

भगवान्‌के भक्त भगवत्स्वरूप ही होते हैं। उनकी मन–बुद्धि लीलामय भगवान्‌में ओत–प्रोत रहती है और मन एवं बुद्धिद्वारा ही इन्द्रियादिका व्यापार परिचालित होता है। इसलिये भक्तोंके कार्य–कलाप और विचार–व्यापारको भी भगवान्‌की ही लीलाके तुल्य समझना चाहिये। जैसे भगवान्‌के धाम, लीला–क्षेत्र आदि तीर्थस्थल हैं, उसी प्रकार भक्तोंके निवास–स्थान और कर्मक्षेत्र भी तीर्थ ही बन जाते हैं।

भगवान् प्रेमके कारण भक्तोंके पीछे–पीछे घूमा करते हैं। उनके सुख–दुःखमें अपना सुख–दुःख मानते हैं। उनके लिये अपनी आन–बान और स्वयं श्रीलक्ष्मीजीतककी चिन्ता नहीं करते। भक्तोंकी मान–मर्यादा और सुख–दुःखको अपना समझनेका तो उन्होंने मानो अटल व्रत ही ले रखा है—

हम भगतन के भगत हमारे।

सुन अरजुन! परतिग्या मेरी, यह ब्रत टरत न टारे॥

ऐसे महामहिम, भाग्यवान् और भगवत्स्वरूप भक्तोंके स्मरण–ध्यानमात्रसे ही पाप–राशि भस्म हो जाय, मुक्ति दासीकी तरह पीछे–पीछे घूमे और प्रभुके चरणोंमें अचल मति, रति और गति प्राप्त हो जाय तो कौन–सा आश्चर्य है। भगवान्‌की तरह महापुरुषोंके ध्यानसे भी कल्याण हो सकता है। उनके स्वरूपका ध्यान करनेसे उनके भाव, गुण और चरित्र हृदयमें आ जाते हैं, उनका स्वरूप चित्तमें अङ्कित हो जाता है और जैसे प्रकाशके आते ही अन्धकार मिट जाता है, वैसे ही भक्तोंके चरित्र–गुणादिकी स्मृति अन्तःकरणमें आते ही समस्त कलुषको नष्ट कर देती है।

भगवान्‌के भक्तोंकी महिमा अनन्त और अपार है। श्रुति–स्मृति–इतिहास–पुराण आदिमें जगह–जगह उनकी महिमा गायी गई है ; किंतु उसका किसीने पार नहीं पाया। वास्तवमें भक्तोंकी तथा उनके गुण, प्रभाव और सङ्गकी महिमा कोई

वाणीके द्वारा गा ही नहीं सकता। शास्त्रोंमें जो कुछ कहा गया है अथवा वाणीके द्वारा जो कुछ कहा जाता है, उससे भी उनकी महिमा अत्यन्त बढ़कर है।

गङ्गा–यमुना आदि तीर्थ तो स्नान–पान आदिसे पवित्र करते हैं, किंतु भगवान्‌के भक्तोंका तो दर्शन और स्मरण करनेसे भी मनुष्य तुरंत पवित्र हो जाता है ; फिर भाषण और स्पर्शकी तो बात ही क्या है। तीर्थोंमें तो लोगोंको जाना पड़ता है और वहाँ जाकर लोग स्नानादिसे पवित्र होते हैं ; किंतु महात्माजन तो श्रद्धा–भक्ति होनेसे स्वयं घरपर आकर पवित्र कर देते हैं। श्रद्धापूर्वक किया हुआ महापुरुषोंका सङ्ग भजन और ध्यानसे भी बढ़कर है।

जो मनुष्य महापुरुषोंके तत्वको समझकर उनका सङ्ग करता है, वह स्वयं दूसरोंको पवित्र करनेवाला बन जाता है।

सत्पुरुषोंका सङ्ग बड़े रहस्य और महत्वका विषय है। श्रद्धा और प्रेमपूर्वक सत्सङ्ग करनेवाला ही इसका कुछ महत्व जानते हैं। पूरा–पूरा रहस्य तो स्वयं भगवान् ही जानते हैं, जो कि भक्तोंके प्रेमके अधीन हुए उनके पीछे–पीछे फिरा करते हैं।

इसलिये कल्याण चाहनेवाले मुमुक्षु पुरुषोंको चाहिये कि महापुरुषोंके सङ्ग और उनकी सेवा करनेकी अथक चेष्टा करें। भगवत्प्राप्ति और उनके चरणोंमें अनपायिनी रति–लाभ करनेका सरस और सरल साधन केवल एक यही है।

प्रेमी भक्तका अलौकिक माहात्म्य

(परम पूज्य भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

येषां संस्मरणात् पुंसां सद्यः शुद्ध्यन्ति वै गृहाः।
किं पुनर्दर्शनस्पर्शपादशौचासनादिभिः॥

(श्रीमद्भा० १। १९। ३३)

'जिन भगवद्भक्तोंके स्मरणमात्रसे (स्मरण करनेवालोंके केवल मन ही नहीं) गृहस्थोंके घर तत्काल पवित्र हो जाते हैं ; फिर उनके दर्शन, स्पर्श, पाद-प्रक्षालन और आसन-दानादिका सौभाग्य मिल जाय, तब तो कहना ही क्या है।'

भक्तकी बड़ी महिमा है । भक्तका दर्शन, स्पर्श, चरणसेवन, उपदेश-श्रवण, आज्ञा-प्राप्ति और आज्ञापालन आदिका सुअवसर मिल जाय, तब तो कहना ही क्या है ; भक्तका स्मरण भी पाप-नाशक, पुण्योत्पादक और भगवत्प्रीतिदायक है। यहाँतक कि भक्तोंके द्वारा स्पर्श किये हुए भूमि, जल, गृह, चौकी, बर्तन, वस्त्र, आसन, माला, पादुका आदि जड पदार्थोंका सङ्ग भी परम पुण्य जनक और कल्याणकारक है। पृथ्वीमें आनेके लिये प्रार्थना करनेपर पापनाशिनी श्रीगङ्गाजीने भगीरथसे कहा था—'मैं इस कारण भी पृथ्वीपर नहीं जाऊँगी कि सब लोग आकर मुझमें अपने पाप धो डालेंगे, फिर मैं उन पापोंको कहाँ धोऊँगी ?' ऐसा ही प्रश्न श्रीजाह्नवीने स्वयं भगवान्‌से किया था, तब भगवान्‌ने उनसे स्पष्ट कहा था—

पापानि पापिनो यानि तुभ्यं दास्यन्ति स्नानतः।
मन्मन्त्रोपासकस्पर्शाद् भस्मीभूतानि तत्क्षणात्॥
पृथिव्यां यानि तीर्थानि पुण्यान्यपि च जाह्नवि।
मद्भक्तानां शरीरेषु सन्ति पूतेषु संततम्॥
मद्भक्तपादरजसा सद्यः पूता मत्प्राणाधिकाः प्रियाः।

तदुपस्पर्शमात्रेण पूतो वायुश्च पावकः ॥

(श्रीब्रह्मवैवर्त०, कृष्णजन्म०, अ० १२९)

'जाह्नवी ! पापीलोग तुम्हारे अन्दर स्नान करके जो पाप तुम्हें देंगे, वे सारे पाप मेरे मन्त्रकी उपासना करनेवाले भक्तोंके स्पर्श, स्नान और दर्शनसे उसी क्षण भस्म हो जायँगे । पृथ्वीमें जितने भी पवित्र तीर्थ हैं, मेरे भक्तोंके पुनीत शरीरमें वे निरन्तर निवास करते हैं । मेरे भक्तोंकी चरणधूलिका स्पर्श होते ही पृथ्वी तत्काल पवित्र हो जाती है और सारे तीर्थ तथा जगत् पवित्र हो जाते हैं । जो नित्य मेरा ही ध्यान करते हैं, वे मुझको प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं ; (औरोंकी तो बात ही क्या) वायु और अग्नि भी उनके स्पर्शमात्रसे पवित्र हो जाते हैं ।' धर्मराज युधिष्ठिर ने भक्तशिरोमणि श्रीविदुरजीसे कहा था—

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो ।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता ॥

(श्रीमद्भा० १ । १३ । १०)

'प्रभो ! आप–सरीखे भगवद्भक्त स्वयं तीर्थरूप हैं ; (पापियोंद्वारा कलुषित किये हुए) तीर्थोंको आपलोग अपने हृदयमें विराजित भगवान् श्रीगदाधरके प्रतापसे पुनः पवित्र तीर्थ बना देते हैं ।'

जैसे नदी समुद्रमें मिलकर समुद्र बन जाती है, उसी प्रकार भक्त भी अपना तन–मन–बुद्धि–अहंकार—सब कुछ प्रियतम भगवान्‌के समर्पण कर भगवान्‌के साथ तन्मय हो जाता है । ऐसा भक्त साक्षात् भगवत्स्वरूप ही होता है । वह जहाँ भी रहता है, वहाँका तमाम सूक्ष्म और स्थूल वातावरण शुद्ध हो जाता है । ऐसे ही भक्तोंके द्वारा भगवान्, भगवन्नाम, भगवद्भक्तिकी महिमा बढ़ती है ।

भक्त जिस पृथ्वीपर बैठते हैं, जिस जलाशय या नदीमें स्नान करते हैं, वही पवित्र तीर्थ बन जाता है। भक्त जो कुछ करते हैं, वही आदर्श 'सत्कर्म' माने जाते हैं, भक्त जो कुछ अपने अनुभवकी बातें बतलाते हैं, वे ही 'सत्–शास्त्र' होते हैं। तीर्थ, कर्म और शास्त्र अनेक हैं ; पर जिस तीर्थके साथ भक्तका संयोग होता है, वह 'सत्–तीर्थ'; जिस कर्मसे भक्तका संयोग होता है, वह 'सत्कर्म' और जिस शास्त्रमें भक्तकी वाणी होती है, वही 'सच्छास्त्र' बन जाता है—

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि।

(नारदभक्तिसूत्र ६९)

भक्तके मनसे जिस वस्तुका स्पर्श हो जाता है, वह भी पवित्र हो जाती है ; क्योंकि उसके मनमें निरन्तर भगवान्‌का निवास रहता है। जड वस्तुएँ भक्तका स्पर्श पाकर पतितोंको पावन करनेवाली बन जाती हैं। भक्तका संस्पर्श पाकर वातावरण पवित्र हो जाता है। नारदजीने भक्त और भगवान्‌में भेदका अभाव बतलाया है—

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात् भवति (नारदभक्तिसूत्र ४१)

भगवान्‌के भक्त भगवत्स्वरूप ही हैं। जो भक्तोंका सेवन करते हैं वे भगवान्‌का ही सेवन करते हैं। भक्त भगवान्‌के हृदयमें बसते हैं और भगवान् भक्तके हृदयमें। भगवान्‌ने कहा है—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६८)

'साधु मेरे हृदय हैं और मैं उनका हृदय हूँ। वे मेरे सिवा और किसीको नहीं जानते और मैं उन्हें छोड़कर और किसीको नहीं जानता।' भरत रामको भजते हैं और राम भरतको—

भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जप जेही॥

श्रीभगवान्‌ने प्रेमस्वरूपा गोपियोंके सम्बन्धमें कहा है—

मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम्।

जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः॥

(आदिपुराण)

'हे अर्जुन ! मेरा माहात्म्य, मेरी पूजा, मेरी श्रद्धा और मेरे मनकी बात तत्त्वसे केवल गोपियाँ ही जानती हैं ; और कोई नहीं जानता।'

ऐसे प्रेमी भक्तोंमें और भगवान्‌में क्या अन्तर है। भगवान्‌के वचन हैं—

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ (गीता ९। २९)

'जो प्रेमसे मुझको भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ।' ऐसे भक्त भगवत्प्रेममें इस प्रकार तल्लीन रहते हैं कि वे अपने बाह्यरूपको भूलकर साक्षात् भगवत्स्वरूपका अनुभव करने लगते हैं।

ऐसे प्रेमी भक्तोंका आविर्भाव देखकर पितरगण प्रमुदित होते हैं, देवता नाचने लगते हैं और यह पृथ्वी सनाथ हो जाती है—

मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति॥ (नारदभक्तिसूत्र ७१)

भक्तोंका आविर्भाव सभीके लिये शुभ होता है ; क्योंकि उनके सभी कर्म स्वाभाविक ही लोक–कल्याणकारी होते हैं। उनके प्रभावसे लोगोंमें धर्मके प्रति श्रद्धा बढ़ती है, पितृकार्य और देवकार्योंमें विश्वास उत्पन्न हो जाता है। इससे धर्मपथसे डिगे हुए लोग पुनः धर्ममार्गपर आरूढ़ होकर यज्ञ, दान, श्राद्ध, तर्पण आदि कर्म करने लगते हैं, जिससे देवता और पितरोंको बड़ा सुख मिलता है। भक्तके आगे–पीछेके कई कुल तर जाते हैं, इसलिये अपने कुलमें भक्तको उत्पन्न हुआ देखकर पितरगण अपनी मुक्तिकी दृढ़ आशासे हर्षोत्फुल्ल हो जाते हैं। पद्मपुराणमें कहा है—**'आस्फोटयन्ति पितरो नृत्यन्ति च पितामहाः। मद्वंशे वैष्णवो जातः स नस्त्राता भविष्यति॥'**

"पितृ–पितामहगण अपने वंशमें भगवद्भक्तका जन्म हुआ जानकर 'यह हमारा उद्धार कर देगा'—इस आशासे प्रसन्न होकर नाचने और ताल ठोकने लगते हैं।"

मचले हुए दर्शनाकाङ्क्षी भक्त किसी भी बातसे संतुष्ट नहीं होते ; अतः स्नेहमयी जननीकी भाँति उन्हें अपनी गोदमें खिलाकर सुखी करनेके लिये सच्चिदानन्दघन भगवान् दिव्यरूपमें साक्षात् प्रकट होते हैं। इस प्रकार भक्तके आविर्भावको ही भगवान्‌के प्राकट्यमें कारण समझकर देवतागण भी नाचने लगते हैं और भगवान्‌के प्राकट्यसे पृथ्वी भी सनाथा हो जाती है।

पद्मपुराणमें भक्तके दर्शनका महत्व बतलाते हुए कहा गया है—

सर्वे धन्यतमा ज्ञेया विष्णुभक्तिपरायणाः।
तेषां दर्शनमात्रेण महापापात् प्रमुच्यते॥
उपपातकानि सर्वाणि महान्ति पातकानि च।
तानि सर्वाणि नश्यन्ति वैष्णवानां च दर्शनात्॥

पावका इव दीप्यन्ते ये नरा वैष्णवा भुवि।
विमुक्ताः सर्वपापेभ्यो मेघेभ्य इव चन्द्रमाः॥
संसारकर्दमालेपप्रक्षालनविशारदः ।
पावनः पावनानां च विष्णुभक्तो न संशयः॥

(उत्तर० १३१। १७—१९, २३)

'जो विष्णुभक्तिपरायण—भक्त हैं, उन सबको धन्यतम जानना चाहिये। उनके दर्शनमात्रसे महान पापोंसे छुटकारा हो जाता है। जितने उपपातक और महापातक हैं, सब वैष्णव भक्तोंके दर्शनसे ही नष्ट हो जाते हैं। पृथ्वीमें वैष्णवगण अग्निकी भाँति देदीप्यमान हैं, वे मेघमुक्त चन्द्रमाकी भाँति समस्त पापोंसे मुक्त होते हैं।....भगवान्‌के भक्त वैष्णवगण संसाररूप कीचड़के लेपको धोनेमें बड़े निपुण हैं और पवित्रोंको भी पवित्र करनेवाले हैं—इसमें संदेह नहीं है।'

दर्शनस्पर्शनालापसहवासादिभिः क्षणात्।
भक्ताः पुनन्ति कृष्णस्य साक्षादपि च पुल्कसम॥

'भगवान् श्रीकृष्णके भक्तका क्षणमात्रका दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप और सङ्ग साक्षात् चण्डालको भी पवित्र कर देता है।'

ऐसे भक्तोंके आदर-सत्कार आदिका महत्व दिखलाते हुए भगवान् शंकरने पद्मपुराणमें कहा है—

एवमभ्यर्चयेद् विष्णुं यावज्जीवमतन्द्रितः। तदीयांश्च विशेषेण पूजयेत् सर्वथा शुभे॥
आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्। तस्मात्परतरं देवि तदीयानां समर्चनम्॥

अर्चयित्वापि गोविन्दं तदीयान्नार्चयेत्पुनः । सर्वं तरति दुःखौघं महाभागवतार्चनात् ॥

(उत्तर० २५३ । १७५—१७८)

'कल्याणि ! इस प्रकार जीवनभर सजग रहकर भगवान् विष्णुका और उनके भक्तोंका विशेषरूपसे पूजन करे । देवि ! आराधनाओंमें भगवान् विष्णुकी आराधना श्रेष्ठ है, और भगवान्‌की आराधनासे भी उनके भक्तोंकी आराधना श्रेष्ठतर है । जो मनुष्य श्रीगोविन्दकी पूजा करके भी उनके भक्तोंकी पूजा नहीं करता, उसे भक्त नहीं जानना चाहिये ; वह केवल दम्भ करता है—पूजाका ढोंग करता है । अतएव मनुष्यको प्रयत्नपूर्वक सदा वैष्णवोंका पूजन करना चाहिये । महाभागवतोंकी पूजासे मनुष्य समस्त दुःखोंसे तर जाता है ।'

स्वयं भगवान्‌ने तो यहाँतक कह दिया है—

ये मे भक्तजनाः पार्थ न मे भक्ताश्च ते जनाः । मद्भक्तानां च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः ॥

(आदिपुराण)

'अर्जुन ! जो लोग मेरे भक्त हैं, मात्र वे ही मेरे भक्त नहीं हैं ; मैं तो उन्हें श्रेष्ठतम भक्त मानता हूँ, जो मेरे भक्तोंके भक्त हैं ।'

भगवान् तो अपने भक्तोंके इतने प्रेमी हैं, उनपर इतने मुग्ध हैं कि स्वयं उनकी भक्ति, सेवन–चिन्तन–ध्यान करते हैं । भक्तोंका ऐसा कौन–सा काम है, जिसे करनेमें भगवान् कभी हिचकते हों । भक्तका छोटे–से–छोटा काम भी वे अपने हाथों करते हैं और उसमें उन्हें वैसा ही सुख मिलता है, जैसा राजराजेश्वरी जननीको अपने उदरजात शिशुकी नगण्य–से–नगण्य सेवा अपने हाथों करनेमें । सच्ची बात तो यह है कि भगवान्‌की सगुण–लीलामें प्रधान हेतु हैं ये भक्त ही । भक्तोंके लिये ही भगवान् प्रेमी हैं ; अन्यथा तो वे केवल सर्वातीत ब्रह्म, सर्वव्यापी परमात्मा या सर्वशक्तिमान्

सर्वलोकमहेश्वर ईश्वरमात्र हैं। भगवान्‌के प्रेमावतार और भगवान्‌की प्रेमभरी लीलाएँ भक्तोंके निमित्तसे ही होती हैं। भक्त ही भगवान्‌की भक्तवत्सलता, भृत्यवश्यता, भक्त-भक्तिमत्ता, प्रेमिकता आदि दिव्य भावोंको प्रकट कराते हैं। श्रीमद्भागवतमें मुनि शुकदेवजीने भगवान्‌को 'भक्तभक्तिमान्'—भक्तोंका भक्त बतलाया है—'एवं स्वभक्तयो राजन् भगवान् भक्तभक्तिमान्।'

भगवान्‌ने अपने भक्तोंकी महिमाका बखान करते हुए श्रीमद्भागवतमें अपनेको भक्तकी चरणरजकी इच्छासे सदा उसके पीछे-पीछे घूमनेवाला और 'भक्तके अधीन' बतलाया है—

अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूययेत्यङ्घ्रिरेणुभिः। (श्रीमद्भा० ११। १४। १७)

'उस भक्तके पीछे-पीछे मैं सदा-सर्वदा इसलिये घूमा करता हूँ कि उसकी चरण-धूलि उड़कर मुझपर पड़े और मैं पवित्र हो जाऊँ।'

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज। (श्रीमद्भा० ९। ४। ६३)

'ब्राह्मणदेवता! मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ। मुझमें तनिक भी स्वतन्त्रता नहीं है।'

भगवान् श्रीकृष्णको एकबार भक्तराज भीष्मपीतामहका ध्यान करते युधिष्ठिरने देखा था। यह भक्तकी महिमा है। भगवान् अपने भक्तके गौरवमें अपना गौरव मानते हैं, इसलिये स्वयं सदा भक्तका गौरव बढ़ाते रहते हैं—

तत्परो हि प्रियो नास्ति कृष्णस्य परमात्मनः।

भक्तप्राणो हि कृष्णश्च कृष्णप्राणा हि वैष्णवाः।

ध्यायन्ते वैष्णवाः कृष्णं कृष्णश्च वैष्णवांस्तथा॥

(नारदपाञ्चरात्र)

'परमात्मा श्रीकृष्णको भक्तोंसे प्यारा कोई ही नहीं है। भक्त श्रीकृष्णके प्राण हैं और वैष्णवोंके प्राण श्रीकृष्ण हैं। वैष्णवलोग श्रीकृष्णका ध्यान करते हैं और श्रीकृष्ण वैष्णवोंका ध्यान करते हैं।'

भगवत्सङ्गीके सङ्ग तथा चरणधूलि आदिका अद्भुत माहात्म्य है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

(श्रीमद्भा० १। १८। १३)

'भगवत्सङ्गीका सङ्ग यदि लवमात्रके समयके लिये मिलता हो, तो उसकी तुलना यहाँके भोगोंकी तो बात ही क्या, स्वर्गसे भी नहीं होती ; वरं अपुनर्भव—मोक्ष—सायुज्य मुक्तिसे भी नहीं होती।' 'भगवत्सङ्गीका' अर्थ है—भगवान्‌में अनुरक्त, आसक्त, भगवान्‌का सङ्गी, भगवान्‌का प्रेमी, गोपीभावापन्न।

रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद गृहाद्वा।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोभिषेकम्॥

(श्रीमद्भा० ५। १२। १२)

'रहूगण ! महापुरुषोंके चरणोंकी धूलिसे अपनेको नहलाये बिना केवल तप-यज्ञादि वैदिक कर्म, अन्नादिके दान, अतिथिसेवा, दीन-सेवा आदि गृहस्थोचित

धर्मानुष्ठान, वेदाध्ययन अथवा जल, अग्नि या सूर्यकी उपासना आदि किसी भी साधनसे यह परमात्म-ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।'

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रि स्पृश्यनर्थापगमो यदर्थः।

महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किंचनानां न वृणीत यावत्॥

(श्रीमद्भा० ७।५।३२)

'जिनकी बुद्धि भगवान्‌के चरण-कमलोंका स्पर्श कर लेती है, उनके जन्म-मृत्युरूप अनर्थका सर्वथा नाश हो जाता है। परंतु जो लोग अकिंचन भगवत्प्रेमी महात्माओंकी चरणोंके धूलमें स्नान नहीं कर लेते हैं, उनकी बुद्धि काम्यकर्मोंका पूरा सेवन करनेपर भी भगवच्चरणोंका स्पर्श नहीं कर सकती।'

भगवद्भक्तका दास होनेकी भावना

नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो नाहं वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा।

किंतु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्दपूर्णामृताब्धेर्गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः॥

(सार्वभौम वासुदेवभट्टाचार्य)

'न मैं ब्राह्मण हूँ न क्षत्रिय हूँ, न वैश्य हूँ और न शूद्र ही हूँ; मैं न ब्रह्मचारी हूँ न गृहस्थ हूँ, न वानप्रस्थ हूँ और न संन्यासी हूँ; किंतु सम्पूर्ण परमानन्दमय अमृतके उमड़ते हुए महासागररूप गोपीकान्त श्रीकृष्णके चरणकमलके दासका दासानुदास हूँ।'

संतके दृष्टिपथकी कामना

सकृत्त्वदाकारविलोकनाशया तृणीकृता नुत्तमभुक्तिमुक्तिभिः।

महात्मभिममिवलोक्यतां नय क्षणोऽपि ते यद्विरहोऽतिदुस्सहः ॥

(आलवन्दारस्तोत्र)

'जिन्होने आपके स्वरूपको एक बार देखनेकी इच्छासे उत्तमोत्तम भोग और मुक्तिको भी तृणके समान त्याग दिया है तथा जिनका क्षणभरका भी वियोग आपको अत्यन्त असह्य है, ऐसे संत–महात्माओंके दृष्टिपथमें मुझे डाल दीजिये।'

संतका निवास–स्थल

गामे वा यदि वारञ्ञे निन्ने वा यदि वा थले।

यत्थारहन्तो विहरन्ति तं भूमिं रमणेय्यकम्॥

(धम्मपद ७। ९)

'चाहे ग्राम हो चाहे वन हो, चाहे जलमय या सूखा स्थल हो, वह स्थान आनन्दमय है, जिसमें संत निवास करते हैं।'

संत मिलन

सो दिन लेखे जा दिन संत मिलाहिं।

संत के चरन–कमल की महिमा मोरे बूते बरनि न जाहिं॥

जल–तरंग जल ही तें उपजैं, फिर जल माहिं समाहिं।

हरि में साध, साध में हरि हैं, साध से अंतर नाहिं॥

ब्रह्मा बिसुन महेस साध सँग पाछे लागे जाहिं।

दास 'गुलाल' साध की संगति, नीच परम पद पाहिं॥

— संत गुलाल साहब

सच्चे संतका स्पर्श करें

(परम पूज्य श्रीराधाबाबा)

विश्वास करें—'हम चाहे मलिन-से-मलिन प्राणी ही क्यों न हों, केवल मैलेकी तरह हममें दुर्गन्ध ही क्यों न भरी हो, बाहर-भीतर, नीचे-ऊपर, केवल बदबू आ रही हो, पर 'संत' नामकी वस्तु इतनी पवित्र है, इतनी सरस है कि उसका स्पर्श होते ही हम बिल्कुल उसी ढाँचेमें ढल जायेंगे। आग क्या यह देखती है कि यह मैला है ? मैला आगमें पड़ा कि सारा-का-सारा अंगारा बन जायेगा। हम मिलें, उसमें मिलें ; अपनी सारी मलिनता, सारी दुर्गन्ध लेकर मिलें। दिन-रात उसके इशारेपर चलनेकी चेष्टा करें, दिन-रात सोचें—'संत कितने कृपालु हैं !' दिन-रात यह विचार करें—'कृपामय ! तुम्हारी कृपा ही मुझे भले अपना ले, मुझमें तो बल नहीं।' दिन-रात नाम लें, चलते-फिरते नाम लें। इससे बड़ी सहायता मिलेगी। दिन-रात यही इच्छा करें कि संतका सङ्ग नहीं छूटे। दिन-रात यही सोचें—संतके लिये परिवार, संतके लिये इज्जत यदि बाधक है तो संतके चरणोंमें इनको भी समर्पण कर देना है। इसका यह अर्थ नहीं कि संन्यासी बन जाना है। बाहर कपड़ा रँगकर भी क्या होगा ? परन्तु यह नितान्त सत्य है कि सर्वस्वकी आहुति देनेके लिये तैयारी मनसे ही करनी पड़ेगी। बाहरका ढाँचा ज्यों-का-त्यों रहकर मन बिल्कुल खाली हो जायेगा, तभी हमारी अभिलाषा पूर्ण होगी। यदि किसी संतकी दृष्टि—अमृतमयी दृष्टि, अमोघ दृष्टि पड़ चुकी है तो हमारे लिये परवाना काटा जा चुका ; परंतु हम यदि अपनी ओरसे देनेके लिये—जिसकी चीज है, उसकी ही चीज उसको लौटानेके लिये तैयार हो जायँ, अर्थात् अपनी ममता उठाकर सबपर उसका अधिकार मान लें, तो फिर शीघ्र-से-शीघ्र कृपा प्रकाशित हो जायेगी।

प्रसाद

श्रीगोपाङ्गनाओंकी महिमा

(परम पूज्य भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

[परम पूज्य श्रीराधाबाबाने अनेकों बार यह रहस्य सभीके सम्मुख उद्घाटित किया है कि पूज्य श्रीगोस्वामीजी 'श्रीश्यामला मञ्जरी' के स्वरूप थे। श्रीगोस्वामीजी जब भी पूज्य बाबाके सम्मुख आते थे, बाबाको उनके स्थानपर श्रीश्यामला मञ्जरीके ही दर्शन होते थे। श्रीगोस्वामीजीका शरीर शान्त होते ही वे तत्क्षण अपने दिव्य गोपीस्वरूपमें पूज्य बाबाके सम्मुख प्रकट हुए एवं बाबाको प्रणाम करनेके अनन्तर ही गोलोकधामको प्रयाण किया। अतएव श्रीगोपाङ्गनाओंकी महिमामें जो कुछ भी कहा जाता है अथवा कहा जा सकता है, वे सभी बातें पूज्य श्रीगोस्वामीजीपर भी पूर्णतया लागू हैं। — *सम्पादक*]

गोपीभावमें प्रधान बातें पाँच हैं—

१—श्रीभगवान्‌के स्वरूपका पूर्ण ज्ञान (यद्यपि वह प्रकट नहीं रहता), २—श्रीभगवान्‌में प्रियतमभाव, ३—श्रीभगवान्‌के प्रति सर्वस्व-अर्पण, ४—निजसुखकी इच्छाका पूर्ण त्याग, ५—भगवान्‌के सुखार्थ ही जीवनके सारे आचार-विचार अर्थात् भगवत्प्रीत्यर्थ जीवनधारण।

आनन्दचिन्मयरस-प्रतिभाविता, श्रीकृष्णप्रेमरसभावितमति, श्रीकृष्णगतप्राणा, श्रीकृष्णसुखपरायणा व्रजगोपियोंमें ये पाँचों बातें पूर्णरूपसे थीं।

जिनका मन विषयोंमें फँसा है, जिन्हें भौतिक सौन्दर्य अपनी ओर खींचता है, जिनकी भोग्य पदार्थोंमें आसक्ति है, शरीर और शरीरसम्बन्धी वस्तुओंपर जिनकी ममता है, जो शरीरके आराम और विषयभोगकी चाह रखते हैं और जिनका जीवन-प्रवाह निरन्तर भगवान्‌की ओर नहीं बहने लगा है, वे लोग गोपीभावकी साधनाके अधिकारी नहीं हैं। ऐसे लोग भगवान्‌के अप्राकृत प्रेम-तत्त्वकी सर्वोच्च अभिव्यक्ति दिव्य मधुररसको स्थूल कामतत्त्व या लौकिक आदि रह ही समझेंगे और भगवान् तथा श्रीगोपीजनोंका अनुकरण करने जाकर भयानक नरक-कुण्डमें गिर पड़ेंगे !

जिनके हृदयमें भोगोंसे सच्चा वैराग्य है, जिनका चित्त कामसुखसे हट गया है और जिनकी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होकर चिन्मय भगवद्–रसका आस्वादन करनेके लिये आतुर हैं—वे ही महाभाग पुरुष गोपी–भावका अनुसरण कर सकते हैं।

श्रीभगवान्‌की तीन स्वरूपा शक्तियाँ हैं—संवित्, संधिनी और ह्लादिनी। भगवान्‌का मधुर अवतार ह्लादिनी नामक आनन्दमयी प्रेमशक्तिके निमित्तसे ही हुआ करता है। वे ह्लादिनी शक्ति साक्षात् श्रीराधिकाजी ही हैं। समस्त गोपीजन उन ह्लादिनी शक्तिकी ही अनन्त विभिन्न प्रतिमूर्तियाँ हैं। उनका जीवन स्वाभाविक ही भगवदर्पित है। उनकी प्रत्येक क्रिया स्वाभाविक ही भगवत्सेवारूप होती है। उनकी कोई भी चेष्टा ऐसी नहीं होती, जिसमें भगवत्प्रीतिसम्पादनके सिवा, श्रीकृष्ण–राधिकाके मिलनसुखकी साधनाके सिवा अन्य कोई उद्देश्य हो। उनके बुद्धि, मन, इन्द्रिय, शरीर, आत्माके सहित सदा श्रीकृष्णके ही अर्पण हैं। उनके द्वारा निरन्तर श्रीकृष्णकी ही सेवा बनती है। कभी भूलकर भी उनका चित्त दूसरी ओर नहीं जाता, दूसरे विषयको ग्रहण नहीं करता; वे श्रीकृष्णमें ही सुखी रहती हैं, उनको सुखी देखकर ही परमसुखका अनुभव करती हैं। उनका निज सुख श्रीकृष्णसुखमें ही समाया रहता है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।

तदुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥

(१० । ३० । ४३)

उनके चित्त भगवान्‌के चित्त हो गये थे अर्थात् उनके चित्तोंमें भगवद्भावके सिवा अन्य किसी संकल्पका उदय ही नहीं होता था। वे उन्हींकी चर्चा करती थीं, उन्हींके लिये उनकी सारी चेष्टाएँ होती थीं—इस प्रकार वे भगवन्मयी हो गयी थीं और

भगवान्‌का गुणगान करते हुए उन्हें अपने शरीरोंकी तथा घरोंकी भी सुधि नहीं रही थी। वे जब घरोंका काम करतीं, तब भी वे अपने मनमें, अपनी वाणीमें और अपनी आँखोंमें निरन्तर श्रीभगवान्‌का ही स्पर्श पाती थीं, उन्हींके दर्शन करती थीं।

इसीलिये भगवान्‌के अत्यन्त प्रिय भक्त उद्धवजीने गोपी-प्रेमकी महान् महिमासे प्रभावित होकर व्रजमें लता-गुल्म बननेकी अभिलाषा करते हुए गोपियोंकी चरणरजकी वन्दना की है—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधिनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥
वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। ६१, ६३)

'अहा! कैसा सौभाग्य हो मेरा, यदि मैं वृन्दावनमें कोई बेल, अनाजके पौधे या झाड़ियोंमेंसे कोई हो जाऊँ, जिनपर इन व्रजबालाओंके चरणकी धूलि पड़ती रहती है। धन्य हैं ये व्रज-गोपियाँ, जिन्होंने बड़ी कठिनतासे छोड़े जानेवाले बन्धुओंको और सनातन (मर्यादा-)-धर्मको त्यागकर उस मुकुन्दपदवीका अनुसरण किया है, जो श्रुतियोंद्वारा खोजी जाती है (परंतु प्राप्त नहीं होती)। जिनका हरिकथामय गान तीनों लोकोंको पवित्र करनेवाला है, नन्दव्रजकी उन गोपरमणियोंकी चरण-धूलिको मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ।'

गोपियोंका हृदय प्रतिक्षण यही पुकारा करता है—'कैसे हमारे प्रियतम श्रीकृष्णकी इच्छा पूर्ण हो ! ये धन–धाम, ये मन–प्राण, ये देह–गेह कैसे प्यारे कन्हैयाको सुख पहुँचानेवाले हों। अरे, ये तो उन्हींके हैं—उन्हींकी सामग्री है; फिर रह चाहा भी कैसे जाय कि इनको लेकर, इन्हें अपनी सेवामें लगाकर तुम सुखी हो जाओ। दी तो जाती है वह वस्तु, जो अपनी होती है; यहाँ तो सब कुछ उन्हींका है, अहा ! मुझपर भी तो उन्हींका एकाधिकार है। फिर मैं कैसे कहूँ—तुम मुझे ले लो, मुझे अपनी सेवामें लगा लो। क्या मुझपर मेरा अधिकार है ? बहुत ठीक, अब कुछ नहीं कहना है। तुम यन्त्री हो, मैं यन्त्र हूँ; तुम नचानेवाले हो, मैं कठपुतली हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो, वही करो—बस, वही करो।' कैसी ऊँची स्थिति है ! इन्हें किसी भी वस्तु, किसी भी स्थितिकी तनिक भी परवा नहीं है।

× × ×

गोपीजन की महिमा अतुलित।

जिनके भाव लहन कौं तरसत बेदरिचा नित, ऋषि–मुनि तप–रत॥

विमल ब्रह्मविद्या गोपिन सम तप करि चहत प्रीति अति पावन।

जा सौं मिलत ब्रह्म पर–सौं–पर रसमय मधुर रूप मनभावन॥

सदा प्रेम–परबस जिनके हरि, राखत मन जिन कौं अति आदर।

सदा रहत जिनके ढिग बरबस, चहत न रहन छाँड़ि तिन छिनभर॥

बस्यौ रहत मन–प्रान–नयन महँ बन तिन के मन–प्रान–पुतरि दृग।

रास–बिलास करत नित रसमय भूलि सकल भगवत्ता अग–जग॥

परम पूज्य भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी
पोद्दारके उद्गार —

जैसा समर्पण
गोस्वामीजीका मेरे प्रति है,
दूसरे किसीका नहीं है ।

परम पूज्य श्रीराधाबाबाके उद्गार —

यहाँ जितने व्यक्ति हैं, (उन सबमें) मेरी दृष्टि सबसे अधिक श्रीगोस्वामीजीकी ओर आकर्षित होती है ।

पू० अ० सौ० श्रीमती सावित्रीदेवी फोगलाके उद्गार

पूज्य चाचाजी (पूज्य श्री चिम्मनलालजी गोस्वामी) के सम्बन्धमें क्या लिखूँ ? वे मेरे अपने थे। उनकी आत्मीयता, उनके अमृत-सने मधुर स्नेहकी स्मृतिसे मन-प्राण सिक्त हैं। पर अब तो हृदयपटलपर निधिके रूपमें मात्र स्मृति ही शेष रह गयी है।

मेरे बाबूजी और मेरे चाचाजी—दोनोंके लाड़में निरन्तर क्रीड़ारत रहकर मैंने पद-पदपर अनुभव किया—चाचाजी मेरे बाबूजीका छायाकी भाँति अनुसरण करना ही अपने जीवनका एकमात्र लक्ष्य स्वीकार कर, तदनुरूप पद-विन्यास ही आजीवन करते रहे। उनके अप्रतिम समर्पणकी गरिमा अनुपमेय है। इस भाव-भावनाको निखार दिया सोनेमें सुहागेकी भाँति बाबाने। बाबूजी-बाबामें पार्थक्य था ही नहीं। चाचाजीके जीवनका मूलमंत्र था—

"प्रियतम श्रीकृष्ण ! तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो।

प्राणेश्वरी राधे ! तुम्हारी रुचिकी जय हो॥"

बस, इसी व्याजसे अर्चना करते रहे वे बाबूजी-बाबाका अन्तिम श्वासतक। यही मेरे चाचाजी श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीके जीवनका साधन और साध्य था।

इत्यलम्

चितवन–चन्द्रिका

बस, यही अभिलाषा है !

(पूज्य श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी)

पहली बार मुझे श्रीभाईजीका दर्शन सन् १९२८ के प्रारम्भमें बीकानेरमें हुआ था। वे नाम-प्रचारके उद्देश्यसे विभिन्न स्थानोंमें भ्रमण करते हुए दो दिनके लिये वहाँ पधारे थे। उनका सर्वप्रथम भाषण सुननेपर मेरे मनमें ऐसी छाप पड़ी कि वे जो कुछ कहते हैं अनुभवके आधारपर कहते हैं, केवल पढ़ी-पढ़ायी अथवा सुनी-सुनायी बात नहीं कहते। जबतक वे बीकानेरमें रहे, व्याख्यानके बाद भी मैं घण्टों उनके पास बैठता और उनके साथ भगवद्विषयक चर्चा होती रहती। उनके इस प्रथम समागमका मनपर ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा कि स्वाभाविक ही उनके निकट सम्पर्कमें कुछ दिन रहनेकी प्रबल भावना जाग्रत् हुई। यह लालसा क्रमशः बढ़ती गयी और सन् १९२९ के ग्रीष्ममें मुझे उनके साथ गोरखपुरमें लगभग डेढ़ महीने रहनेका दुर्लभ सुयोग प्राप्त हुआ। इस छोटी-सी अवधिमें उनके भगवत्-सम्बन्धी प्रौढ़ विचारों एवं अनुभवोंको जानने तथा उनके भगवन्मय जीवनको अत्यन्त निकटसे देखनेका अवसर मुझे प्राप्त हुआ। उनके लोकोत्तर व्यक्तित्वका मनपर ऐसा प्रभाव पड़ा कि १०-१५ दिनके बाद ही बुद्धिने यह निर्णय ले लिया कि सब कुछ छोड़कर इन्हींके चरणोंमें रहा जाय और शेष जीवन इन्हींकी छत्रछायामें बिताया जाय। यह निर्णय लेना मेरे लिये जितना सहज था, उसे कार्यान्वित करना उतना ही कठिन सिद्ध हुआ। मुझे बीकानेर छोड़नेमें चार वर्ष लग गये और जनवरी सन् १९३३ में ही मैं अपने इस मनोरथको पूर्ण कर पाया।

मेरा श्रीभाईजीके साथ यह चालीस वर्षसे ऊपरका सम्पर्क मेरे जीवनकी एक अमूल्य निधि है, जो मुझे अपने अनेक जन्मार्जित सुकृतोंके फलरूपमें उन्हींकी अहैतुकी कृपासे अनायास प्राप्त हुई थी। इस अवधिमें उन्होंने जैसा अद्भुत स्नेह मुझे दिया और जिस प्रकार मेरा लाड़ रखा, उसे शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। उनके इस ऋणसे मैं जन्म-जन्मान्तरमें भी उऋण नहीं हो सकता और न होना ही चाहता हूँ। भव-सरिताकी प्रबलधारामें बहते हुए मुझ पामरको उन्होंने अपनी सहज कृपासे उबार लिया और भगवत्कृपाका अधिकारी बना दिया। मेरी त्रुटियोंकी ओर

उन्होंने कभी ध्यान नहीं दिया और मेरे द्वारा उन्हींकी प्रेरणासे हुए तनिक–से भी अनुकूल आचरणकी भूरि–भूरि प्रशंसा की। वे मेरे बड़े भाई, सखा एवं स्वामी ही नहीं थे, मेरे पथ–प्रदर्शक, जीवन–सर्वस्व थे और हैं।

श्रीभाईजी इस युगकी एक महान् विभूति थे। भारतीय संत परम्परामें उनका बहुत ऊँचा स्थान था। वे ज्ञानोत्तर भाव–राज्यमें प्रतिष्ठित थे। जिस 'पराभक्ति' की प्राप्ति श्रीमद्भगवद्गीतामें ब्रह्मभूत होनेके बाद बतायी गयी है, जिस भक्तिके द्वारा मनुष्य भगवानको तत्त्वसे जानकर उनमें प्रविष्ट हो जाता है, उनके साथ घुल–मिलकर एक हो जाता है, उनका प्रतिरूप ही बन जाता है, वह उनके अन्दर मूर्त थी। यही नहीं, श्रीकृष्णप्रेमकी उच्चतम भूमिकामें वे स्थित थे। उनका मन, बुद्धि, वाणी—सबकुछ श्रीकृष्णमय हो गये थे। **'तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि, सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि, सच्छास्त्रीकुर्वन्ती शास्त्राणि'**—नारद–भक्ति–सूत्रका यह वाक्य उनमें पूर्णरूपेण चरितार्थ था। विशुद्धप्रेमाभक्तिका आदर्श एवं भगवन्नामकी महिमाको प्रतिष्ठित करनेके लिये ही जगत्में उनका आविर्भाव हुआ था। हमलोगोंका अनिर्वचनीय सौभाग्य था कि वे हमारे बीच हमारे निजजन—हमारे पिता, बन्धु, संरक्षक, मार्गदर्शक एवं मित्रके रूपमें इस धराधामपर रहे और हमारे–जैसे अगणित जीवोंको उन्होंने अपनी पीयूषवर्षिणी वाणी, आदर्श भक्तोचित व्यवहार, अमोघ लेखनी तथा भगवन्मय जीवनसे कल्याणकी ओर अग्रसर किया। इस भारतभूमिको—विश्वको उन्होंने अध्यात्मज्ञानकी जो अमूल्य निधि दी है, उसका मूल्याङ्कन शब्दोंद्वारा सम्भव नहीं है। उनके प्रति श्रद्धाञ्जलिके रूपमें जो कुछ भी कहा जाय थोड़ा है। मैं उनके विषयमें क्या श्रद्धाञ्जलि अर्पण करूँ, उनकी स्मृति–मात्रसे हृदय भर आता है। उनके वियोगको हृदय सहन कर गया—यही मेरी प्रेमशून्यताका प्रमाण है। बस, शेष जीवन श्रीभाईजीकी और उनके अपने श्रीराधामाधवकी स्मृतिमें बीत जाय—यही अभिलाषा है!

श्रीभाईजीद्वारा आयोजित दिव्य साधन–सत्रका विवरण

(पूज्य श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी)

[संकलन — पूज्य स्वामी श्रीकृष्णप्रेमजी]

पूर्व–भूमिका

मेरी मान्यतानुसार श्रीपोद्दार महाराजका जीवन दो ही भागोंमें विभाजित था। उनके जीवनका प्रथम सोपान भक्तराज भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारका था। श्रीभाईजी अपने साधनाकालमें तथा धर्म–प्रचार एवं जगत्–कल्याणकार्यके निमित्त श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दकाको पूर्णतया समर्पित थे। उस जीवन–सोपानमें वे उनके अनुगत थे। किन्तु अपने जीवनके दूसरे सोपानमें वे सर्वतंत्र–स्वतंत्र थे। महाभाव–रसराज श्रीराधाकृष्णके लीला–रसमें निमग्न उनका यह दूसरा सोपान वृन्दावनकी महारासलीलाओंका प्रत्यक्षदर्शी जीवन रहा है। इस कालमें वे अपने संकल्पमात्रसे किसीको भी ब्रजेन्द्रतनय रसिकशेखर श्रीकृष्णका दर्शन कराने, उनकी रसमयी नितान्त मधुर प्रेमाभक्तिका दान करनेमें भी समर्थ आचार्य गुरु थे। यद्यपि उनके द्वारा कोई सम्प्रदाय–प्रवर्त्तन नहीं हुआ परन्तु उनकी योग्यता इस कालमें किसी कारक पुरुषसे किसी भी प्रकार कम नहीं थी। उन्होंने अपनी इस महाकल्याणकारी शक्तिको सदैव ही संगुप्त रक्खा, किन्तु इस कालमें उनमें वस्तुगुणके रूपमें सदैव सर्वोच्च मोदन–मादन भाव ही संप्रवाहित रहा। मैं उनके १९३० ई. के पश्चात् अनवरत चालीस वर्षके जीवनको महाप्रभु पोद्दार महाराजका जीवन कहता हूँ। इसी कालमें उन्हें समर्पित हुए समर्पणमूर्त्ति श्रीगोस्वामी चिम्मनलालजी, जो विद्वत्तामें सिद्ध–रसिक रूप–सनातन एवं जीव गोस्वामीसे किसी भी अंशमें न्यून नहीं कहे जा सकते। यह सत्य है कि रूप–सनातन एवं जीव गोस्वामीके समतुल्य इन्होंने अपना स्वतंत्र साहित्य विश्वके सम्मुख नहीं रक्खा किन्तु इनका श्रीमद्भागवत ग्रन्थका आंग्ल भाषामें अद्वितीय अनुवाद इसका प्रमाण है कि ये संस्कृत एवं आंग्ल दोनों भाषाओंमें मूर्धन्य योग्यता रखते थे।

तैलंगकुलभूषण इस विद्यावारिधिने आंग्ल भाषामें श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीवाल्मिकीरामायण, श्रीतुलसीकृत रामायण आदि अनेक ग्रन्थोंको अनूदित किया।

इसी काल–सोपानमें इन्हें समर्पित हुए—अद्वैत ब्रह्मज्ञानकी चतुर्थ भूमिकामें प्रतिष्ठित, युवक संन्यासी श्रीचक्रधरजी महाराज जिन्हें सन् १९३६ ई. में ही गीतावाटिकामें श्रीमहाप्रभु पोद्दार महाराज द्वारा उनका चरणस्पर्श करके श्रीकृष्ण–भक्तिभावकी सर्व–वैभवमयी रसदीक्षा दी गयी। गीतावाटिकामें उनके मात्र पाँच–छः दिवसोंके निवासकी अवधिमें श्रीपोद्दार महाप्रभु द्वारा डाले गये रस–छींटोंसे इनका निर्गुण–निराकारका तथा ब्रह्मसाक्षात्कारका कट्टर मायावादी आग्रह अथाह श्रीकृष्ण–रस–सिन्धुमें ऐसा निमग्न हुआ कि परात्पर परब्रह्मसे ये श्रीराधा हो गये। राधा–महाभावमें ये इस अभूतपूर्व रीतिसे निमज्जित हुए कि इनका नाम श्रीराधाबाबा ही सर्वत्र प्रख्यात हो गया।

उन दिनों गोरखपुरमें महाप्रभु पोद्दार महाराज गोरखनाथ मन्दिरके पासवाले बगीचेमें निवास करते थे। वहाँ नित्य नियमित सत्संग होता था। उसकी वार्त्ताको संदर्भ रूपमें कह रहा हूँ। सन् १९३३ ई. के मंगलवार ५ सितम्बरसे प्रारंभ हुए मासभरके सत्संगमें संयोगवश मैं स्वयं अपने शिशुकालमें आंशिक रूपसे सम्मिलित हुआ था। इसकी मासभरकी तिथिवार विज्ञप्ति मुझे श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीके डायरीमें मिली है। इस डायरीका विवरण इस बातका पर्याप्त प्रमाण है कि महाप्रभु श्रीपोद्दार महाराजकी आश्विन कृष्ण प्रतिपदा, मंगलवार वि.सं. १९९० तदनुसार १९३३ ई. में ही ऐसी दशा थी कि वे सहज ही बोलते–बोलते महाभाव–समाधिमें निमग्न हो जाते थे एवं उनका बाह्य ज्ञान सर्वथा सर्वांशमें ही लुप्त हो जाता था। इस सम्पूर्ण डायरीका तिथिवार विवरण तो विस्तारभयसे नहीं दिया जा रहा है, किन्तु इसके मुख्य तीन–चार प्रसंगोंका विवरण पाठक अवश्य अनुशीलन करें। **— पूज्य स्वामी श्रीकृष्णप्रेमजी**

प्रसंग १

॥ श्रीहरि ॥

स्थान — गोरखनाथमन्दिरके पासवाला बगीचा

तिथि : आश्विन कृष्ण १, १९९० वि.
मंगलवार, ता. ५ सितम्बर १९३३ ई.

गोरखपुरमें सत्संगी स्नेही बन्धुओंका साधक-मण्डल है। ये साधक भाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)-के प्रति विशेष झुकाव रखते हैं। इनमें गीताप्रेसके कतिपय कर्मचारी, गोरखपुरके साहबगञ्ज मोहल्लेके कतिपय व्यापारी एवं सम्पादन-विभागके भी कुछ-एक साधक हैं। इन सभी बन्धुओंकी समवेत इच्छा और आग्रहसे श्रीभाईजीने विशुद्ध भगवत्प्रेम प्राप्त्यर्थ एक मासका साधन-सत्र रक्खा है। मैं, मेरी पत्नी एवं बाई मंगला (श्रीगोस्वामीजीकी बहिन) — हम सभी इसमें सम्मिलित होनेकी इच्छा रखते हैं, तदनुसार श्रीभाईजीकी अनुमति मिल गयी है।

अनुष्ठानका यह कठोर नियम है कि कोई भी सम्मिलित स्त्री-पुरुष जबतक कार्यक्रम पूर्ण न हो, न तो बाहर जावे, न परस्पर वार्तालाप करे, न ही परस्पर कोई संकेत ही करे। जो साधक आनेमें विलम्ब करें अथवा किसी कारणसे मध्यमें उठना चाहें, उन्हें मुख्य सत्संगकक्षसे बाहर बरामदेमें बैठना चाहिये — ऐसा नियम है।

इस एकमासीय अनुष्ठानके प्रथम दिवस आज श्रीभाईजीने अपने संक्षिप्त प्रवचनमें कहा — "यह अनुष्ठान विशुद्ध निष्काम श्रीकृष्ण-प्रीतिके उद्देश्यसे प्रारम्भ हुआ है। भगवान् श्रीकृष्णकी प्रीति प्राप्त्यर्थ यदि हम सभीकी आर्त्त प्रार्थना होगी और वे हमारे अन्तःकरणकी सच्ची चाह, उत्कट उत्कण्ठा एवं सतत संलग्नता देखेंगे; साथ ही हम अपने आचरणोंमें पर्याप्त संयम बरतेंगे तो भगवान्‌के चरणाश्रयसे निश्चय ही सफलता मिलेगी। आवश्यकता है श्रद्धा, तत्परता एवं संयमकी। श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा गया है—**"श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।"**

कृपया निम्न नियमोंका पालन करें —

१.) हम सभीको अभी इसी समय अपने समग्र पाप–पुण्य भगवान् श्रीकृष्णको समर्पित कर देना चाहिये।

२.) प्रतिदिवस एक मासतक अष्टादशाक्षर गोपालमंत्रकी पचास मालाका अवश्य जप करें।

३.) इस बातका मनमें दृढ़ विश्वास रखें कि हमें श्रीकृष्णानुरागकी प्राप्ति अवश्य होगी।

४.) सभीके मनमें इस बातका सुदृढ़ विश्वास रहे कि हमें अपनी साधनासे नहीं, अपितु श्रीकृष्णानुग्रहसे उनकी प्रीति अवश्यमेव प्राप्त होगी। सहज सुहृद कृपामूर्ति भगवान्ने इसी क्षणसे हमें अपना लिया है। जड़–चेतन सर्वत्र अपने परमाराध्य मोरमुकुट–वंशी–पीताम्बरधारी भगवान् श्यामसुन्दर श्रीकृष्णको ठसाठस–भरा अनुभव करें; उनके अतिरिक्त जो कुछ भी दिख रहा है, वह हमारा अज्ञान एवं माया–प्रवाह भर है। यह बारंबार अनुवृत्ति होती रहे।"

इस संक्षिप्त उद्बोधनसे एकमासीय अनुष्ठानका प्रारम्भ हुआ।

सर्वप्रथम मुझसे (श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीसे) श्रीभाइजीने '**भजे व्रजैकमण्डनं**' श्रीकृष्णाष्टक सुना। इस प्रथम श्रीकृष्णस्तुतिके सुनते ही श्रीभाईजीका ध्यान लग गया। कुछ काल ध्यानावस्थामें वे सर्वथा मौन रहे। उनके नेत्रोंसे अश्रुधारा बह रही थी। बहुत देरतक वे ध्यानस्थ रहे। फिर कहने लगे — "जिस–जिस दृश्यको मैं देख रहा हूँ, उसीका वर्णन करता हूँ। इसे सत्य मानिये। मेरा शरीर ही यहाँ गोरखपुरमें है, मैं तो सच्चिन्मय वृन्दावनधाममें जाकर वहाँकी दिव्य लीलाओंमें निश्चय ही सम्मिलित हूँ।"

"अब आप सभी मेरे साथ भगवान् श्रीकृष्णसे प्रार्थना करिये।" यह कहकर श्रीभाईजी दो-तीन श्लोक बोलकर भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दन गोपीजनवल्वभ श्रीकृष्णका स्तवन करने लगे। जब श्रीभाईजी श्रीकृष्णसे प्रार्थना कर रहे थे, तब भी उनकी आँखें अश्रु बहा रही थीं। श्रीभाईजीकी वाणी इतनी श्रद्धापरिपूर्ण एवं कातर थी, जिससे स्पष्ट अनुभव होता था कि वे नन्दनन्दन श्रीकृष्णको प्रत्यक्ष का अपने सम्मुख मुसकाता खड़ा देख रहे हैं।

श्रीभाईजीकी प्रार्थना संक्षेपमें इसी भावनासे भरी थी — "हे प्रभो ! यद्यपि हम सभी आपके दर्शनोंके सर्वथा अनधिकारी हैं, हमारे भीतर अनन्त जागतिक अभिलाषायें भरी हैं, फिर भी आप कृपा करके मात्र आपको ही प्राप्त करनेकी अभिलाषाको छोड़कर, बाकी सभी अभिलाषाएँ समूल विनष्ट कर दें। ऐसी कृपा तत्क्षण ही करें कि आपके दर्शनोंकी अदम्य एवं तीव्र आकांक्षा हमारे हृदयमें जग जाय। आपके दर्शनोंके बिना हमें अपना जीवन भारस्वरूप लगने लगे। हमारा जीवन तो अनन्त दोषोंका भण्डार है। आप हमारे अपराधों एवं न्यूनताओंकी ओर न देखें, अपने सहज स्वभावसे हम सभीपर अपनी कृपावर्षा करें। हम लोगोंमेंसे जिन्हें भी आपके दर्शनोंकी प्रबल चाह हो, आप उन्हें अपना दर्शन देकर कृतार्थ करें और जिनके हृदयमें ऐसी चाहका अभाव है, उनके हृदयमें तत्क्षण ही ऐसी प्रबल चाह जागृत कर दें।"

प्रार्थना करते-करते श्रीभाईजीकी वृत्तिने शारीरिक धरातल छोड़ दिया और वे पुनः समाधिस्थ हो गये। कुछ काल पश्चात् वे पुनः संवरित होकर कहने लगे — "महान् प्रकाशका पुञ्ज सामनेसे आ रहा है। वह प्रकाश सर्व ओर फैलता जा रहता है। दसों दिशाओंमें प्रकाश-ही-प्रकाश छा गया है। उस प्रकाशमेंसे प्रेमीजन-जीवन श्रीकृष्ण आज अनोखा वेष धारण किये पधार रहे हैं। मोरमुकुटके स्थानपर पीताम्बरको साफेकी तरह लपेट रखा है। इस साफेके नीचेसे घुँघराले केशोंकी काली तेजोमय

चमक स्पष्ट दिख रही है। विश्व–मन–मोहन श्रीकृष्ण बड़े ही जादूगर हैं। उनके जादूका प्रभाव शंकर, ब्रह्मा, नारद, व्यास, शुकदेव आदि सभीपर व्याप्त है। सभी उनपर मुग्ध, वशीभूत हो रहे हैं। उनके मुखकमलमें जादू, उनके नेत्रयुगलमें जादू, उनकी केशराशिमें जादू, उनके पीताम्बरमें जादू, उनकी नूपुर–ध्वनिमें जादू, उनकी प्रत्येक क्रिया एवं वस्तुमें जादू–ही–जादू है। उनकी चितवन–अवलोकनिमें ऐसा विलक्षण जादू है कि दर्शनमात्रसे विमोहित कर लेता है।"

ध्यान कराते–कराते श्रीभाईजीने सहसा 'जय हरि गोविन्द राधे–गोविन्द' की नामध्वनिका संकीर्त्तन कराना प्रारंभ कर दिया। आगे–आगे श्रीभाईजी बोलते एवं पीछे हम सभी सत्संगी बन्धु। नाम–संकीर्त्तन बहुत कालतक होता रहा। जब श्रीभाईजीने संकीर्त्तनको विराम दिया तो स्वतः ही ध्यानमें अपनी स्थितिपर प्रकाश डालते हुए कहने लगे — "जब नटनागर श्रीकृष्ण नृत्य करने लगे तो उनके नृत्यकी तालपर मैंने भी नाम–संकीर्त्तन प्रारंभ कर दिया। थोड़ी देर पश्चात् वे खड़े होकर मेरा संकीर्त्तन सुनकर मुस्कुराने लगे, मैं तो संकीर्त्तन करता रहा। उनको सुननेमें सुख मिले इससे बढ़कर अपने पास करनेको है ही क्या ?"

इसी समय मैंने (श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीने) जिज्ञासा की — "आपने अभी कहा कि भगवान् श्रीकृष्ण बड़े जादूगर हैं, तो वे अपने जादूका प्रयोग हम सभीपर क्यों नहीं करते ?"

श्रीभाईजीने प्रत्युत्तर दिया — "जबतक वे अपना जादू नहीं करते, तभीतक खैर है। उन्होंने जादू कर दिया तो 'रही न काहू कामकी' वाली स्थिति हो जायेगी। इसे केवल साहित्य मत मानियेगा; श्रीनारायणस्वामी रचित इस पदमें लिखित एक–एक बात अक्षरशः सत्य घटित हो उठेगी।"

"हाँ ! एक बात और है — जो ऐसा चाहते हैं कि मुझपर उनका जादू चल जाये, उनपर उनका जादू आज नहीं तो कल अवश्य ही क्रियाशील होकर रहेगा। इसीमें तो जीवनकी सुन्दरता और सार्थकता है। वस्तुतः जिनपर उनका जादू चला है, उनका ही जीवन धन्य है। वे अपनी रूपश्रीसे आकृष्ट करते हैं, इसीलिये उनका नाम श्रीकृष्ण है।"

अनुष्ठानकी समाप्तिका समय निकट जानकर मैंने लावणीका निम्नलिखित पद गाया जो भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी द्वारा रचित है —

प्रिय प्राननाथ मनमोहन सुन्दर प्यारे।
छिनहू मति मोरे होहु दृगनि तैं न्यारे॥

घनश्याम गोप–गोपी–पति गोकुलराई।
निज प्रेमीजनहित नित–नित नवसुखदाई॥
बृन्दावन–रच्छक ब्रज–सरबस बलभाई।
प्रानहुँ ते प्यारे प्रियतम मीत कन्हाई॥
श्रीराधानायक जसुदानन्द दुलारे।
छिनहू मति मोरे होहु दृगनि तैं न्यारे॥ १॥
तुअ दरसन बिनु तन रोम–रोम दुख पागे।
तुव सुमिरन बिनु यह जीवन बिषसम लागे॥

तुमरे सँयोग बिनु तन बियोग दुख दागे।
अकुलात प्रान जब कठिन मदन मन जागे॥
मम दुख–जीवनके तुम ही एक रखवारे।
छिनहू मति मोरे होहु दृगनि तैं न्यारे॥ २॥

तुम ही मम जीवनके अवलम्ब कन्हाई।
तुम बिनु सब सुखके साज परम दुखदाई॥
तुम देखे ही सुख होत न और उपाई।
तुमरे बिनु सब जग सूनो परत लखाई॥
हे जीवनधन मेरे नयनोंके तारे।
छिनहू मति मोरे होहु दृगनि तैं न्यारे॥ ३॥

तुमरे बिनु इक छन कोटि कलप सम भारी।
तुमरे बिनु स्वरगहु महानरक दुखकारी॥
तुमरे सँग बनहू घर सौं बढ़ि बनवारी।
हमरे तो सबकछु तुम ही हो गिरिधारी॥
हरिचन्द हमारो राखो मान दुलारे।

छिनहू मति मोरे होहु दृगनि तैं न्यारे॥ ४॥

इस पद–गायनके पश्चात् पुनः कुछ काल संकीर्तन होकर आजके पावन सत्संगको विराम दे दिया गया।

* * *

प्रसंग २

॥ श्रीहरि॥

स्थान — गोरखनाथ मन्दिरके समीपका **आश्विन कृष्ण द्वितीया वि.सं. १९९०**

बंगालीबाबूका बगीचा **बुधवार, ६ सितम्बर, १९३३ ई.**

आज अनुष्ठानमें बीस व्यक्ति सम्मिलित हैं। कलके अनुष्ठानकी बातें सत्संगियोंमें सर्वत्र प्रचारित होनेसे आज विगत कलसे दुगुने लोग बैठे हैं। श्रीभाईजीकी आज्ञानुसार घड़ीमें ठीक साढ़े–आठ बजते ही कार्यक्रम प्रारम्भ कर दिया गया है। आज मैंने (श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीने) श्रीकृष्णाष्टकके पश्चात् श्रीभाईजीके आदेशानुसार श्रीहरिश्चन्द्रजीकी लावणी गायी।

श्रीभाईजीने आज अपने अनुभवकी एक नवीन श्रीकृष्णलीला सुनाना प्रारंभ किया। इसमें अपने सखाओं एवं गोपाङ्गनाओंके साथ भगवान् श्रीकृष्णकी अन्तरंग लीलाकथाका विस्तारसहित वर्णन था। श्रीभाईजीका लीलावर्णन प्रत्यक्ष दर्शनयुक्त होनेके कारण अति सजीव था।

आज उन्हें कलकी तुलनामें अधिक भावावेश था। वर्णन करते–करते बीचमें ही उनका बाह्यज्ञान लुप्त हो जाता था। उस समय मौनावस्थामें भी वे बहुत ही भावपूर्ण लगते थे। उनके भावभरे नेत्रोंमें उनकी छवि मुझे (श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीको)

अलौकिक प्रभावोत्पादक अनुभव हो रही थी। वे बोलनेकी चेष्टा करते किन्तु बोल नहीं पाते थे। सभी सत्संगी शान्त बैठे श्रीभाईजीकी ओर एकटक देख रहे थे; कुछ नेत्र–मूँदे ध्यानस्थ थे। मुझे तो आन्तरिक ध्यानचेष्टाकी अपेक्षा उन्हें देखते रहनेमें ही अधिक आनन्द मिल रहा था। जब उन्हें स्वयं अपना एवं बाहरी जगत्का होश ही नहीं है, तो वे स्वयं हैं ही कहाँ ? अब तो उनमेंसे जो भी बोल रहा है, उनसे जो भी छलक रहा है, सब श्रीकृष्ण–ही–श्रीकृष्ण हैं। बाह्यज्ञान–लुप्त अवस्थामें उनका "ओह ! ओह !!" कह उठना एक विशेष आनन्दोच्छलन ही माना जाना चाहिये। श्रीभाईजीका रोम–रोम अनबोले ही, बिना भाषाके मुखर प्रकाशित कर रहा है कि वे श्रीकृष्णकी लावण्यराशि एवं रूपसौन्दर्यपर कितने अधिक विमुग्ध हैं।

आज अधिकांशतया ये मौन ही रहे। वे चेष्टा करके कुछ शब्द उच्चारण करनेका प्रयास भी करते तो स्वरकी अस्पष्टताके कारण कुछ भी अर्थ समझमें नहीं आता था। वे क्या कहना चाह रहे हैं इसकी संगति भी नहीं लग पा रही थी। बहुत समयतक उनके मुखसे असंगत शब्दराशि ही निकल रही थी।

समय तो पूरा होता ही है। संकीर्त्तन कराके नजीर साहबकी नज्म गायी गयी।

आज भाईजी उठनेकी स्थितिमें भी नहीं थे। वे इतने भावाविष्ट थे कि मुझे तो उन्हें छूनेमें भी संकोच हो रहा था। मेरी ही (श्रीचिम्मनलालजीकी) तरह उन्हें स्पर्शकर उठानेकी किसी दूसरेने भी चेष्टा नहीं की। इसके पश्चात् अ. सौ. भाभीजी आयीं और वे उन्हें मछहरीमें सुलानेको ले गयीं। सभी सत्संगियोंको विदा दे दी गयी किन्तु मैं (श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी) एवं कुछ अन्य सत्संगी भाई रात्रिको बारह बजेके बाद ही वहाँसे हटे। मध्य रात्रितक श्रीभाईजी रसस्वरूप श्रीकृष्णकी सरस लीलाओंका वर्णन बाह्य होश–विरहित दशामें मात्र 'कुछ कहना है' — इस पूर्वकृत संकल्पको

पकड़े, कहते रहे। उनके बोलने एवं कहनेका ढंग आज सदासे भिन्न प्रकारका था। वे बहुत ही मन्द स्वरमें शनैः–शनैः यह सब वर्णन कर रहे थे—

"श्रीगोवर्धन गिरिके एक शिलाखण्डपर अपनी सर्वाकर्षक शोभाको सर्वत्र प्रसारित करते श्रीकृष्ण आसीन हैं। सघन लता जाल पुष्पाच्छादित हैं। रंग–बिरंगे पुष्प हैं। ओह! कैसी निर्मल सुगन्ध चतुर्दिक् फैल रही है। मेरी नासिका श्रीकृष्णकी अंगगन्धसे तो भरी है, बीच–बीचमें वायु इन पुष्पोंकी गन्ध भी लाकर श्रीकृष्णके अंगगन्धमें मिला जाती है। इसी मिससे इन लता–वल्लरियोंका अपने प्राणपतिसे मिलन जो हो रहा है। वायु दूतीका कार्य कर रही है। ओह, भ्रमर कैसा सुन्दर झंकार कर रहे हैं। इनकी झंकार विलक्षण संगीतमयी है। सारी राग–रागिनियोंकी मूल उत्पत्ति मानो इन भ्रमरोंसे ही हुई हो। ...."

बहुत शनैः–शनैः इतना बोलकर श्रीभाईजी रुक गये हैं। उनसे आगे बोला नहीं जा रहा है। आज उनकी दशा कुछ निराली है। उनके नेत्रोंसे अश्रु धारावत् टपकते हैं, परन्तु इससे उनकी मुख–मुद्रामें कोई विकृति नहीं आती। इसी प्रकार कभी–कभी उनके मुखसे 'ओह! ओह!' कर रुदन फूट पड़ता है, परन्तु चेहरा उसी प्रकार शोभाभरा लगता है।

मेरा गोरखपुर आगमन धन्य हो गया। मेरी पत्नी यदि मुझे स्थायीरूपसे गोरखपुर आनेकी अनुमति नहीं देती तो हमें यह विलक्षण अनुभव प्राप्त करनेका सौभाग्य ही नहीं मिलता। मुझे बहिन मंगलाके भाग्यपर गर्व होता है कि उसे यह सत्संग मिला। बहिन सुलोचना एवं मेरे पू. पिताजी इस संत–सहवाससे वंचित हैं।

* * *

प्रसंग ३

॥ श्रीहरि ॥

स्थान : बंगालीबाबूका बगीचा गोरखनाथ मन्दिरके पास, गोरखपुर

आश्विन कृष्ण तृतीया वि.सं. १९९०

गुरुवार ७ सितम्बर, १९३३ ई.

जिस प्रकार पिछले दो दिवस सत्संग हुआ, उसी प्रकार आज भी घड़ीके साढ़े–आठ बजाते ही कार्यक्रम प्रारम्भ हो गया है । श्रीभाईजीके आदेशानुसार मेरे (श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी) द्वारा प्रारम्भमें **'भजे व्रजैकमण्डनं'** श्रीकृष्णाष्टकका गायन होनेके पश्चात् **'हरि बोल, हरि बोल'** का संकीर्त्तन श्रीभाईजीने स्वयं कराना प्रारम्भ कर दिया। अहा ! अलौकिक आनन्दकी वर्षा हो रही थी। श्रीभाईजी दोनों हाथोंमें करताल लेकर खड़े होकर झूम–झूमकर संकीर्तन करा रहे थे । मन करता था—उस समय उनकी छवि मेरे चित्तमें ऐसी बस जाय कि कभी भी नहीं हटे। श्रीभाईजीकी भावमयी स्थितिको देखकर मुझे ऐसा ही अनुभव हो रहा है मानों मैं आधुनिक युगके अभिनव महाप्रभु चैतन्यदेवके सान्निध्यमें आ गया हूँ। श्रीचैतन्य–महाप्रभुकी भाव–तल्लीनताकी बातें तो मात्र उनके अनुयायी लोगोंके ग्रन्थोंके पढ़नेसे ही ज्ञात होती हैं, किन्तु श्रीभाईजीकी भावदशा तो हम सभी प्रत्यक्ष देख रहे हैं। श्रीभाईजीकी यह विलक्षणता ही है कि वे गृहस्थमें रहकर जनसंसर्गमें पूर्णतया लिप्त होकर, समाजसेवा, आत्मीय जनोंके विवाह, मरण, रोग–शोकमें सम्मिलित होकर भी पंक–कमलवत् सर्वथा निर्लिप्त हैं, और दिवसभर रजोगुणी कार्योंका संचालन करते हुए भी सन्ध्यामें इस प्रकार भावाविष्ट हो जाते हैं । ये अपने भाव–प्रवाहको संगुप्त और प्रकट करनेमें कितने सिद्धहस्त हैं ! मैं तो ऐसा अग्रज धर्मभ्राता पाकर अपनेको कृतकृत्य अनुभव करता हूँ ।

ऐसा लगता है कि श्रीभाईजी जगत्के तटपर रहकर भी नहीं रहते। सदैव लोकातीत रहते हुए श्रीराधाकृष्ण युगलके रूप–लीला–सम्बन्ध, रसविलास, आलाप–संलाप, समर्पण एवं प्रेममें ही इनका क्षण–क्षण व्यतीत होता है।

प्रभातकालके सत्संगमें भी इनकी ऐसी ही दशा देखनेको मिलती है एवं सायंकालमें भी ये इसी प्रकार भावोन्मत्त अवस्थामें ही शयन करते हैं।

* * *

प्रसंग ४

॥ श्रीहरि ॥

स्थान: बंगालीबाबूका बगीचा गोरखनाथ मन्दिरके पास, गोरखपुर

आश्विन कृष्ण चतुर्थी वि.सं. १९९०
शुक्रवार ८ सितम्बर, १९३३ ई.
(प्रातः काल)

आज प्रातः ७ बजेके सत्संगमें मैं (श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी) श्रीकृष्णाष्टक गाकर जैसे ही निवृत्त हुआ, श्रीभाईजीके आदेशसे मेरे बहनोई श्रीवल्लभलालजी गोस्वामीने श्रीनन्ददासजी–विरचित 'श्रीकृष्णनाम जब तैं श्रवणन सुन्यौ री आली' पद गाकर सुनाया।

पद–गायन सुनते–सुनते ही श्रीभाईजी भावाविष्ट हो गये। श्रीभाईजीका भावावेश इतना गहन था कि वे प्रातः–सत्संग प्रारंभ ही नहीं कर सके। ऐसे भावाविष्ट हुए कि उन्हें कमरा बन्द कर एकान्तमें बैठाना पड़ा।

श्रीभाईजीका सत्संग–लाभ करने एक विलक्षण महात्मा उत्तराखण्डसे आये हैं। इन्होंने अपना आसन आँवलेके वृक्षके नीचे बने चबूतरेपर लगाया है। शरद् ऋतु है; इनके आवासका उचित स्थाना चयन करके देनेका सेवाभार श्रीभाईजीने मुझे सौंपा था, किन्तु ये कहते हैं कि अपने नियमानुसार छतके नीचे ये रहते ही नहीं। आँवलेका वृक्ष सघन है। इनके पास पहननेको मात्र दो टाटके टुकड़े हैं, उन्हींसे ये अपने बिछौने

और वस्त्र —दोनोंका कार्य सम्पन्न कर लेते हैं। ये कोपीन भी टाटकी ही पहनते हैं। कोपीन अवश्य इनके पास दो है। नहानेके पश्चात् इनमेंसे एकके सूख जानेपर ये उसे अपनी कमरमें बाँध लेते हैं। बहुत ही तितिक्षु हैं। चार आलू उबालकर मात्र तनिक–सा नमक लगाकर इनकी भिक्षा हो जाती है। भिक्षार्थ ये किसीके घर नहीं जाते, अपनी हँडियामें ही आलू उबाल लेते हैं। इसी हँडियासे ये पानी भी पी लेते हैं। शौचके समय इसी हँडियाको जलपात्रके रूपमें प्रयोग कर लेते हैं। कण्डेकी धूनी अवश्य रखते हैं।

ये एक रबरकी नली रखते हैं। इस नलीको अपने किसी भी अंगसे सटाकर ये इसके दूसरे कोनेको आगन्तुक व्यक्तिके कानमें लगा देते हैं। उस नलीमेंसे विलक्षण सुरीली 'नारायण–नारायण' नामध्वनि सुनाई देती है। यह प्रयोग ये इनके पास आनेवाले प्रत्येक व्यक्तिके सम्मुख करते हैं। यह 'नारायण–नारायण' नामध्वनि इनके हृदयकी स्वाभाविक रक्तचापकी धक्–धक् आवाज नहीं है, जिसमें 'नारायण' नाम आरोपित कर दिया गया हो। यह तो स्पष्टतः शब्दोच्चारण है। ये महात्मा जिस काल किसीको यह नामध्वनि अपने रोम–रोमसे निस्सृतकर सुनाते हैं, उस समय इनके नेत्र ऐसी शान्त मुद्रामें निमीलित हो उठते हैं, मानो अन्तरमें उच्चारित अन्तर्ध्वनिके रूपमें होनेवाले अपने इष्टदेवके नाम–संकीर्त्तनको ये स्वयं भी पूर्ण रसमत्त हुए सुन रहे हों। यह मधुर नामस्वर न तो किसी नारीका होता है, न ही पुरुषका। यह तो जैसे कोई स्वयंमूर्त्त ध्वनि होती है। यह इतनी आकर्षक होती है कि श्रवणकर्त्ता यदि जरा भी साधन–सम्पन्न अन्तःकरणका हो तो इसके श्रवण मात्रसे ही वह भीतर गहिराकाशमें डूबता चला जाता है। ऐसा लगता है मानो यह कोई आन्तरिक योगध्वनि है। इस ध्वनिका विश्लेषण तो मैं नहीं कर सकता। इस श्रवणसे मुझे एक विलक्षण आनन्द, एक अभूतपूर्व तन्मयता प्राप्त हुई, वह मेरे मन–मानसमें सारे दिवस छायी रही। महात्माजी किसी भी श्रवणकर्त्ताको यह नामध्वनि सुनाते समय उस नलीका अपने पासवाला छोर अपने एक अंगसे हटाकर दूसरेपर, फिर तीसरेपर, कभी पीठपर, कभी

जंघापर, कभी हाथोंकी अँगुलियोंपर संस्पृष्ट कर देते हैं और परिणाम एक ही संघटित होता है — वही नामध्वनि। एक-सी ही सुमधुर स्पष्ट योगध्वनि उनके रोम-रोमसे उच्चरित होती रहती है।

मैं चकित हूँ — कैसे-कैसे महापुरुष श्रीभाईजीके पास आते हैं और उनके सत्संगके लिये लालायित रहते हैं।

मैंने जब इन टाटबाबा महात्माजीसे अपनी इस सिद्धिका साधन पूछा तो उन्होंने कहा कि सब भगवान् नारायणकी कृपाका ही फल है। उनका कथन था कि उनकी सन्निधिमें उनके संकल्पसे किसी भी जड़-चेतन पदार्थसे यह पावन नामध्वनि निस्सरित हो सकती है।

इसके पश्चात् इन्होंने अपना टाटवस्त्र मेरे कानमें लगानेको कहा। मैं आश्चर्यचकित हो उठा। उनके टाटवस्त्रसे भी उसी दिव्य मधुरतासे भरी वह ध्वनि श्रवणगोचर हो रही थी। मैं आश्चर्याभिभूत था। महात्मा नारायणस्वामी (टाटबाबा) यही उनका नाम था। ये वर्षों बद्रिकाश्रममें तपस्यारत रहे हैं। इन्हें भगवान्‌के साक्षात् दर्शन हो चुके हैं। इन्होंने भगवान् नारायणसे इसी सिद्धिकी याचना की थी कि वे जहाँ चाहें वहींसे, साथ ही जबतक उनका शरीर रहे उनके रोम-रोमसे भी उन्हें कल्याण शक्तियोंसे समन्वित प्रभुका पावन, चिन्मय नाम दिव्य मधुर ध्वनिके रूपमें सदैव निनादित श्रवणगोचर होता रहे। तबसे उनके शरीरका एक रोम भी नामध्वनिसे वंचित नहीं है। भगवान्‌के वरदानसे वे इतने शक्तिसम्पन्न हैं कि अन्य किसीको भी यह नामध्वनि श्रवणगोचर करा सकते हैं। साथ ही, उनका जो, जहाँ, जैसा भी दृश्य होता है, उनके संकल्प करते ही उसमेंसे भी वैसी ही पावनतम 'नारायण' नामध्वनि प्रकट हो जाती है। बस, इसी वरदानका परिणाम उनकी यह सिद्धि है। यदि उनका बुरे-से-बुरे स्थानपर भी प्रारब्धवश गमन हो जाय, तो यह नाम-संकीर्त्तन प्रवाह उनके चतुर्दिक् ऐसा नाम-वर्तुल सृजन कर देता

है कि ये सर्वत्र नाममें ही डूबे बने रहते हैं। इनकी नामसिद्धि इनके विचारोंको भी सदैव एकाग्र भगवद्रसमें समाहित रखती है, इससे इनकी वृत्तियाँ इन्द्रिय–विषयानुगामी नहीं हो पातीं।

बहुत ही बड़ा, विलक्षण नारायण–नाम–कवच भगवान्‌ने इन्हें प्रदान किया हुआ है।

श्रीनारायणस्वामी (टाटबाबा) भगवान् नारायणके आदेशसे ही श्रीभाईजीसे मिलने आये हैं। इन्हें भगवान् नारायणने जगत्–कल्याणके लिये जो भी नियमावली बतायी है, उसे ये गीताप्रेससे प्रकाशित करवानेके लिये श्रीभाईजीको समर्पित करने ही गोरखपुर आये हैं।

मैंने अपने परिवारके सभी स्त्री–पुरुष–बच्चोंको इन महात्माजीकी यह सिद्धि दिखायी है। ये हम सभीपर अतिशय कृपालु हैं। मेरी अ.सौ. माताको इन्होंने नामजप करनेका विशेष निर्देश दिया है।

* * *

प्रसंग ५

॥ श्रीहरि ॥

स्थान : बंगालीबाबूका बगीचा गोरखनाथ मन्दिरके पास, गोरखपुर

आश्विन कृष्ण चतुर्थी वि.सं. १९९० शुक्रवार ता. ८ सितम्बर, १९३३ ई.

आज सायंकालके सत्संगमें श्रीभाईजीने श्रीकृष्णाष्टकके पश्चात् श्रीनारायण स्वामीका '**जाहि लग लगी घनस्यामकी**' पद–गायनका आदेश दिया। (गोरखपुरमें पधारे हुए उपर्युक्त पूर्ववर्णित नारायणस्वामी पदरचनाकर्त्ता नारायणस्वामीसे भिन्न हैं)।

पदगायनके पश्चात् श्रीभाईजी आधे तो भावावेशमें थे एवं आधे विनोदरत थे। वे कह रहे थे — "जैसी हेतुरहित अगाध प्रीतिका दिग्दर्शन इस पदमें हुआ है, वैसा जीवनमें उतरना दुर्लभ है। आज तो ऐसे निश्छल प्रीतिसम्पन्न महात्मा ही नहीं दिखते जो इस प्रकारके पदोंके भावोंमें निरन्तर डूबे रहते हों। गोपीके अतिरिक्त और कौन है, जिसमें ऐसी प्रीति प्रकट हो। यह पद प्रीतिजगत् की एक पवित्र निधि है।" इसके पश्चात् आन्तरिक विह्वलतावश भाईजी कुछ कालके लिये मौन हो जाते हैं। किञ्चित् संवरित होनेपर इस पदका भाव कहने लगते हैं। वे कहते हैं कि "गोपीका तन तो उसके घरमें रहता है, परन्तु मन तो सदैव पूरा-का-पूरा श्रीकृष्णके निकट ही अवस्थित रहता है।"

"अहा! कैसी शोभा होती है उसके प्राणवल्लभ श्रीकृष्णकी! मानो ये श्यामलताके अनिर्वचनीय फल हों, जो मधुर सुस्वादु रससे पूरित हुए उस गोपीकी लोभनीय वस्तु बन गये हैं। कैशोरभाव उनके अंग-प्रत्यंगोंमें समस्त मधुरिमा और उच्छलित आनन्द उड़ेल रहा होता है। घुँघराली अलकें उनके कपोलों एवं ललाटपर झूलती रहती हैं। वे गोपीका पूरे-का-पूरा चित्त अपनेमें संलग्न कर लेते हैं। इसीलिये गोपी पैर कहीं रखती है और उसके पैर पड़ते हैं किसी और स्थानपर। उसे अपने निवास स्थानकी भी सुधि कैसे रहे? उसका पूरा चित्त तो देख रहा है अपने प्राणवल्लभके गोखुरोंसे उड़ी धूलिसे भरे आननको। ओह! कुन्तलमण्डित मस्तकपर मयूरपिच्छका मुकुट कितना शोभामय है! केशोंमें सुरभित वन्य प्रसून ग्रथित हैं। उसके प्राणपतिके नेत्रोंकी मनोहर चितवन और अधरोंपर व्यक्त मृदु स्मितकी शोभा देख लेनेके पश्चात् भी क्या उसे संसारमें कुछ सार समझमें आ सकता है? यह तो स्वाभाविक ही है कि अब तो जिधर श्यामसुन्दर उसे दिखें, उधर ही वह दौड़ पड़ेगी। भला, वेणुके छिद्रोंमें स्वर भरता वह नवकिशोर नटवर जिसे दिख जावे, फिर उसे छाया-घामकी क्या परवाह? वह तो अपने नवकिशोर प्रियतमके चरणोंमें न्यौछावर हो गई। जिसे वह श्यामसुन्दर कदम्ब

वृक्षके नीचे वेणु बजाता, भौहें मटकाता दिख जावे, उसके प्राण तो निश्चय ही उसी क्षण देह छोड़कर अपने प्राणवल्लभसे मिलने उड़ चलते हैं। जब देहमें प्राण रहें ही नहीं तो फिर निन्दा-स्तुतिकी किसे परवाह? अब तो वह या तो सर्वथा विक्षिप्त चित्त घूमती रहेगी, या श्यामसुन्दर उसकी देहमें अपने प्राण समाहित कर उससे भले ही जो इच्छा हो, सो करवावें। वह अब संसारके प्रयोजनकी वस्तु न रहकर मात्र भगवान्‌के प्रयोजनकी ही हो जाती है।"

इस प्रकार पूरे पदकी व्याख्या करते-करते ही भाईजी भगवान्‌के आशिख ध्यानमें निमग्न हो गये। आसनपर उनका हलचल रहित शरीर सर्वथा स्थिर था। श्वास-प्रश्वासके अतिरिक्त न कोई कम्पन, न ही कोई स्पन्दन; वार्त्ता करते-करते ही मनकी सम्पूर्ण चञ्चलताओंसे अतीत हो जाना — वस्तुतः परम विस्मयकारी था। सारे दिवस अत्यधिक सक्रियता, सबकी चिन्ता-व्यवस्था करना, कल्याण-गीताप्रेस — सबकी सुचारु व्यवस्थामें निरत रहना और एक क्षणमें ही पूर्ण शान्ति। इसके लिये न कोई आयास, न ही इस चरमान्तर्मुखताकी लोकोत्तर स्थितपर आरूढ़ होनेमें कोई विलम्ब। तुरन्त चरम निवृत्तिकी विलक्षण स्थिति — वस्तुतः इससे बड़ा सहज योगी कौन हो सकता है?

मैं विचार कर रहा था कि श्रीभाईजीके शरीरमें हलका-सा कम्पन हुआ। वे धीरे-धीरे बोल उठे — "देखो, देखो! शोभासमुद्र गोपीवल्लभ श्रीकृष्ण गौओंके पीछे-पीछे असीम रस बरसाते आ रहे हैं। उनकी चाल इतनी सुन्दर है कि लगता है मानो वे नृत्य करते चल रहे हैं। इनके संकल्पसे इनकी अञ्जलिमें स्वतः ही बृन्दावनके सुरभित पुष्प भर जाते हैं और ये इन्हें इनकी ओर सतृष्ण नेत्रोंसे निहारती हुई, अटारियोंपर चढ़ी गोपियोंपर ऐसे रसमय ढंगसे उछालते हैं कि पुष्प सीधे उनके मस्तकपर गिरकर सारे शरीरपर बरस जाते हैं। ये गोपियाँ भी इनके प्रत्युत्तरमें इनपर

सुन्दर–सुन्दर वनमालायें फेंकती हैं और श्रीकृष्ण इन वनमालाओंसे आकण्ठ भर जाते हैं। चारों ओरसे गोपियों द्वारा इतने पुष्प बरसाये जा रहे हैं कि नन्दग्रामका सारा राजपथ ही रंग–बिरंगा पुष्पमय हो रहा है।"

वर्णन करते–करते श्रीभाईजी **'राधारमण जय कुंज बिहारी, मुरलीधर गोवर्धनधारी'** का संकीर्त्तन कराने लगे। वे ताली बजा–बजाकर संकीर्तन कर रहे थे। यह कीर्त्तन बहुत कालतक होता रहा। समय हो जानेसे इसी कीर्त्तनके पश्चात् सत्संगका समापन भी हो गया।

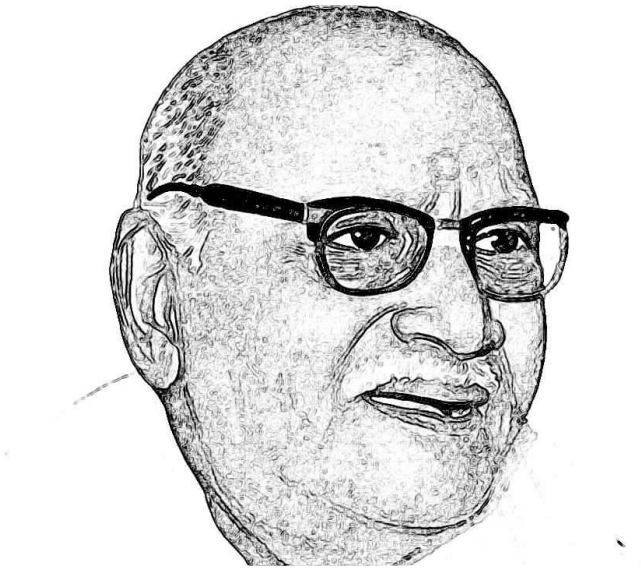

पूज्य श्रीभाईजीद्वारा समाधि अवस्थामें मन्त्रदान

उपरोक्त वर्णित दिव्य साधन-सत्रके पश्चात् इसके अगले वर्ष अर्थात् सं. १९९१ वि. के आश्विन मासमें पुनः इसी प्रकारके दिव्य सत्रका आयोजन पूज्य श्रीभाईजीने किया। पूरे आश्विन मास पद-संकीर्त्तन, सत्संग आदि चलते रहे।

यह घटना शरद-पूर्णिमाकी है। रात्रिके समय सबके मनमें बड़ा उत्साह था। पूज्य श्रीभाईजीने श्रीगोस्वामीजीसे श्रीकृष्णाष्टक सुना तत्पश्चात् श्रीभाईजीके संकेतसे श्रीगोस्वामीजीने पदगायन किया। पद-संकीर्त्तनके बाद श्रीभाईजीने रासपञ्चाध्यायीके अनुसार मधुर वर्णन करना प्रारम्भ किया। श्रीभगवान्‌के वंशी-वादनको सुनकर गोपियोंके अपने-अपने घरोंसे प्रस्थानका वर्णन बड़े ही सुमधुर ढंगसे करते-करते श्रीभाईजी गद्‌गद हो गये और बोलना बंद करके संकीर्त्तन प्रारम्भ किया। थोड़ी देर पश्चात् पुनः प्रकृतिस्थ होकर श्रीभाईजी बोलने लगे — श्रीभगवान्‌ने स्त्रियोंके धर्म बताये, लौटनेको कहा, गोपियाँ निराश होने लगीं, परीक्षाके बाद रासनृत्यका वर्णन करते-करते श्रीभाईजी पुनः समाधिस्थ हो गये। पुनः संकीर्तन प्रारम्भ हुआ। थोड़ी देर पश्चात् श्रीभाईजी गद्‌गद कण्ठसे बड़ी कठिनतासे बोले — "श्रीभगवान् अन्तर्धान हो गये तब गोपियाँ बड़ी कातर प्रार्थना करने लगीं, फिर भगवान् प्रकट हुए"— ऐसा कहते-कहते श्रीभाईजी पुनः मौन हो गये। कुछ देर पश्चात् श्रीभाईजी और उपस्थित सभी व्यक्ति खड़े होकर नृत्य करते हुए संकीर्तन करने लगे। श्रीभाईजी बड़ा ही भाव-पूर्ण नृत्य कर रहे थे, पर नृत्य करते-करते ही वे भावावेशमें मूर्छित होकर गिर पड़े। बहुत देर पश्चात् श्रीभाईजीके सम्मुख बैठे श्रीरामजीदासजी बाजोरियाने कहा कि हम लोगोंको भी भगवान्‌के दर्शन होने चाहिये। श्रीभाईजीने कोई उत्तर नहीं दिया, क्योंकि वे अभी भी इस प्राकृतिक राज्यमें नहीं थे। बाजोरियाजीने कई बार कहा, तब श्रीभाईजी बोले — "सब लोग चले गये।" बाजोरियाजीने फिर पूछा — 'कौन चले गये ?' श्रीभाईजी बोले — "सब लोग चले गये, केवल हमलोग ही रह गये हैं।" बाजोरियाजीने पुनः पूछा — 'हमलोग कौन-कौन ?' श्रीभाईजी बोले— "केवल

दो थे एक श्रीविशाखाजी और एक मैं।" रामजीदासजी समझे नहीं, उन्होंने फिर पूछा कि दो कौन–कौन थे ? इस बार श्रीभाईजी खूब अट्टाहासपूर्वक हँसने लगे। थोड़ी देर बाद रामजीदासजीने पुनः दर्शन करानेकी प्रार्थना की, तब भाईजी बोले — "कौन चाहता है दर्शन करना ? कोई तो यहाँ तमाशा देख रहे हैं, कोई ढोंग या पाखण्ड करते हैं । श्रीराधाकृष्णपर विश्वास करो । यदि दर्शन चाहते हो तो — **'ॐ क्लीं श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः'** — इस मंत्रका ब्रह्मचर्यपूर्वक एक वर्षतक प्रतिदिन तीन हजार जप करो।"

इसके कुछ देर बाद श्रीभाईजी प्रकृतिस्थ हो गये। तब उन्होंने लोगोंसे पूछा कि क्या हुआ ? पूरी घटना ज्ञात होनेपर श्रीभाईजी बोले — "मुझे कुछ भी नहीं मालूम कि मैं क्या कह गया। जबसे मैंने संकीर्तनमें बोलना बन्द किया तबसे अबतक यहाँ क्या हुआ, मुझे कुछ भी स्मरण नहीं।"

इसके पश्चात् तो भाईजी बहुत ही सावधान हो गये। वे न तो भावपूर्वक आगे–आगे बोलकर संकीर्तन कराते एवं न ही ऐसी बातें कहते जिससे भावोद्दीपन हो जाये

परम पूज्य श्रीभाईजी एवं पूज्य श्रीगोस्वामीजी भोजन करते हुए

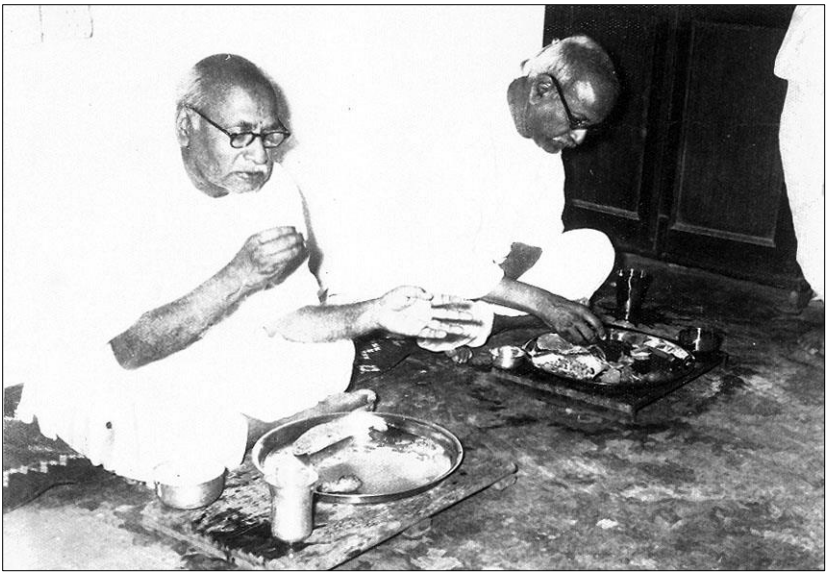

परम पूज्य श्रीभाईजी एवं पूज्य श्रीगोस्वामीजी भोजन करते हुए

परम पूज्य श्रीभाईजी एवं पूज्य श्रीगोस्वामीजी भोजन करते हुए

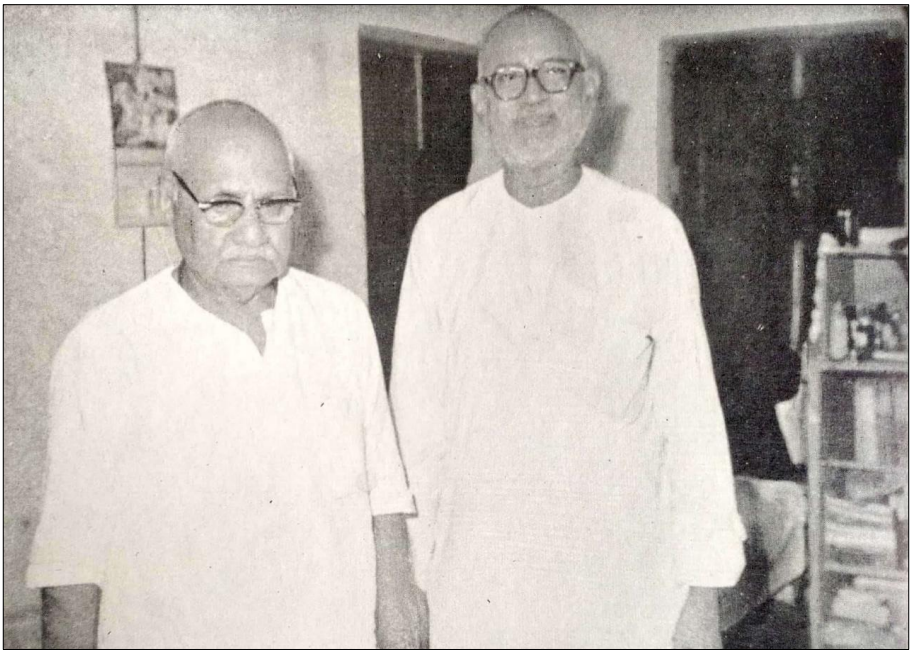

परम पूज्य श्रीभाईजीके साथ पूज्य श्रीगोस्वामीजी

सन् १९५६ में तीर्थयात्राके क्रममें उज्जैनमें परम पूज्य श्रीभाईजी एवं पूज्य श्रीगोस्वामीजी

(श्रीभाईजीके पीछे)

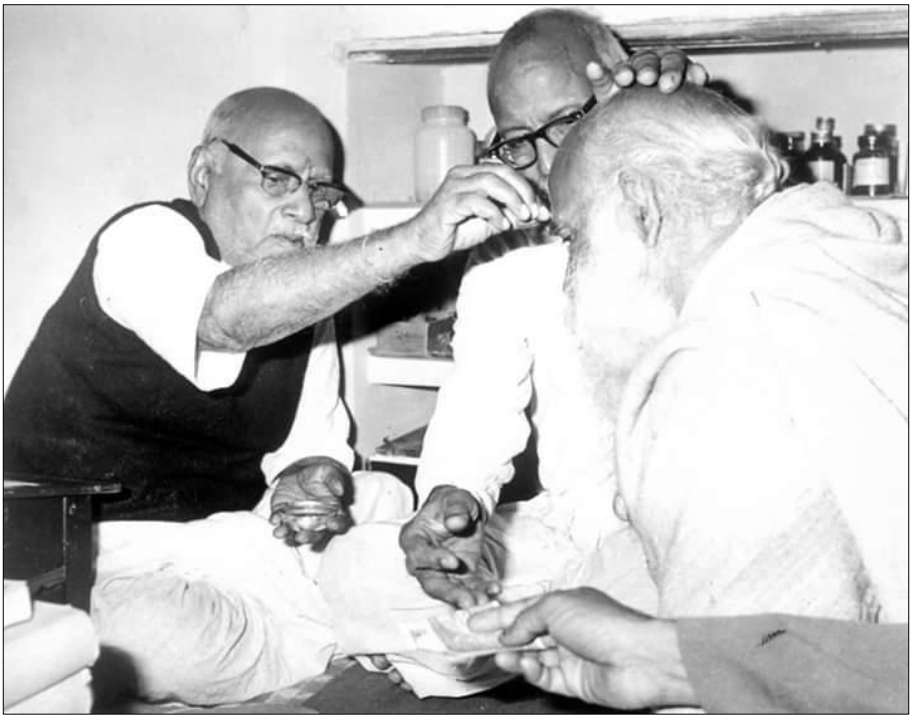

श्रीभाईजी, श्रीगोस्वामीजी एवं श्रीनन्दबाबा

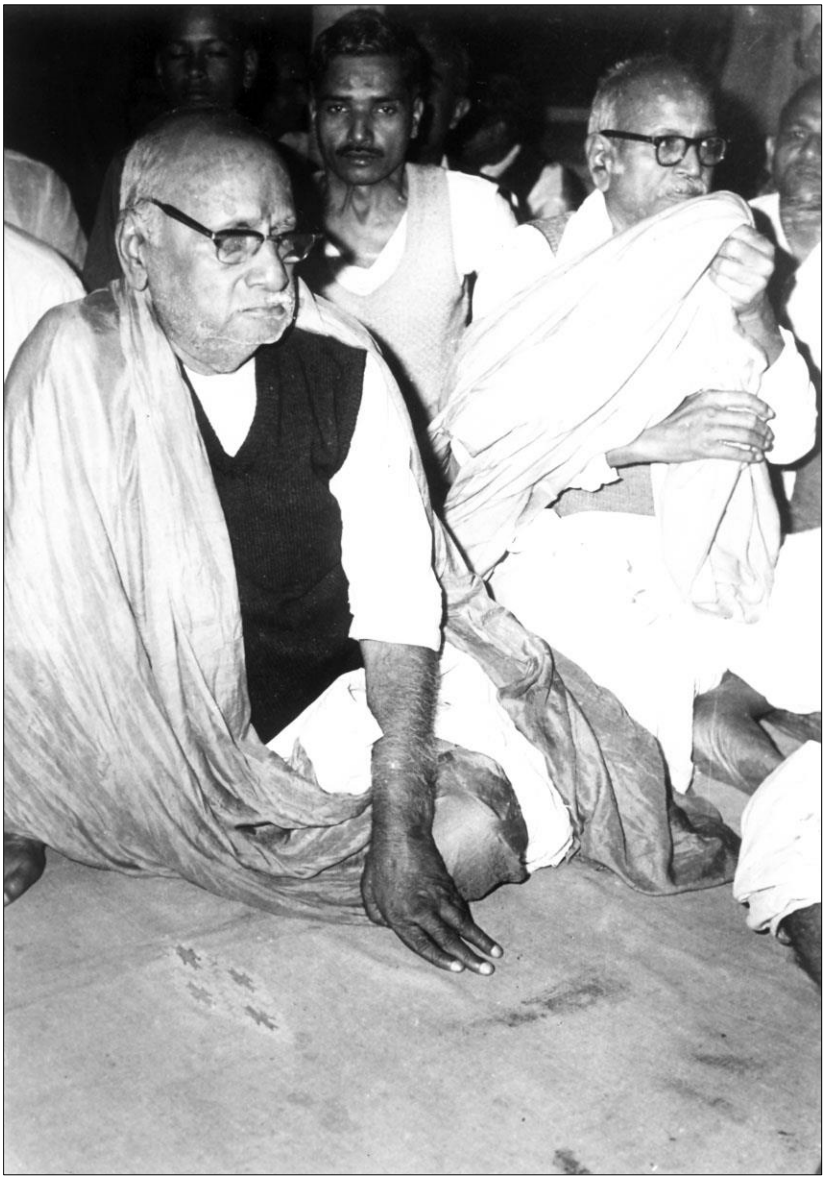

परम पूज्य श्रीभाईजीके साथ पूज्य श्रीगोस्वामीजी

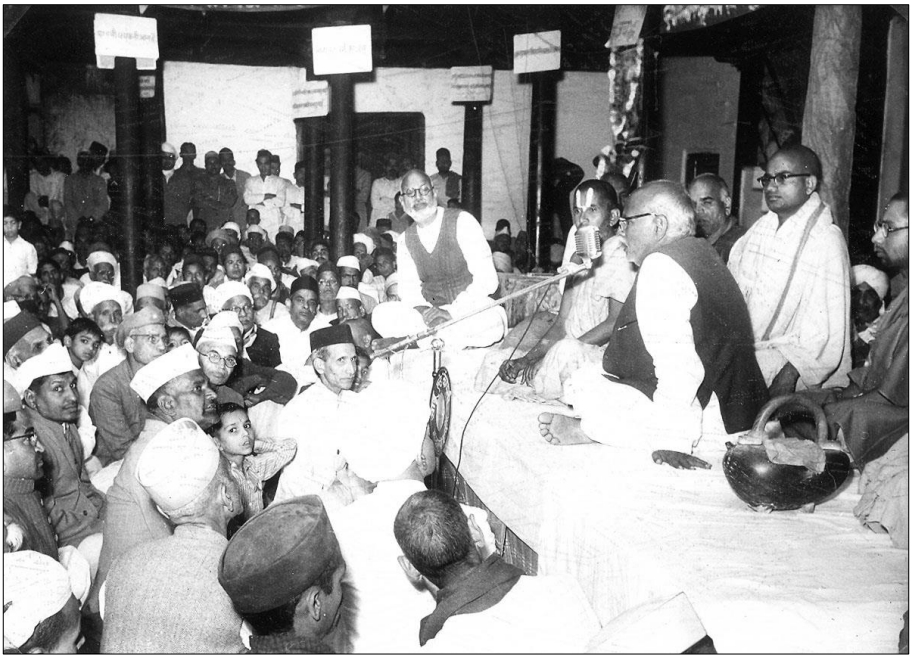

गीताभवन, ऋषिकेशमें परम पूज्य श्रीभाईजीका प्रवचन श्रवण करते पूज्य श्रीगोस्वामीजी एवं अन्य सत्संगीजन

मृगमद–सुरभि

परम पूज्य श्रीबाबा द्वारा पूज्य श्रीगोस्वामीजीको समय–समय पर दिये गये उपदेशोंका संकलन।

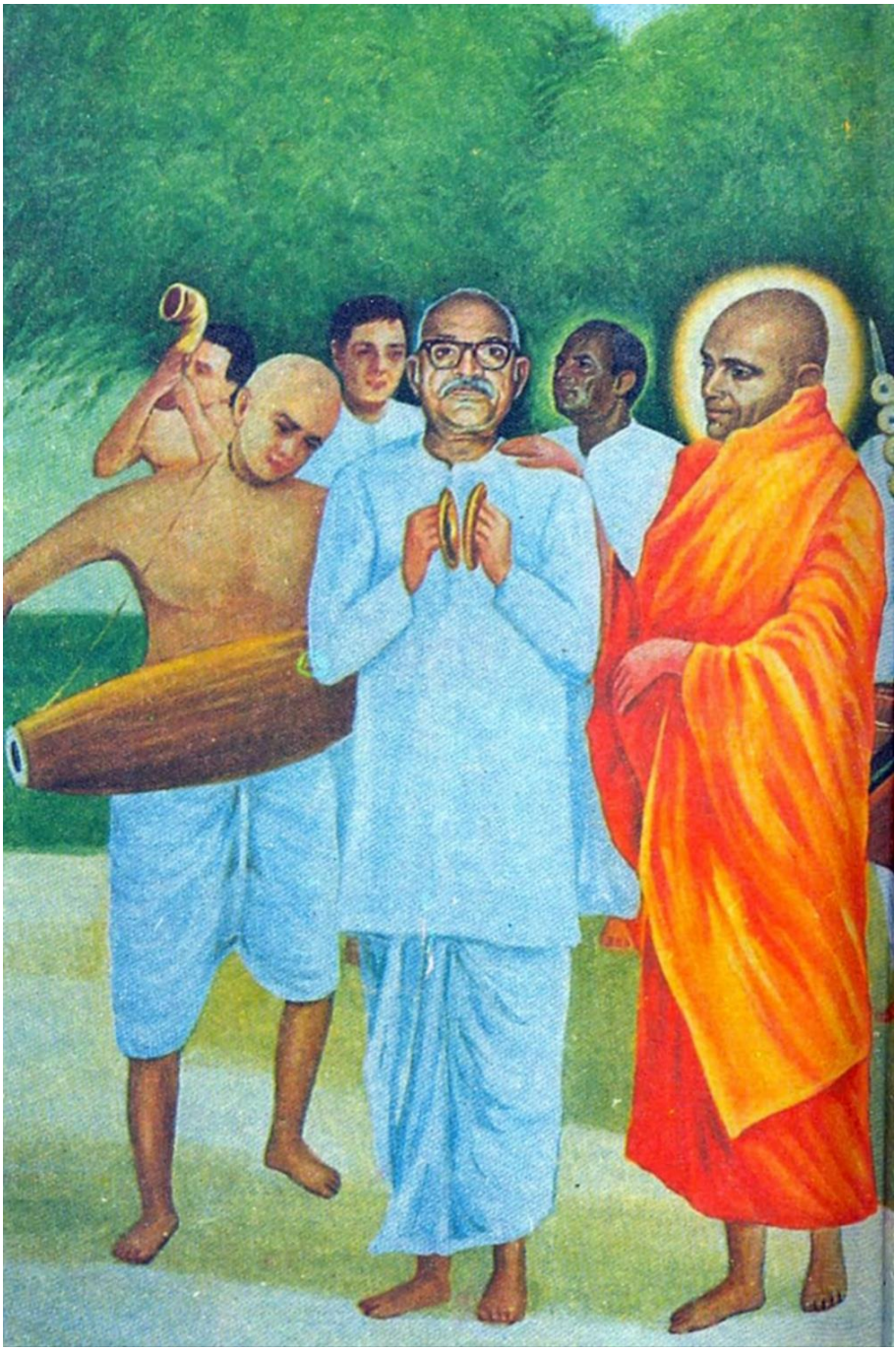

परम पूज्य श्रीराधाबाबा एवं पूज्य श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी

सन्त–समर्पण–तत्त्व एवं पूज्य सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी महिमा

(पूज्य स्वामी श्रीकृष्णप्रेमजी)

[परम पूज्य श्रीराधाबाबाद्वारा भाद्रपद शुक्ल अष्टमी, विक्रम सं० २००६ को पूज्य श्रीगोस्वामीजीको दिया गया उपदेश]

उस दिवस राधाष्टमी महोत्सव था। बात सन् १९४९ ई० की है। पू० श्रीराधाबाबा इस निशामें नियमतः जागरण किया करते थे। उन दिनों जन्माष्टमी–राधाष्टमी महोत्सव इतने बृहद् रूपमें तो नहीं होते थे, जैसे आज होते हैं, किन्तु पद–गायनादिमें ज्यों–की–त्यों आजकी ही परिपाटीका वर्त्तन होता था। बाह्यावेशी जनसमुदायके न होनेसे वातावरण अतिशय सात्त्विक रहता था। इन सभी उत्सवोंमें कीर्त्तन–बधाई, पद–गायनादिका उत्तरदायित्व मेरे पूर्वाश्रमके मातुल (मामा) श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी निर्वाह करते थे और उद्दाम नाम–संकीर्त्तन, जो उन दिनोंके उत्सवोंका प्राण कहा जाता था — का नेतृत्व एवं संचालन पू० गुरुदेव श्रीराधाबाबा स्वयं किया करते थे। वह संकीर्त्तन इतना अधिक रसोच्छलन करता था कि उसे शब्दोंमें व्यक्त किया ही नहीं जा सकता। संकीर्त्तनमें सम्मिलित होनेवाले प्रायः अधिकांश लोगोंको न तो कालज्ञान रहता था और न ही देह–सुधि। यह उद्दाम नाम–वारिधि गरजता–उछलता तीन–साढ़े तीन घंटेके पूर्व विरमित नहीं होता था और इसके रसमें निपतित लोगोंको इसका विराम होना इतना कटु लगता था, जैसे उनको अपने जीवनरससे ही वंचित कर दिया गया हो। प्रायः स्वयं पोद्दार महाराज अपने सम्पादन–कक्षसे उत्सव–स्थलमें आकर ही, अतिकाल हुआ मान इसे विराम दिलाया करते थे। उनकी वह आशीर्वादसे भरी, अनुग्रह प्रवाहित करती छवि, उनके वे विशुद्ध सत्त्वकी वर्षा करते नेत्र, जब संकीर्त्तन करते लोगोंको संकीर्त्तन–विरामका संकेत देते थे, उस समय अनेक बार तो रसोर्मियाँ इतनी उमड़ उठती थीं कि घण्टे–पौन घण्टेतक तो उस रस–स्रोतका रुकना असंभव ही लगता था। फिर जब स्वयं पू० गुरुदेव ही संकीर्त्तन–निवृत्त हो जाते और विराम कर देते तब सहयोगी अनुसरणकर्त्ताओंको रुकना ही पड़ता था।

मेरे पूर्वाश्रमके मामाजी (श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी)–का कण्ठ इतना सुरीला था कि उनके द्वारा गाये गये बधाई और श्रीराधामहिमाके पदोंकी बन्दिश एवं स्वरमाधुरी सारे वातावरणको किसी अपूर्व रसमय लोकमें पहुँचा देती थी। मुझे (श्रीकृष्णप्रेमजीको) हारमोनियम वाद्यमें साथ देकर मेरे मामाजीके अनुगत हो पदगायन भी करना होता था एवं पू० गुरुदेवके साथ भी ढोलक अथवा बंगाली मृदंग (खोल) बजाकर संकीर्त्तनमें सम्मिलित होना होता था। दिनभरका उपवास, फिर संकीर्त्तनमें निरन्तर अथक परिश्रम — सायंकाल पू० गुरुदेवकी भिक्षामें प्रसाद लेकर मैं इतना अधिक श्रान्त हो गया था कि सोच रहा था, जाकर गहरी निद्रामें डूब जाऊँ। आगामी दूसरे दिवस भी तो दधिकर्दमोत्सव सम्पन्न करना था, और उसमें आजकी अपेक्षा भी अधिक उत्साह और श्रमपूर्वक योगदान करना था ही। कल भी इसी प्रकार पुनः उद्दाम संकीर्त्तन भी होना था और पदगायनादि भी सभी पूर्वक्रमसे ही होने थे। ऐसी ही प्रतिवर्षकी परम्परा थी। अस्तु,

मैं शयन करनेका उपक्रम कर ही रहा था कि पू० गुरुदेवका बुलावा आ गया। पू० गुरुदेवका आदेश था कि आज निशापर्यन्त उनके साथ मुझे भी जागरण करना है। उनकी ऐसी रोमाञ्चकारी उत्प्रेरणा थी कि जहाँ–जहाँ भी राधाष्टमी महोत्सव मनाया जाता है, इस निशाकालमें प्रिया–प्रियतम श्रीराधा–माधव स्वयं उस उत्सव–स्थलीका निरीक्षण करने पधारते हैं और जिन्हें इस निशामें भी जाग्रत्, सत्वपरायण एवं भजनरत पाते हैं, उनपर अपनी कृपादृष्टि एवं अनुग्रहकी वर्षा कर जाते हैं।

पू० गुरुदेवके इस कथनके पश्चात् फिर शयनका तो कोई प्रश्न ही नहीं था, फिर भी अतिशय श्रमसे हुई शारीरिक थकानसे नयनोंमें खुमारी आ रही थी। पू० गुरुदेवने मुझे सर्वथा तमोगुणमुक्त रखनेके लिये ऐसा रोचक प्रसंग छेड़ दिया कि मैं पूर्ण समुत्सुक हो उठा। वे मौनव्रती थे, अतः अपनी स्लेटपट्टी पर लिखकर ही सभी वार्त्ता किया करते

थे। वे लिखकर कहने लगे — "भैया ! आजकी इस परम पुनीत निशामें मैं तुम्हें महासिद्ध सन्तोंकी कृपाको अपने भीतर अवतरित करनेके ऐसे अतिशय सरल साधन बतलाऊँगा कि यदि तू इन साधनोंको अपनाकर सर्वोच्च कोटिके सन्तोंको अपना आत्म-समर्पण कर दे तो इसी क्षण तेरी पारमार्थिक स्थिति श्रीपोद्दार महाराजके समकक्ष हो जाय।"

पू० गुरुदेवकी कहनेकी शैलीने मुझे इतना समुत्सुक कर दिया था कि मैं अतिशय जागरूक हुआ, दत्तचित्त होकर उनकी बातें सुनने लगा।

वे कहने लगे — "देख भैया ! चाहे कितना ही घना अन्धकार हो, घनघोर तमसाच्छन्न निशा हो, किन्तु रविकी प्रथम किरणके संस्पर्श होते ही क्षण भी लगता, पलक झपकते ही समग्र अन्धकार विनष्ट हो जाता है। अतः बस, तू अपना पूर्ण आत्मसमर्पण किसी भी सच्चे सिद्ध सन्तको कर दे, इसी क्षण तेरे जीवनमें ऐसा रस-संप्लावन होगा कि उस महासिद्ध सन्तसे तेरा एकात्म मिलन हो जायेगा और जो वे हैं, जैसे वे हैं, इसी पल तू भी वही और वैसा ही हो जायेगा। तुझमें और उन महासिद्ध सन्तमें कहीं, कोई, किसी भी प्रकारका लेशमात्र भी अन्तर नहीं रह पावेगा।"

पू० गुरुदेव कह रहे थे — "भैया ! देवमणि पारसका एक लघु-सा खण्ड मात्र यदि लोहेके विराट-से-विराट आगारसे संस्पर्शित करा दिया जाय, लोहेकी सर्वदेशमें विस्तृत रेललाइनसे भी उसका संस्पर्श हो जाये तो समग्र लोहा एक क्षणमें मूल्यवान् स्वर्णमें परिवर्तित हो सकता है; उस देवमणि पारसमें भी यह सामर्थ्य नहीं है कि संस्पर्शित होनेवाले लोहखण्डको वह अपने समान पारस बना सके। किन्तु सन्त अपनेसे जुड़े पापी-से-पापी, दुराचारी-से-दुराचारीको भी त्रिजगन्मंगलकारी संत बनानेमें पल भर भी विलम्ब नहीं करते और इस प्रकार वे सन्तत्वकी परम्पराका निर्माणकर, अनादि, अनन्तकाल तक भगवत्प्रीतिकी गंगा प्रवाहित करते रहते हैं। इस

प्रकार यह सन्तत्वकी धारा इस त्रिलोकीमें अक्षुण्ण, निर्बाध, सतत प्रवाहित रहती है, कभी भी सूख नहीं पाती।"

"भैया ! सच मान लेना, लोक–परलोकके कल्याणके लिये ऐसे सन्तोंके समान परोपकारी कोई नहीं है। जीवके लिये सन्त–मिलन जन्म–जन्मान्तरोंका शुभ फलोदय है। ऐसे महासिद्ध सन्तोंका सेवन, आज्ञापालन ही जीवका सबसे बड़ा सदाचार है। इन सन्तोंकी रुचिपर अपना सर्वस्व बलिदान करना ही जीवकी सबसे बड़ी महत् धर्म–साधना है। इन सन्तोंकी कृपा ही ज्ञान, भक्ति एवं प्रेमानुराग प्राप्त करानेका एकमात्र उपाय है।"

पू० गुरुदेवका वक्तव्य चल ही रहा था कि इतनेमें मैंने देखा कि मेरे पूर्वाश्रमके मामाजी श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी भी मन्द–मन्थर गतिसे चलते हुए हमारी ही ओर आ रहे हैं। उनके आगमनसे तो पू० गुरुदेवके रस एवं उत्साहमें जैसे उच्छलन आ गया। श्रीगोस्वामीजी भी निशा–जागरणार्थ ही पू० गुरुदेवके पार्श्वमें आये थे। अब तो पू० गुरुदेवके सम्बोधनका लक्ष्य मैं न होकर मेरे मामाजी श्रीगोस्वामीजी ही हो गये थे।

पू० गुरुदेवका वक्तव्य अग्रसर हो उठा — "गोस्वामीजी ! अभी मैं महासिद्ध सन्तोंकी महिमा इस बालकको श्रवणगोचर करवा रहा था कि आपका आगमन हो गया। आज इस परम पावन निशा–जागरणके क्षणोंमें मैं आपको सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका महाप्रभुके अमोघ कृपावात्सल्य–प्रवाहके कुछ प्रसंग सुनाऊँगा। ऐसे अनेक अनुभव मुझे हुए हैं, जहाँ इनमें अकर्त्तुम्–सामर्थ्यका प्रकाश हुआ है। श्रीपोद्दार महाराज अब तो महाभाव–सिन्धुमें लहरा रहे हैं, परन्तु जिन दिनों श्रीपोद्दार महाराज विशुद्ध जीव–लीला कर रहे थे, उन दिनों उन्हें किस प्रकार अपनी अमोघ कृपाशक्तिसे सेठजी गोयन्दकाजीने घेरकर परमार्थ–तटपर खड़ा किया और हरहराते ज्ञानरस और भक्तिरसके संप्लावनसे आप्यायित किया, ये सत्य तथ्य आज

आपके सम्मुख इसीलिये प्रकाशित कर दे रहा हूँ कि कहीं मेरे अतिरिक्त इनको जाननेवाला एक साक्षी व्यक्ति तो और हो जावे।"

"गोस्वामीजी ! आपको मेरी बात सुनकर समाश्चर्य होगा, किन्तु मेरी बात सौ-टंच खरी है। श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका प्रभु ज्ञानी संत हैं, किन्तु इनकी ब्रह्मसे एकात्मता जीव-ब्रह्मके अभेदज्ञानके समान अद्वैतपरक नहीं है। यद्यपि मैं इन्हें ज्ञानकी चतुर्थ भूमिकामें प्रतिष्ठित एवं पाँचवी भूमिकाको संस्पर्श करनेवाला दुर्लभ महात्मा मानता हूँ, परन्तु ये ऐसे प्रेमी सन्त हैं, जो भगवान्‌से लेशात्मक पृथक्‌ता रखते हुए भी उनसे नित्य एकात्म भी हैं। श्रीसेठजीके द्वारा भगवान् नारायणके रसास्वादन और चिन्मय विलासमें क्योंकि स्वसुख भावका लेश भी नहीं है, अतः ये अपने इष्ट भगवान्‌के हाथोंके पूर्णतया खिलौना बने हैं। इसीलिये इनकी भगवान्‌से तात्त्विक एकात्मता अक्षुण्ण बनी रहती है। भगवान् और सेठजीमें परस्पर एक दूसरेके सुखमें सुखी होनेकी समचित्त सत्ता है, अतः कोई पृथक्‌ता है भी नहीं। इस प्रकार ये भगवान् नारायणमें सगे-पगे रहते हैं।"

"ये महाप्रभु सेठजी शान्तरसके अगाध वारिधि हैं, जैसे ही कोई अधिकारी-अनधिकारी जीव इनके सम्पर्कमें आता है, दृष्टिपात मात्रसे ये अपने शान्तरस भावके बीज उसमें वपन कर देते हैं। इन सन्तोंमें त्रिगुणात्मक शरीरधारी होनेसे भले ही हमें रक्त प्रवाहित होता दीखे, किन्तु इनके आन्तरिक जीवनमें परमात्मा-ही-परमात्मा प्रवाहित होता रहता है, इनका किसी भी जीवकी ओर देखना, उसे संस्पर्श करना, उससे बोलना, सम्पूर्ण व्यवहार ही भगवन्मय, भगवन्नियन्त्रित होता है। अतः इनको स्पर्शकर बहनेवाली वायु भी भगवद्बीज-वितरणकारिणी होती है।"

"हाँ, उस बीजका पल्लवन, उसका कुसुमित होना, साथ ही फलान्वित होना तभी सम्भव होता है, जब कोई महाभाग्यवान् संबीजित व्यक्ति ऐसे महापुरुषोंको अपना

सर्वात्मसमर्पण कर देता है । इस पूर्ण समर्पणमें जितनी भी न्यूनता रहती है, उसके फलस्वरूप ही जीवका पृथक् व्यक्तित्व उसे माया–जंजालमें उलझाये–फँसाये रखता है।"

"गोस्वामीजी ! सच्ची बात यह है कि पृथक् व्यक्तित्वका यह तटबन्ध ही महासिद्ध सन्तोंके द्वारा निर्बाध, सतत प्रवाहित, चिन्मय रस–सम्प्लावनसे हमें शुष्क, अछूता एवं अस्पृश्य रखे है । यह तटबन्ध ऐसा अभेद्य अवरोधक है, जिसे जीव स्वयं ही मात्र अपनी स्वेच्छा, चाहसे तोड़ सकता है । क्योंकि यह अहम्–मूलक तटबन्ध जीवको जैविक स्वाधीनताके रूपमें भगवत्प्रदत्त है। यह अहं जब एवं जिसका, जितना समर्पित होता है, उतनी ही इन सन्तोंकी कृपाधारा उसे संप्लावित कर पाती है।"

"ऐसा नियम तो हम प्रकृतिमें भी सर्वत्र देखते हैं । हिमालयसे प्रवाहित अनन्त जलधाराएँ उसी भूमीकी ओर प्रवाहित होती हैं, जो नमित है । ऊँची भूमिके एक कणको तो वे संसिक्त भी नहीं कर पातीं। अतः इसे अटल अमोघ नियम ही मान लेना चाहिये कि भगवान्के पथमें अग्रसर होनेवाले साधकके लिये बढ़े हुए अहंकारसे बढ़कर दूसरा कोई प्रबल अवरोध नहीं है । इस भगवत्प्राप्तिरूप साधनामें सिद्ध सन्तोंको आत्मसमर्पण अवश्यंभावी है, इसके सिवा इस साधनामें प्रवेशका दूसरा कोई उपाय ही नहीं है।"

"गोस्वामीजी ! मेरी इस बातको निश्चय ही गाँठकी तरह बाँध लीजिये कि भगवत्प्राप्तिकी साधनाका प्रथम सोपान ही यह है कि महासिद्ध सन्तोंका दर्शन प्राप्त हो जाय, फिर किसी भी हेतुसे उनकी कृपा–निलय आत्मीयताके घेरेमें हमारा प्रवेश हो जाय, और तब उनके प्रति सर्वात्मसमर्पणकी प्रेरणा और योग्यता प्राप्त हो जाय।"

"गोस्वामीजी ! आज इस परम पवित्र निशाजागरणमें जब आप मेरे संग हो ही गये हैं, तो आपको मैं पोद्दार महाराजके जीवलीलाके उन प्रारंभिक साधनामय क्षणोंका

चिन्तन–मनन कराता हूँ, जब श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका–रूपधारी साक्षात् भगवान् नारायणको उन्होंने अपना आत्मसमर्पण किया था। उस आत्मसमर्पणके कारण श्रीजयदयालजी महाप्रभुमें कृपा–वात्सल्यका ऐसा अथाह प्रवाह उमड़ उठा, जो श्रीपोद्दारजीके अभ्युदयका हेतु हो गया।"

"गोस्वामीजी ! सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका–रूप महाप्रभु एक ऐसे मारवाड़ी बनिया संत हैं कि जिन्हें लोग सम्पर्कमें आकर भी ठीक प्रकारसे नहीं पहचान पाते। उनका रहन–सहन, वेषभूषा, मारवाड़ी–मिश्रित ठेठ ग्राम्य बोली — सब कुछ इतना साधारण गृहस्थोचित है कि लोग उन्हें निकटसे देखकर भी मात्र कुशल व्यापारी ही परिलक्षित कर पाते हैं, इन्हें सन्तके रूपमें मान्यता नहीं दे पाते। किन्तु वस्तुतः ये भक्तिमिश्रित ज्ञानके सूर्य हैं। इनपर ऐसी अद्भुत भगवत्कृपा है कि यदा–कदा सहज स्वाभाविक ही इनमें अकर्त्तुम् आध्यात्मिक सामर्थ्यका प्रकाश हो जाता है। परमात्माकी प्राप्तिके लिये जितने त्यागकी आवश्यकता होती है, उससे भी अधिक त्याग उनमें सहज है। "त्यागसे भगवत्प्राप्ति" नामक पुस्तिका इनके आन्तरिक त्यागकी ही प्रकाशिका समझनी चाहिये। इनका अपना न तो कोई काम है, न ही काम्य पद। ये केवल भगवान् नारायणको ही जानते हैं और अपने सहज समर्पण द्वारा सदैव उनके यंत्र बने उनसे ही संचालित होते रहते हैं। यही इनका आन्तरिक जीवन है। इनकी कृपा–सिन्धुके उद्वेलनका मैंने स्वयं अपने जीवनमें अनुभव किया है। इन्होंने अपने प्रथम परिचय और सत्संगमें ही मेरे माया–आवरणका समूल नाश कर दिया था।"

"कोई यह प्रश्न कर सकता है कि श्रीसेठजीके सम्पर्कमें तो सैकड़ों साधक आये हैं और घनश्यामदासजी जालान आदि अनेकों लोगोंने उन्हें पूर्ण जीवन ही सौंप दिया है, फिर वे सभी क्यों नहीं पूर्ण ज्ञानी हो गये, मात्र आप और श्रीपोद्दार महाराज आदि एक–दो व्यक्ति ही क्यों उनकी कृपा–वारिधिमें डूबे, तो इसका यही उत्तर है कि

आत्मसमर्पणकी तरतमता ही इसमें मात्र हेतु है। शरीर–समर्पण कर देना एक बात है और आत्मसमर्पण भिन्न बात है। आत्मसमर्पणमें अहं पूर्णतया विगलित होकर जहाँ सन्तमें मिल जाता है, वहाँ मात्र शरीर और जीवन–समर्पणमें अहं ज्यों–का–त्यों बना रहता है। अध्यात्म वस्तुका संप्रवाह मात्र आत्मसमर्पणमें ही सम्भव है। इसे पूरी तरह जान लेना चाहिये।"

"श्रीपोद्दार महाराजको अध्यात्म पथप्रदर्शकके रूपमें ये श्रीसेठजी सन् १९१०–१९११ ई० में ही मिल गये थे। वस्तुतः भगवत्कृपा ही सन्तमिलनका प्रारब्ध संरचना करती है। जैसा मैंने श्रीपोद्दार महाराजके मुखसे सुना है श्रीसेठजीका इन्हीं दिनों कलकत्ते आगमन हुआ था और उनके सत्संगका आयोजन पगैयापट्टीमें पोद्दार महाराजकी दुकानके ठीक सामने ही श्रीहरिबक्शजी साँवलकाकी दुकानपर हुआ था। मात्र उत्सुकतावश पोद्दार महाराज इनके सत्संगमें गये थे। किन्तु प्रथम मिलनमें ही श्रीसेठजीके प्रेमिल स्वभाव, मौलिक चिन्तन, दम्भहीन अन्तःकरणने इन्हें बहुत ही प्रभावित कर लिया और इन्होंने उन्हें एक सच्चे सन्तके रूपमें मान्यता दे दी।"

"उन दिनों श्रीपोद्दार महाराजकी भगवान्‌की माँग ही नहीं थी, उनकी रुचि ही सामाजिक तथा राजनीतिक गतिविधियोंमें पूरी उलझी थी। उनका कार्यक्षेत्र ही वैश्य–सभा, हिन्दू–क्लब, हिन्दी–साहित्य–परिषद्, कन्या–पाठशालाएँ, मारवाड़ी–रिलीफ–सोसायटी, कलकत्ता–हिन्दू–महासभा आदि संस्थाएँ थीं। उन दिनों स्वतंत्रता आन्दोलन चल रहा था, और बंगालके उग्रवादी वातावरणमें नवयुवक पोद्दार महाराज–जैसे संवेदनशील व्यक्तिके लिये उससे अपनेको असंपृक्त रखना असंभव था। उस समय उन्हें भगवान्‌की प्राप्तिके स्थानपर यह कार्यशीलता ही समयोचित प्रतीत हो रही थी। अतः ये इसमें पूरे रत थे।"

"श्रीसेठजीने श्रीपोद्दार महाराजकी पारमार्थिक मूल भूमिकी उर्वरकताको पहचान लिया, और इनकी पूर्वजन्मकी परिपक्व साधन–सम्पन्नता भी परिलक्षित कर ली। किन्तु फिर भी उन–जैसे अतिशय शक्तिशाली संतको भी इस प्रापंचिक आवरणके कारण श्रीपोद्दार महाराजको आत्मसात कर लेनेमें पाँच–छः वर्ष लग गये। सच्चे महासिद्ध सन्तसे मिलन और उनसे हुई आत्मीयताका वस्तुगुण यद्यपि श्रीपोद्दार महाराजको बार–बार भगवद्भजनकी प्रेरणा देता था, किन्तु राजनीतिक और सामाजिक कार्योंकी रुचि उधर भटका ही देती थी। अन्ततः भगवत्कृपा और महासिद्ध सन्तका अनुग्रह उनपर क्रियाशील हो उठा। और भगवान् घोर विपत्तिके रूपमें श्रीपोद्दार महाराजके सम्मुख प्रकट हो गये। भगवान् श्रीमद्भागवतमें अपने श्रीमुखसे कहते हैं —

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।
ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम्॥
स यदा वितथोद्योगा निर्विण्णः स्याद्धनेहया।
मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम्॥
तद्ब्रह्म परमं सूक्ष्मं चिन्मात्रं सदनन्तकम्॥

(१०।८८।८–१०)

"जिस जीवपर मैं कृपा करता हूँ, उसका सब धन धीरे–धीरे हर लेता हूँ। तब उसके बन्धुगण उसे निर्धन और दुःख–पर–दुःख उठाते देख छोड़ देते हैं। फिर जब बार–बार उद्योग करनेपर भी वह धन–संग्रह करनेमें समर्थ नहीं होता, तब धनकी चेष्टासे विरक्त होकर वह मेरे भक्तोंसे मेल करता है। उस समय मैं उसपर कृपा करता हूँ और तब उसे परम सूक्ष्म चिन्मात्र, सत्यस्वरूप, अनन्त ब्रह्मकी प्राप्ति होती है।"

"ठीक, इसी भगवद्वाक्यानुसार श्रीपोद्दार महाराज चतुर्दिक् विपत्तिरूप भगवदानुग्रहसे घिर गये। इनकी पैतृक सम्पत्ति तो शिलांगके भूकम्पमें १८९६ ई० में ही नष्ट हो गयी थी। कलकत्तेके व्यापारसे जो कुछ प्राप्त होता था, वह राजनीति, समाजसेवा और सन्त-महात्माओंकी सेवामें समर्पित हो जाता था। फिर घरखर्चमें भी दादीजीका उदारस्वभाव, उनकी ब्राह्मणोंकी भक्ति बढ़ोतरी ही करती थी, अतः दुकानमें निजकी पूँजी थी नहीं, मात्र कर्ज था। सन्तोषकी इतनी ही बात थी कि पत्नी परम अनुकूल थी और दादीजी भी सहिष्णु थीं।"

"अब घोर विपत्तिरूप प्रभुकृपाका जब इन्हें साक्षात्कार हुआ तो सरकारने इन्हें राजद्रोहके मुकदमेमें फँसा लिया। क्रान्तिकारी गुप्त समितियोंमें सक्रिय भाग लेनेके कारण पुलिसकी डायरीमें इनका नाम था ही, ये क्रान्तिकारियोंके मुकदमेमें सहयोग करते ही थे, अतः एक दिवस सदल-बल पुलिस इनकी दुकानपर पहुँच गयी और २० जुलाई १९१६ ई० को इन्हें राजद्रोहके अपराधमें बन्दी बना लिया गया। अभी इनका विवाह हुए तीन मास भी नहीं हुए थे, घरमें अकेली स्त्रियाँ थीं, कारावासमें कितने दिन रहना होगा, पता नहीं था, घरमें अन्न-वस्त्र भी कहाँसे कैसे आवेगा, कर्जदार यदि अपने कर्जकी माँग कर बैठे तो स्त्रियाँ कैसे व्यवस्था करेंगी आदि चिन्ताओंने इन्हें पूरा आवृत कर लिया। इनका हृदय तड़फड़ाने लगा। चारों अन्धकार ही दिखाई पड़ने लगा। जब कोई सहारा नहीं दिखा तो श्री सेठजीका सत्संग याद आया। प्रथम मिलनसे ही श्रीसेठजीके प्रति आत्मीयता तो हो ही गयी थी, उनके सत्संगमें नियमित जाना होता ही था। श्रीसेठजी नाम-माहात्म्यपर अनेकों बार सत्संग करा चुके थे, अतः अशरणशरण भगवान्‌के नामका ही अवलम्ब ग्रहण करना उन्हें अन्तिम उपाय समझमें आया। श्रीपोद्दार महाराजने भगवन्नामकी रट लगा दी। भजन करनेकी देर थी कि शान्तिका आविर्भाव होने लगा। शनैः-शनैः व्याकुलता दूर हो गयी। उनकी पारमार्थिक उन्नतिका सूत्रपात प्रारंभ हो गया।"

"श्रीपोद्दार महाराजकी जागतिक मित्रमण्डली तो बहुत बड़ी थी। श्रीअरविन्द, श्रीसुरेन्द्रनाथ बनर्जी, श्रीविपिनचन्द्र पाल, श्रीचित्तरञ्जनदास, श्रीरविन्द्रनाथ ठाकुर (टैगोर), श्रीश्यामसुन्दर चक्रवर्ती, श्रीसखाराम गणेश देउस्कर, सभीके साथ तो पोद्दार महाराजका अन्तरंग सम्पर्क था। ये सभी कलकत्तेके उस समयके धुरीण नेता, धनीमानी और समाजमें पूरी प्रतिष्ठा पाये महानुभाव थे। परन्तु विपत्ति पड़नेपर इनमेंसे किसी एकने भी इनके परिवारकी ओर या इनकी ओर झाँका भी नहीं। मानव सोचता है — प्रभावशाली लोगोंकी मिताई मेरे किसी विपत्तिके निवारणमें हेतु होगी, धनी-मानी परिचित मित्र-समुदाय मेरी संपत्तिमें हेतु होगा, परन्तु होता है सर्वथा ही विपरीत। जब घोर विपत्ति आती है तो प्रभावशाली लोग देखते ही नहीं, परिवारके निकट-से-निकट, रक्तके सम्बन्धी निकम्मा समझ त्याग देते हैं, लोभनीय वस्तुओंके छिनते ही मनुष्य सभीकी दृष्टिमें हेय, उपेक्षणीय और घृण्य हो जाता है। हाँ ! उस समय उसे सच्ची आत्मीयता, मिताई, अपनत्व एकमात्र सच्चे सन्त-जगत्से ही मिलती है। इस घोर विपत्तिके समय भी श्रीसेठजी जयदयालजी ही ऐसे थे जो अंग्रेज सरकारके भयसे सर्वथा न घबड़ाते हुए श्रीपोद्दार महाराजकी पारिवारिक स्त्रियोंकी सक्रिय एवं सब प्रकारकी सहायता करते रहे। बराबर वे जब-जब कलकत्ते आते उनसे मिलते, उन्हें आत्मीयता, सांत्वना और यथावश्यक सहयोग देते। श्रीपोद्दार महाराजको श्रीसेठजीने लौकिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकारसे सम्हाला।"

"श्रीपोद्दार महाराजको सेठजीकी यही अनुपम अनमोल पारलौकिक सहायता मिली कि उनका उस समयका घोर मानसिक विपत्तिपूर्ण जीवन एक कठोर साधनाका उपक्रम हो गया। भगवन्नामकी कृपासे सरकारके द्वारा पूरी चेष्टा करनेपर भी ठोस आधार नहीं मिलनेसे राजद्रोहका मुकदमा चलाना संभव नहीं हो पाया। सन्देहके आधारपर सरकार लम्बे समयतक जेलमें भी नहीं रख सकी। अतः भारत-रक्षा-कानूनका सहारा लेकर इन्हें अनिश्चित कालके लिये नजरबन्द करनेका आदेश दे दिया

गया। इनको बाँकुड़ासे २४ मील दूर शिमलापाल नामक ग्राममें आनेका आदेश मिला ।

"शिमलापालका जीवन एक कठोर साधनाका सोपान हो गया। थोड़े ही दिवसोंमें उनकी वृत्ति ध्येयाकार होने लगी। भगवान्‌के ध्यानमें श्रीपोद्दार महाराजको इतना रस आने लगा कि प्रातः, दुपहरी एवं संध्या तीन-तीन घण्टे ध्यानमें व्यतीत होने लगे। मात्र जो भी अल्प समय शारीरिक आवश्यक कार्यों —शौच, स्नान, भोजनादिमें लगता, उसे छोड़कर शेष सभी समय नामजप एवं स्वाध्यायमें लगने लगा। इसका फल यह हुआ कि इन्हें आँखें खुली रहते विष्णु भगवान्‌की मूर्त्तिका ध्यान होते लगा। नामजपमें इतना रस आने लगा कि नामजप छूटना असह्य हो जाता। जीभ सतत बिना प्रयास नामजपमें लगी रहती। आध्यात्म-साधनाको जहाँ इतना दुरूह कहा जाता है कि —

जन्म जन्म मुनि जतनु कराहीं।

अंत राम कहि आवत नाहीं॥

—वहाँ श्रीपोद्दार मात्र एक-डेढ़ वर्षके अत्यल्प साधन कालमें ही सन्तप्रवर श्रीसेठजीकी कृपासे उस उत्तम स्थितिमें पहुँच गये कि इन्होंने शिमलापालकी नजरबन्दीके कालमें "प्रेम-दर्शन" नामसे देवर्षि नारद-प्रणीत भक्तिसूत्रोंकी अत्युत्कृष्ट टीका लिख ली। इसका प्रकाशन कुछ संशोधनों सहित आगे जाकर गीताप्रेससे हुआ । इस ग्रन्थमें प्रेमरूपा भक्तिकी इनके द्वारा की गयी ऐसी सरल एवं गम्भीर व्याख्या है जो कि चिरकालके लिये विश्वके भक्तिमार्गी जीवोंके मननमें पथ-प्रदर्शकका कार्य करेगी। यह टीका इतनी अनमोल भक्तिग्रन्थ हो गयी कि स्वयं श्रीनारदजीने जब श्रीपोद्दार महाराजको सन् १९३६ ई० में दर्शन दिये तो इस पुस्तककी सराहना की।"

"इस नजरबन्दीकी अवधि मात्र इक्कीस मास चली। इस अवधिके पश्चात् इन्हें बंगालसे निष्कासित कर दिया गया। बंगाल त्यागकर ये अपने ग्राम रतनगढ़ आ गये और कुछ दिन पश्चात् श्रीजमनालालजी बजाजने इन्हें कोई काम-काज करानेके निमित्तसे बम्बई बुला लिया।"

"श्रीपोद्दार महाराजके देश-सेवा और समाज-सेवाके संस्कार अब भी पूरी तरहसे निर्मूल नहीं हुए थे। श्रीजमनालालजी बजाजके बम्बईके संगने इन्हें पुनः उभार दिये। श्रीबजाज उस समय राष्ट्रनेताओंके एक प्रकारसे आश्रयदाता ही थे। अतः श्रीपोद्दार महाराजका इन नेताओंसे सम्बन्ध घनिष्ठतर, घनिष्ठतम होता गया। श्रीगाँधीजीसे तो इनकी आत्मीयता इतनी बढ़ गयी कि वे जब भी बम्बई आते, पोद्दार महाराजके घर उनकी दादी रामकौरसे मिलने अवश्य आते। श्रीबालगंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय, श्रीविनायक दामोदर सावरकर, श्रीवल्लभभाई पटेल, श्रीअब्दुलगफ्फार खाँ, श्रीमुहम्मदअली जिन्ना आदि सभी नेता श्रीपोद्दार महाराजकी सेवासे प्रभावित थे। ये सन् १९१९ के कांग्रेस-अधिवेशनमें अमृतसर, सन् १९२० के अधिवेशनमें कलकत्ता, सन् १९२१ ई० के अधिवेशनमें अहमदाबादमें सम्मिलित हुए।"

"गोस्वामीजी ! यह परम सत्य है कि सच्चे महासिद्ध सन्त एवं स्वयं भगवान् यदि किसी जीवको एकबार अपना बना लेते हैं तो फिर कभी त्यागते नहीं। ऐसा ही संयोग श्रीपोद्दार महाराजके जीवनमें भी घटित हुआ। श्रीपोद्दार महाराज नेताओंकी राजनीतिमें उलझ गये थे, सन्तकृपा तो उनकी प्रतीक्षा कर ही रही थी। इधर जुलाई-अगस्त सन् १९२० में श्रीजमनालालजी बजाज किसी कार्यवश सेठजीसे मिलने चक्रधरपुर गये तो इन्हें भी उनके साथ जाना पड़ा। इस समय इन्हें उनकी एक सेवा भी करनेका सुअवसर प्राप्त हो गया। जैसा कि पूर्वतः उल्लेख हो चुका है श्रीसेठजीका हिन्दी भाषाज्ञान सर्वथा नगण्य था। वे मारवाड़ी-मिश्रित साधारण हिन्दीमें ही बोलते थे और उनका वैसा ही

लेखन भी था। उन्होंने श्रीपोद्दार महाराजको चक्रधरपुरमें अपनी दो लघु पुस्तकें 'त्यागसे भगवत्प्राप्ति' और 'प्रेम भक्तिप्रकाश' भाषासुधार एवं संशोधनके लिये दीं। श्रीसेठजी अपने मूल भावोंको अत्यन्त स्पष्ट तथा प्रभावशाली शैलीमें अभिव्यक्त देखकर गद्‌गद् हो गये। भगवान् एवं संत तो भावके भूखे होते हैं, वे अपनी तनिक-सी सोवाको बहुत करके मानते हैं।"

"गोस्वामीजी ! यह केवल श्रीपोद्दार महाराजके साथ घटित हुई घटना ही नहीं है, मेरे साथ भी ठीक ऐसी ही घटना घटित हुई। श्रीस्वामी रामसुखदासजी द्वारा प्रेरित मैं श्रीसेठजीसे मिलने सर्वप्रथम बाँकुड़ा गया था। हम लोगोंके मध्य लगभग चौदह-पन्द्रह दिवसोंतक सत्संग-चर्चा हुई। उस सत्संगके आधारपर मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि श्रीमद्भगवद्गीता-सम्बन्धी सेठजीके जो भाव हैं, वैसे अन्यत्र देखनेमें नहीं आते। श्रीसेठजीका यह गहन चिन्तन यदि लिपिबद्ध नहीं हुआ तो जगत् एक दिव्य एवं दुर्लभ निधिसे वंचित रह जायेगा। मैंने उस समय श्रीसेठजीसे कहा — "आप गीता-सम्बन्धी अपने विचारोंको लिपिबद्ध करा दें।" अपनी विवशता व्यक्त करते हुए श्रीसेठजीने मुझसे कहा — "कौन करे, और कैसे होगा, मैं तो शुद्ध हिन्दी भी नहीं बोल पाता।" मेरे मनमें भगवत्कृपाप्रेरित अचानक सेवाभाव उदय हो उठा। मैंने इस कार्यके लिये अपनेको प्रस्तुत करते हुए कह दिया — "आप अपने विचार मुझे बतलाएँ। उनको लिखकर मैं आपको दिखलाता हूँ। यदि आपको ऐसा प्रतीत हो कि मेरे द्वारा ठीक लिखा गया है, तो फिर लेखनकार्य हो।" मैंने श्रीसेठजीके एक प्रवचनको शुद्ध हिन्दी भाषामें लिपिबद्ध करके श्रीसेठजीके सम्मुख प्रस्तुत कर दिया। मेरी अभिव्यक्ति, भाषा और विषय-प्रस्तुतिसे श्रीसेठजी बहुत ही प्रसन्न हुए। गोस्वामीजी ! मात्र मेरी इतनी-सी सेवाके फलस्वरूप श्रीसेठजीने मुझे अद्वैत साधनाके अनुसार पूर्ण ब्राह्मी-स्थितिमें प्रतिष्ठित कर दिया। वैसे मेरी साधन-स्थित पहलेसे ही पूर्ण थी परन्तु मेरी एक ऐसी गुत्थी थी, जो सुलझ नहीं रही थी। श्रीसेठजीने मेरी इस गुत्थीको

कुछ–एक क्षणोंमें ही हल कर दिया और मुझे उनका महापुरुषत्व स्वीकार करना पड़ा ।"

"गोस्वामीजी ! सच्चे सन्त जिस किसी भी प्राणीको जब स्वीकार कर लेते हैं, तो उसके हृदय और अन्तरात्मामेंसे वे स्फुटित होते हैं। वे अपनी आत्मीयता और स्नेह–स्मृतिकी ऐसी बाढ़ छोड़ते हैं कि ग्रहीत व्यक्ति उनके बिना रह नहीं पाता। वह उनके संगके लिये विवश हो जाता है।"

"श्रीपोद्दार महाराजकी भी यही स्थिति हुई। श्रीसेठजीसे सत्संग सुननेकी अचानक ही उनकी इतनी तीव्र रुचि हो उठी कि उनसे रहा ही नहीं गया और वे सेठजीको बम्बई बुलाकर सत्संग आयोजन करनेकी बात सोचने लगे। उन्होंने अपने सभी मित्रोंसे श्रीसेठजीको पत्र एवं तार दिलाये एवं श्रीसेठजीको बम्बई आनेका निमंत्रण दिया। अन्ततः सत्संग कराये जानेकी योजना सफल हो ही गई। सन् १९२२ की शरद ऋतुमें श्रीसेठजी अपने बीस–पच्चीस साथियों सहित बम्बई पधारे। श्रीपोद्दार महाराजकी प्रेरणासे सैकड़ों प्रतिष्ठित व्यक्ति स्टेशन आये एवं श्रीसेठजीका भव्य स्वागत हुआ। श्रीसेठजीका लगातार दस दिनोंतक श्रीसुखानन्दजीकी धर्मशाला और नरनारायणके मन्दिरमें सत्संग हुआ। दस दिनोंतक सत्संगकी धारामें कितने ही व्यक्तियोंने निमज्जन किया। अनवरत इन दस दिवसोंमें श्रीसेठजीकी सारी सार–सँभाल, व्यक्तिशः सभी सेवा श्रीपोद्दार महाराजने स्वयं की। श्रीसेठजीने विदा होते समय—प्रतिदिन सत्संग होता रहे, इसका दायित्व श्रीपोद्दार महाराजपर ही डाल दिया।"

"गोस्वामीजी ! श्रीसेठजीकी इन दस दिनोंकी सेवाका फल श्रीपोद्दार महाराजको श्रीसेठजीने इतना अनमोल दिया कि उनकी साधनामें तीव्रता आ गयी। क्योंकि स्वयं श्रीसेठजी प्रधानतया निर्विशेष ब्रह्मवादी थे, अतः श्रीपोद्दार महाराजकी भी प्रवृत्ति प्रथमतः निर्विशेष ब्रह्ममें ही रही। श्रीसेठजीको श्रीपोद्दार महाराज द्वारा लिखे पत्र ही

इस विषयके प्रमाण हैं। श्रीपोद्दार महाराजने मुझसे एकान्त सत्संगमें अनेकों बार यह भी कहा है कि श्रीसेठजीकी आज्ञानुकारिता और उनके संकल्पसे ही उनमें सफल सम्पादनकला एवं आध्यात्मिक वक्तृत्वका प्रकाश हुआ।"

"श्रीशिवनारायणजीकी बाड़ीमें श्रीपोद्दार महाराज सत्संग कराने लगे। श्रीपोद्दार महाराज सदैवसे ही आत्मगोपन प्रवृत्तिके थे। उनकी वाणी भी बोलते समय हकलाती थी। परन्तु अपने आध्यात्मिक गुरुके संकेतका उल्लंघन वे कैसे करते। इस सन्त-आज्ञापालनरूप सेवाने श्रीपोद्दार महाराजको भविष्यमें आध्यात्म जगत्का अतिशय गंभीर, सारगर्भित प्रवक्ता बना दिया। वे अति सरल भाषामें कूट-से-कूट आध्यात्मिक गुत्थियोंको सुलझा देते थे। बम्बईमें मात्र मारवाड़ी ही नहीं, मराठी एवं गुजराती भाषाभाषी लोग भी उन्हें सुनने आते। श्रीपोद्दार महाराज बादमें श्रीरामचरितमानस पर भी प्रवचन करने लगे। उनके सत्संगमें प्रतिदिवस ही, यदि वे बम्बई होते, श्रीजमनालालजी बजाज, श्रीकृष्णदास जाजू आदि भी अवश्य आते थे। उनका सत्संग अतिशय भावपूर्ण होता और सभी श्रोता प्रवचन सुनते समय मंत्रमुग्ध हो जाया करते थे। अनेक बार देशके सर्वप्रतिष्ठित उच्चकोटिके महात्माओंके सम्मुख भी श्रीपोद्दार महाराजने अपने विचार रखे हैं, इनमें स्वामी अच्युतमुनिजी, श्रीभोलेबाबाजी, श्रीउड़ियाबाबाजी, श्रीहरिबाबाजी, माँ आनन्दमयी, श्रीशिवानन्दजी, स्वामी एकरसानन्दजी, रामानुजसम्प्रदायके परमाचार्य श्रीअनन्ताचार्यजी, वल्लभसम्प्रदायके आचार्य श्रीगोकुलनाथजी, श्रीदीक्षितजी महाराज आदि प्रमुख हैं। श्रीपोद्दार महाराजके आध्यात्मिक विचार सदैव उनके सच्चे आन्तरिक विश्वाससे ओतप्रोत होनेके कारण सदा सभीके लिये श्रोतव्य और आत्मप्रेरक होते थे।"

"गोस्वामीजी ! श्रीपोद्दार महाराजकी श्रीसेठजीके प्रति सदा नारायण-भावमयी ही दृष्टि रही। यद्यपि श्रीसेठजी प्राकृत-शरीरधारी एक मारवाड़ी व्यक्ति ही थे, परन्तु

श्रीपोद्दार महाराज इन्हें कृमि, विष्ठा, मल-मूत्रका आगार सर्वथा नहीं देखते थे। श्रीपोद्दार महाराजकी इस विशुद्ध भगवन्मयी दृष्टिका प्रमाण उनका यह पद है, जो उन्होंने सन् १९२२ ई० में श्रीसेठजीकी वन्दनाके लिये लिखा था —

जयति देव, जयति देव, जयदयालु देवा।
परम गुरु, परम पूज्य, परम देव, देवा॥
सब बिधि तव चरन-सरन आइ पर्‌यौ दासा।
दीन-हीन-अति-मलीन, तदपि सरन-आसा॥
पातक अपार किंतु दया को भिखारी।
दुखित जानि राखु सरन पाप-पुंजहारी॥
अबलौंके सकल दोष छमा करहु स्वामी!
ऐसो करु, जातें पुनि हौं न कुपथगामी॥
पात्र हौं, कुपात्र हौं, भले अनधिकारी।
तदपि हौं तुम्हारो अब लेहु मोहि उबारी॥
लोग कहत तुम्हरो सब, मनहु कहत सोई।
करिय सत्य सोइ, नाथ! भव-भ्रम सब खोई॥
मोरि ओर जनि निहारि, देखिय निज तनही।
हठ करि मोहि राखिय हरि! संतत तल पनही॥
कहौं कहा बार-बार जानहु सब भेवा।

जयति, जयति, जय दयालु, जय दयालु देवा ॥

यहाँ श्रीपोद्दार महाराजने जो 'हरि' शब्दका प्रयोग किया है, यह स्पष्ट उनकी अपने गुरु—सन्तके प्रति भगवन्मयी निष्ठाका ही द्योतक है।"

"उत्कृष्ट साधककी दृष्टि तो जड़-चेतन समग्र जगत्के प्रति भी भगवन्मयी 'वासुदेवः सर्वम्' की होती है, फिर अपने गुरु एवं संतके प्रति कृमि, विष्ठाभाण्डकी दृष्टि रखना तो पूर्ण अधर्म एवं पाप ही है। श्रीपोद्दार महाराजकी इस विशुद्ध, परम पूत दृष्टिका ही परिणाम था कि उनकी इतनी शीघ्र उन्नति हुई। उन्हें पहले नित्य, अखण्ड, निरवयव, निर्विशेष ब्रह्मकी अपरोक्ष अनुभूति होने लगी और साथ-ही-साथ बम्बईके अपने व्यापारी जीवनमें ही उन्हें वनवासी वेषमें श्रीलक्ष्मणजी एवं श्रीसीताजी सहित भगवान् श्रीरामके दर्शन हुए। गोस्वामीजी ! श्रीपोद्दार महाराज द्वारा ये सभी बातें मुझे अपने मुखसे कही गयी हैं। उनकी सन् १९२२ ई० में ही ऐसी सहज स्थिति थी कि चलते-चलते हठात् उनका बाह्यज्ञान जाता रहता था। नेत्र खुले रहते थे और वे स्थिरदृष्टि रात्रिमें नौ-नौ घण्टे अधिकांशतः समाधिस्थ रहते थे।"

"सन् १९२१ ई० में भिवानीके भक्त श्रीलक्ष्मीनारायणजी हरिनामप्रचारके लिये बम्बई आये थे। ये नवद्वीपवासी गौड़ीय सन्त श्रीरामकरणजीके अनुगत थे। भगवन्नाम-संकीर्त्तनके प्रचारमें ये मस्त होकर घूम-घूमकर नृत्य करते और अनेकों बार मूर्च्छित हो जाते थे। श्रीपोद्दार महाराजके हृदयमें गौड़ीय राधा-माधवकी दिव्य महाभावधाराका उन्मेष बीजरूपमें इनके द्वारा ही हुआ, यह एक प्रकारसे कहा जा सकता है। इनके संगसे श्रीपोद्दार महाराजके मन, प्राण, वाणी और शरीर सभी कुछ पूर्ण रूपसे भगवद्रसमें डूब गये।"

"गोस्वामीजी ! मैं आपको अत्यन्त मित्रोचित यही राय दे सकता हूँ कि आपको प्रेमाभक्तिकी उपलब्धि यदि अपेक्षित है, तो श्रीपोद्दार महाराजरूप महासिद्ध सन्तकी यावज्जीवन सेवा और उन्हें अपना पूर्ण आत्मसमर्पण ही मात्र इसका उपाय है।"

"गोस्वामीजी ! जसीडीहमें श्रीपोद्दार महाराजको भगवान् विष्णु अथवा नारायणदेवके जो दर्शन हुए, उसके विषयमें उन्होंने मुझे जो कुछ कहा वह शब्दशः मुझे याद है। उन्होंने मुझे जो कहा था, उसे सुनिये — "जिस जगह श्रीसेठजी विद्यमान थे, उस जगह मुझे खुली आँखों भगवान्की चतुर्भुज मूर्त्तिके — जैसे दो व्यक्ति आमने-सामने बैठे हों, उस प्रकार दर्शन होने लगे। मेरे आनन्दका पार नहीं रहा। मैंने थोड़ी देर भगवान्के रूपका वर्णन किया वृत्तियाँ फिर बाहरसे सर्वथा हट गयीं। मैंने भगवान्के चरणोंका स्पर्श करनेकी चेष्टा की। किन्तु पहले तो हाथ आगे बढ़े नहीं। जब हाथ आगे बढ़े, और मैं चरणस्पर्शको उद्यत हुआ तो भगवान् अन्तर्धान हो गये और जहाँ साक्षात् भगवान्के दर्शन हो रहे थे, उस जगह श्रीसेठजी दिखने लगे। तब मैंने श्रीसेठजीसे प्रार्थना की कि चरणोंका स्पर्श होना चाहिये। श्रीसेठजीने उत्तर दिया कि ध्यान होना तो तुझे सहज है, पर चरणोंका स्पर्श होना अगलेकी मर्जीपर है। इतना कहनेके साथ ही अकस्मात् अनन्त प्रकाश हो गया। फिर मुझे उसी तरह दर्शन होने लगे। मैंने आनन्दसे विह्वल होकर भगवान्के दाहिने चरणको पकड़ लिया और चरणोंमें बलात्कारसे (जबरदस्ती) जा पड़ा। भगवान्ने मेरे मस्तकपर हाथ रख दिया। तब पीछेसे लोगोंने कहा कि तुम तो श्रीजयदयालजीके चरणोंमें पड़े थे। मेरी दृष्टिमें तो उस जगह भगवान् नारायणके सिवाय और कोई भी नहीं था। श्रीजयदयालजी मेरी दृष्टिमें सर्वथा नहीं थे। केवल नारायणदेव ही थे। इस स्थितमें मैं बहुत देरतक पड़ा रहा। भगवान् मेरे मस्तकपर हाथ रखे हँसते रहे। फिर भगवान्के अन्तर्धान होते ही मेरे चित्तमें व्याकुलता होकर मेरी आँखें खुल गयीं। मैंने देखा — मेरा मस्तक श्रीज्वालाप्रसादजीकी गोदमें था। मेरे अन्दर आनन्दकी इतनी बाढ़ थी कि मेरा

बाह्यज्ञान बार–बार जाता रहा। मैं बड़े आनन्दके साथ चलता तो मुझे प्रत्यक्ष दीखता भगवान् मेरे साथ चल रहे हैं। फिर मुझे भवनमें लाकर बिठा दिया गया। वहाँ भी मुझे भगवान्‌के दर्शन होते रहे। तब मैंने दण्डवत् की। उसके पश्चात् मुझे बाहरी ज्ञान हुआ।"

"इस वर्णनको श्रीपोद्दार महाराजके मुखसे सुननेके पश्चात् मेरे चित्तमें यह बात पूर्णतया सुदृढ़ हो गयी कि भगवान् चाहे निर्गुण हों अथवा सगुण, वे महापुरुषोंके स्वयंके ही मात्र निज स्वरूप हैं और महापुरुष एवं भगवान्‌में स्वरूपतः किंचित् भी भेद हो ही नहीं सकता। महापुरुषका देह ही प्राकृत भले दीखे, शेष उसके अन्तःकरणका पूर्ण विलय भगवान्‌में हो जाता है। और ऐसा भी संभव है कि कुछ महात्मा मात्र हमारी चर्मचक्षुओंसे प्राकृत दीख रहे हों, वस्तुतः उनका शरीर भी चिन्मय हो। मेरी तो यह निर्विवाद मान्यता है कि तत्व चाहे निर्गुण, निराकार, निर्विशेष हो, चाहे सगुण, साकार, सविशेष, यदि किसीको भी वितरित होता है, तो महापुरुषोंके द्वारा ही। उसको पानेका अन्य कोई उपाय ही नहीं है। इसमें प्राथमिक आवश्यकता इतनी ही है कि बस, एक बार साधक आत्मसमर्पित हो जाये। उसका अहं विगलित होकर महापुरुषके चरणोंमें विलीन होनेको उत्सुक हो उठे, इतना होते ही महासिद्ध सन्तोंका निज स्वरूप — वह चिन्मय परम सरस रसप्रवाह — साधकके कठोर प्राकृत अहंको प्रथमतः चतुर्दिक् घेर लेता है, फिर शनैः–शनैः उसे मसृण करता है, उसमें प्रवेशके लिये छिद्र संघटित करता है और तब उसे ध्वंसकर अपनेमें लीन कर लेता है। महापुरुषोंके निज स्वरूपसे एक होना ही भगवत्साक्षात्कार है, क्योंकि भगवान् और महापुरुष दो होने सम्भव ही नहीं हैं।"

"गोस्वामीजी ! सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका ऐसे ही सन्त हैं, जिनमें त्याग एवं समर्पणकी पूर्णता है। कोई लौकिक भाव उनकी आन्तरिक प्रीतिधाराको अवरुद्ध

कर ही नहीं सकता। श्रीपोद्दार महाराजको जब उन्होंने भगवद्दर्शन कराये, उस समय वे रुग्ण थे। उनके चारों ओर जो वैश्य-समुदाय है, वह भी बहुत ही धन एवं विषयलुब्ध है। परन्तु उनमें भगवद्रूचिरूप गीताके प्रचारकार्यकी ऐसी अदम्य तेजस्वी वृत्ति है, जिसे तनके रोग-शोक, अभाव-व्याधि, बहु भोगजनित सुख-दुखोंका प्राबल्य लेशमात्र भी प्रभावित नहीं कर पाता। उनका चित्त भगवत्प्रेमका पारावार है। उनमें भगवत्प्रेम एवं त्यागकी अनुपम लहरें अविराम उच्छलित होती रहती हैं।"

"श्रीसेठजीका मत है कि सगुण-साकार भगवान्‌के दर्शनके पश्चात् तत्वज्ञान तत्क्षण ही होना चाहिये। वे तत्वज्ञानको साध्य एवं भगवद्दर्शनको साधन मानते हैं, परन्तु श्रीपोद्दार महाराजको ठीक इसके विपरीत प्रथमतः तत्वज्ञान और तब भगवद्दर्शन हुए। उन्हें ऐसे ही भगवान्‌की कृपा तथा अनुभूति हुई जो ब्रह्मतत्वकी प्रतिष्ठा हैं। अतः चाहे उन्हें भगवान् श्रीरामके दर्शन दर्शन हुए हों, चाहे विष्णु अथवा नारायणदेवके और आगे जाकर चाहे भगवान् राधाकृष्णके परम चिन्मय लीला-विहारके, किन्तु उन्हें भगवान्‌ने अपने उस सगुण साकार परमतत्वका अनुभव कराया, जो ज्ञानोत्तर है। ब्रह्मज्ञानके पश्चात् महाराज जनक कहते हैं — **'बरबस ब्रह्मसुखहि मनु त्यागा'** — श्रीपोद्दार महाराज उस प्राकृत सगुण-साकार भगवत्तत्वके कृपाभाजन रहे।"

"इसे पुनः ठीकसे समझ लें — सगुण-साकार भगवत्तत्व भी अधिकारी-भेदसे दो प्रकारके साधकोंके सम्मुख प्रत्यक्ष होता है। एक मुक्तिकामी भक्त साधक होते हैं और दूसरे प्रीतिरसके लोलुप भक्त साधक भी होते हैं। मुक्तिकामी भक्त साधकोंको क्योंकि प्रकृतिके बन्धनसे मुक्ति चाहिये, अतः उन्हें उन्हीं भगवान्‌के दर्शन होते हैं, जिनके अवतारी त्रिदेवोंमेंसे एक भगवान् नारायणदेव हैं। जैसे पृथ्वी जब आसुरी भावोंके भारसे मुक्तिकामिनी हुई तो वह त्रिदेवोंमेंसे एक, श्रीब्रह्मदेवके पास गयी और तब श्रीब्रह्माजी उसे लेकर त्रिदेवोंमेंसे ही एक — भगवान् नारायणदेवके पास पहुँचे।

ये विराट पुरुष नारायणदेव शेषशायी भगवान् हैं । अनेक कल्पोंमें ये शेषशायी नारायणदेव ही अपने अंशसे श्रीराम एवं श्रीकृष्णका भी अवतार ले लेते हैं। उस समय ये रामकृष्णादि अवतार भी मात्र असुरसंहारका कार्य कर विदा हो जाते हैं । परन्तु कभी–कभी ऐसे साधक भी इस विश्वसृष्टिमें भगवान्की कृपासे जन्म ले लेते हैं, जो मुक्तिकामी न होकर विशुद्धतम भगवत्प्रीतिरसके पिपासु होते हैं। इन विशुद्ध अप्राकृत चिन्मय भगवत्प्रीतिरसके पिपासु साधकोंके लिये उन अप्राकृत गुण और अप्राकृत चिन्मय आकारधारी विशुद्ध प्रीतिरसके उत्स एकमात्र भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनको ही अवतरित होना पड़ता है। ये व्रजेन्द्रनन्दन पूर्ण, पूर्णतम, अखिल रसामृतमूर्त्ति हैं। यह प्रेमरस इन व्रजेन्द्रनन्दन और उनकी प्राणप्रिया भानुराजदुहिता श्रीराधाका ही निजस्व है । यह विलक्षण प्रेमरस स्वरूपगत तात्विक भेद नहीं होनेपर भी निर्विशेष परब्रह्म परमात्मामें अनभिव्यक्त है। अन्तर्यामी परमात्मामें यद्यपि इसका आंशिक विकास है, फिर भी साक्षीरूपमें उदासीनताकी लीलामें प्रवृत्त रहनेके कारण वे भी इस रसके रसिक नहीं ही कहे जा सकते। इसी प्रकार श्रीराम, नृसिंहादि अन्यान्य भगवद्रूपोंमें भी इसकी अनभिव्यक्ति है । एकमात्र प्रेमविलासरूप श्रीराधाकृष्णकी लीला ही इस विशुद्ध प्रेमरसकी स्वरूपभूता है । यह प्रेमरस परस्पर इन दोनों प्रिया–प्रियतम दम्पतीमें ही अभिव्यक्त होता है। यह मात्र उनका ही स्वरूप विलास है, निज स्वरूप है।"

"गोस्वामीजी ! मैं यद्यपि पूर्ण, परिपूर्णतम ब्रह्मतत्वके ज्ञानी होनेके कारण श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका रूप महाप्रभु नारायणदेवकी अनन्त वन्दना करता हूँ, फिर भी यह सत्य है कि यह विशुद्ध मधुर प्रेमरस उनमें स्वयंमें भी अनभिव्यक्त है। वे अपनेको पूर्ण समझते हैं, अतः कभी–कभी गोपीप्रेमपर लिख–बोल भी जाते हैं परन्तु उनका इस प्रेमतत्वपर लिखना–बोलना उसी प्रकार है जैसे कोई राजनेता, सरकारी मन्त्री श्रीमद्भगवद्गीता या ब्रह्मज्ञान पर प्रवचन करे। यह विशुद्ध मधुर प्रेमरस तो, सच्ची बात यह है कि व्रजभूमिमें भी गोपराज नन्दबाबा, यशोदा मैया, श्रीवृषभानुजी एवं कीर्तिदा

मैया, साथ ही सखावर्गके अनेक पात्रोंसे भी अज्ञात है। यह विशुद्ध प्रीतिरस तो भगवान् श्रीराधाकृष्ण और भगवती श्रीराधाजीकी कायव्यूहरूपा कुछ सखी–मंजरियों तक ही सीमित है, मात्र उनमें ही अभिव्यक्त है। सनकादि ऋषि भी इससे अछूते हैं। उनका भी इस रसमें प्रवेश नहीं, स्वयं श्रीराम, नृसिंहादि भगवत्तत्व भी इसे संस्पर्श नहीं कर पाते।"

"क्योंकि श्रीपोद्दार महाराज इस विशुद्ध समुद्रमें विहरें — यह पूर्व निर्धारित नियति थी, अतः वे अपने साधनकालके प्रारम्भमें ही इन्हीं ज्ञानोत्तर अप्राकृतिक विशुद्ध ब्रह्म–विमोहन सगुण साकार प्रेमविग्रह श्रीराधामाधवके कृपाभाजन हुए। श्रीपोद्दार महाराजके सम्मुख तो प्रेमविग्रह श्रीकृष्ण ही सन्धिनी शक्तिके विलासरूपमें परतत्व ब्रह्म बनकर आये। यह ब्रह्म परतत्व इन श्रीकृष्णचन्द्रकी नखचन्द्रोंकी चिज्ज्योति मात्र ही तो है। इसी प्रकार ये सर्वभवनसमर्थ श्रीकृष्ण ही इनके सम्मुख त्रिदेवोंमेंसे एक, श्रीनारायणदेव बन गये थे। ये ही कौशल्यानन्दन राम बनकर इनको अपनी दर्शनकृपासे परिस्नात करने प्रकट हो गये। क्योंकि इन सभी रूपोंमें प्रेमरसरसिक भगवान् श्रीकृष्ण ही इनके सम्मुख अभिव्यक्त हुए थे, अतः इस प्राकट्यकी क्रमशः यही परिपाटी रही कि पहले भगवान्के चरणनखकी चिज्ज्योति परब्रह्म परमात्मा श्रीपोद्दार महाराजके हृदयधामको आलोकित करे, और तब इन सभी अंशावतारोंके द्वारा इनका हृदय भक्तिभूमि बने और तब स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण इनके हृदय–वृन्दावनमें विहरें।"

"गोस्वामीजी ! कोई यह पूछ सकता है कि श्रीपोद्दार महाराजमें ऐसी क्या विशेषता थी जिससे उनमें इन सर्वोच्च प्रेमधाम भगवान् श्रीराधामाधवका अवतरण एवं कृपा–प्रकाश हुआ। इसका उत्तर वैसे तो कुछ भी नहीं हो सकता, क्योंकि भगवत्कृपा साधन–साध्य अथवा योग्यता–सापेक्ष नहीं है, हेतुरहित है; किन्तु यदि पात्रताकी बातका अन्वेषण किया ही जाय तो इस मार्गमें यही कहा जा सकता है कि श्रीपोद्दार

महाराजमें भगवदिच्छाकी पूर्ति एवं तत्सुखसुखियाभावका प्राधान्य एवं प्रबल वेग इतना अधिक था कि भगवल्लीला महासिन्धुने उन्हें पूर्णतया रसप्लावित कर दिया। उनके मनका निर्माण ही ऐसा था कि उसमें भगवद्रुचिके अतिरिक्त अपनी कोई भी स्वतंत्र रुचि, स्वतंत्र इच्छा साधनकालमें भी नहीं रही थी। वे जब भी साधनामें प्रवृत्त हुए तो वे भगवान्‌की महदिच्छासे एकमेक हो गये। उनका भगवान्‌की रुचिसे पृथक् कोई अपना स्वयंका व्यक्तित्वमूलक तटबन्ध था ही नहीं। अतः भगवान् श्रीराधा–माधवका अप्राकृत सौन्दर्य, माधुर्य, सौशील्य एवं लीला–महासिन्धु उनके चित्तमें जैसे ही संस्पर्शित हुआ, होते ही ऐसा उमड़ा कि उसने उन्हें पूरा रस–आप्यायित कर दिया।"

"पूज्य पोद्दार महाराजका हृदय स्वभावतः ही ऐसा था कि वे सेवाको ही साधनरूपा और उसे ही सिद्धिरूपा मानते थे। श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दका एक बार उनके पथप्रदर्शक बने तो श्रीपोद्दार महाराज यावज्जीवन उनकी रुचिकी पूर्तिमें ही सदैव थिरकते रहे। यद्यपि लीलारससिन्धुगत अदम्य रसमयी भावना उन्हें अपनेमें लीन करनेको बारबार उमड़ती थी, किन्तु उन्होंने जब श्रीसेठजीके प्रचारव्रतको एक बार अङ्गीकार कर लिया तो उसका यावज्जीवन निर्वाह किया। अपनी आन्तरिक रुचि एवं अपने स्वानुभूत महारससागर — मनको दबाकर भी वे श्रीसेठजीकी संकल्पपूर्तिमें ही निरत रहे। तनिक भी मत्सुखभावको उन्होंने अपने भीतर पनपने ही नहीं दिया। मद्रुचि, मत्सुखको पीस–पीसकर भी वे अपने गुरु श्रीगोयन्दकाजीकी रुचिका पालन करते रहे। इसका फल हुआ यह हुआ कि साधक जगत्‌के सम्मुख श्रीपोद्दार महाराजने एक अभिनव आदर्श रख दिया। शरीर और हृदयका पूर्ण पृथकत्व करते हुए उनका शरीर जगत्‌रूप प्रभुकी सेवामें अनवरत रत रहता था और मन एवं हृदय भगवल्लीलाओंमें तल्लीन।"

"इसका फल यह है कि कभी–कभी यह विशुद्ध भागवती प्रेमरस बलात्कारसे (जबरदस्ती) दमित होता–होता इतना अदम्य हो उठता है कि हठात् उनकी इन्द्रियाँ सब कार्य एकाएक बन्द कर देती हैं। ऐसे समय श्रीपोद्दार महाराजको अवश होकर जिस अवस्थामें वे होते हैं, वैसे ही रह जाना होता है। आँखें खुली रहनेपर भी इन्हें कुछ दिखाई नहीं पड़ता है, कानोंसे सुनाई नहीं पड़ता है, त्वक्से स्पर्शका अनुभव नहीं होता है। लीला–महासिन्धु उस अवस्थामें ज्वार बनकर उमड़ उठता है और वे स्वयं रससिन्धु हो उठते हैं।"

"गोस्वामीजी ! श्रीपोद्दार महाराजकी क्या स्थिति है, उसे शब्द देनेमें मैं लाचार हूँ। अनिर्वचनीय स्थितिका आखिर निर्वचन हो भी कैसे ? परन्तु यदि कुछ कहा जा सकता है, तो इतना ही कि उनमें न मनकी सत्ता शेष रही है, न बुद्धिकी एवं न ही अहंकी सत्ता। उनके सर्वपर भगवत्सत्ता भर गयी है, वह कुछ भी करा ले। चाहे जगत्का कार्य करावे, चाहे उन्हें अपनेमें डूबा ले। उनकी 'स्व' की कहीं कोई अपनेपर पकड़ नहीं है। उनमें 'मत्' है ही नहीं, 'तत्' ही 'तत्' है, अतः तद्रुचि, तत्सुख जो मधुर प्रेमका मूलमंत्र है, वे इस भगवत्प्रीतिमंत्रके ऋषि हैं।"

"गोस्वामीजी ! हम सभीका परम सौभाग्य है कि हमें ऐसे भागवती–स्थितिसम्पन्न महापुरुष मिले हैं। अन्ततः इस रात्रि–सत्संगको मैं यही कहकर विराम देता हूँ कि हमलोगोंको प्रभुके द्वारा जो भी, जितनी भी, योग्यता मिली है, उससे इन सन्तोंकी सेवा करके इन्हें अपने अन्तःकरणमें पूरा भरें। यदि यह हमने कर लिया तो हमारा जीवन स्वतः ही इनके वस्तुगुणसे जुड़ जायगा। और इन सन्तोंका जो वस्तुगुण है वह हमें आप्यायित करनेमें फिर एक क्षणका भी विलम्ब नहीं करेगा।"

"गोस्वामीजी ! जब नदीमें बाढ़ आती है तो मात्र तटवर्ती ग्राम ही डूबते हैं, परन्तु यदि समुद्र उफन उठे तो फिर क्या बचेगा, कुछ भी नहीं। हम सभी राधामाधव–

प्रीतिरस–समुद्रसे अभी इसी एक क्षणमें ही एकमेक हो सकते हैं, यदि हम अपना पूर्ण आत्मसमर्पण किसी भी सिद्ध सन्तको कर दें।”

ज्ञानके सूर्य परम श्रद्धेय सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका एवं भक्तमुकुटमणि परम पूज्य भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

अभिनव चैतन्य श्रीभाईजी

(परम पूज्य श्रीराधाबाबाने पौष कृष्ण ३ सं० १९९८ रात्रिके १०.१५ बजेसे १२.३० बजेतक श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीको लिखकर दिया —)

सच मानिये, जिन बातोंको कहने जा रहा हूँ, यदि उसपर मेरा सचमुच पूरा–पूरा विश्वास हो गया होता तो मेरा जीवन इतना विलक्षण होता—भाईजीके प्रति मेरा आकर्षण, मेरा व्यवहार ऐसा होता कि वह जगत्के लिये, श्रद्धाके लिये आदर्श हो जाता, पर वह है नहीं। और भगवान्की लीला ऐसी है कि मनमें यह इच्छा भी नहीं उठती कि यह हो । इच्छा हो तो सच मानिये, श्रीकृष्ण एवं श्रीभाईजी भक्तवाञ्छाकल्पतरु हैं, ये अवश्य पूरी कर दें । मेरे मनमें इच्छा ही नहीं होती कि प्रार्थना करूँ। यही आता है कि जैसे–जैसे पर्दा उठ रहा है, उसी क्रमसे उठने दूँ। नहीं तो निःसन्देह उसी क्षण भाईजी मेरी प्रार्थना पूरी कर दें। पर जिस दिनसे यह बात मैंने सुनी है, उस दिनसे मुझे अत्यधिक पारमार्थिक लाभ हुए हैं, जिन्हें मैं पूरा–पूरा बता भी नहीं सकता।

बात यह है कि डेढ़–दो वर्ष पहले एक महात्माने मुझे एक गुप्त चिट्ठी लिखी थी, जिसका जिक्र मैं कर चुका हूँ। उन्हें श्रीकृष्ण–लीला प्रविष्ट एक बहुत ऊँचे संत (मीराबाई)–का साक्षात्कार हुआ और उन्होंने उनसे कई बातें पूछी थी। मैं पत्र ही आपको दिखला देता, पर उसमें यह स्पष्ट लिखा हुआ है—यह पत्र आप किसीको भी नहीं दिखाइयेगा। यह भी न दिखानेका कारण है तथा उसमें कई और व्यक्तियोंके जिक्र हैं तथा एक–दो और कारणोंसे भी नहीं दिखला रहा हूँ। मेरे पास पड़ा है, प्राणोंके समान उसे मैंने अपने नित्यकर्मकी पुस्तकोंके साथ रखा है। यदि वे खो न गये, मेरे मरनेतक इसी प्रकार संयोग लगा रहा, आप जिन्दा रहे आपकी इच्छा रही तो मिल भी सकता है, अथवा आगे चलकर मेरा मन बदल जाय तो आप लोगोंको दिखला दूँगा। अस्तु, मेरे ऐतिहासिक ज्ञानके आधारपर मैं यह समझता हूँ कि उन महात्माका प्रादुर्भाव उस समय हुआ होगा जब शाह अकबर दिल्लीके तख्तपर थे। उनसे जब उन्होंने पूछा कि आप श्रीजयदयालजी एवं श्रीहनुमानप्रसादजीके विषयमें

बतलाइये (बहुतसे कई प्रश्नोंके बाद) इसके उत्तरमें जो उन्होंने कहा था वह यह है—(वे हँसने लगे और बोले) 'आप मेरी परीक्षा ले रहे हैं, आप तो जानते ही हैं कि हनुमानप्रसादका सूक्ष्म शरीर बिलकुल श्रीप्रियाजीका स्वरूप हो गया है।'

अब मैं अपनी ओरसे इस बातको समझानेकी दृष्टिसे बहुत ही संक्षेपमें थोड़ा लिख दे रहा हूँ। आप सोचें—सूक्ष्म शरीर क्या है ? भाईजीका पाञ्चभौतिक शरीर (इन्द्रिय गोलकोंके सहित) अर्थात् इन्द्रिय गोलकोंके सहित जो पाञ्चभौतिक ढाँचा है, केवल उतना ही बचा हुआ है, बाकी सबका सब, पूराका पूरा राधाजीके रूपमें परिणत हो गया है। आजतक इस पारमार्थिक स्थितका वर्णन मैंने किसी शास्त्रमें भी नहीं पढ़ा है और चैतन्य महाप्रभुके सिवा किसी भी भक्तके जीवनमें इस स्थितिका संकेत प्राप्त नहीं होता। मैं यह नहीं कहता कि जगत्के इतिहासमें भाईजीका पहला उदाहरण है। ऐसे कुछ विरले महात्मा हुए होंगे पर वह बात प्रकाशमें नहीं आयी और ऋषियोंने जान-बूझकर मालूम पड़ता है, शास्त्रमें इस स्थितिका उल्लेख नहीं किया। और कहीं हुआ हो तो मेरी दृष्टिमें नहीं आया। वस्तुतः श्रीकृष्णकी इस गोपीभावकी लीला एवं उसका सब प्रकरण सर्वथा अनिर्वचनीय वस्तु है। ब्रह्मकी प्राप्तिके बाद उस तत्त्वका उन्मेष भाग्यशाली महापुरुषोंमें होता है। वह सर्वथा मन-वाणीके परेकी चीज है; पर शाखाचन्द्रन्यायसे बहुत संक्षेपमें दो-एक बात आपलोगोंको कह दे रहा हूँ। सचमुच यदि अत्यन्त सौभाग्यके उदय होनेपर कोई गोपीभावकी साधनामें लगता है तथा श्रीराधाकृष्णकी अपार कृपासे उसकी साधना सफल होती है, तब उसे भावदेहकी प्राप्ति होती है। इसका उदाहरण अर्जुनका अर्जुनी बनना है, नारदजीका गोपी बनना है। इस भावदेहका तत्त्व भी सर्वथा अनिर्वचनीय है, पर कहनेके लिये ऐसा कहा जाता है कि वह सर्वथा सच्चिदानन्दमय होता है। और किसी-किसी बिरलेको इस भावदेहकी प्राप्ति होकर लीलामें प्रवेशका अधिकार प्राप्त होता है। इसके बाद मृत्युके बाद यही भावदेह ही सेवामें नियुक्त होता है। जीवनकालमें समय-समयपर इसकी स्फूर्ति होकर

लीलादर्शन होते हैं। पर भावदेहके द्वारा भी जिस रूपका अभिमान होता है, वह या तो मंजरी देहका होता है या श्रीराधाजीकी सखीका। श्रीराधाकी सखियोंके अनुगत होकर सेवामें, लीलामें यथायोग्य पार्ट करना मंजरियोंका स्वरूप है। सखियाँ नित्य हैं और मंजरी–देहमें प्रवेशकी गुंजाइश है। साधनसिद्धा जितनी भी गोपियाँ हैं, वे या तो मंजरीके रूपमें या सखीके कुछ अंश नीचेके स्तरमें अर्थात् साधनसिद्धा सखीके रूपमें सेवाका अधिकार प्राप्त करती हैं पर सूक्ष्मदेह राधाजीके रूपमें परिणत हो जाना इससे कुछ भिन्न है। ऐसी स्थित होनेपर एक क्षणके लिये भी बाह्य जगत्की स्फुर्ति नहीं होती। केवल महाप्रभुके अन्तिम जीवनका उल्लेख ऐसा प्राप्त होता है कि ठीक–ठीक राधाजीसे उनका तादात्म्य हो गया था। पर उनके विषयमें भक्तोंकी तो यह मान्यता है कि वे स्वयं श्रीकृष्ण थे, अतः उनके लिये यह स्थिति कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखती। पर भाईजीके जीवनको देखनेपर यह मालूम होता है कि जीवभावको प्राप्त ये एक दिन अवश्य थे। इसीलिये इस प्रकारकी स्थिति कितनी दुर्लभ है एवं कितने अनिर्वचनीय सौभाग्यका परिणाम है, यह सहज ही अनुमान हो सकता है। दूसरे शब्दोंमें भाईजी एक क्षणके लिये भी बाह्य जगत्में नहीं आते। फिर प्रश्न उठता है कि व्यवहार कैसे चलता है, इसका तार्किकोंके लिये तो उत्तर दूसरे ढंगका है, पर श्रद्धालुओंको इस प्रकार समझना चाहिये कि जब स्वयं राधारानी इस पाञ्चभौतिक ढाँचेके पर्देके भीतर नृत्य कर रही हैं तो उनकी सर्वसमर्थताशक्ति भी विकसित रहेगी ही। इसीलिये **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तां.....'** की बात भाईजीके लिये सर्वथा लागू पड़ रही है।

भाईजीके इस पाञ्चभौतिक ढाँचेके अन्दर राधारानी हैं, एक क्षणके लिये भी अपने स्वरूपभूत ज्ञानसे अर्थात् मैं राधा हूँ, इस ज्ञानसे वे विचलित नहीं होते, पर लोगोंकी जैसी मान्यता उनके सम्बन्धमें होगी, उसके अनुसार उनकी सर्वसमर्थताशक्तिके कारण व्यवहार यंत्रकी तरह हो जायगा। इस सम्बन्धमें इतनी बातें हैं कि लिखते–लिखते

रात बीत जायेगी और फिर भी पूरा-पूरा समझाया नहीं जा सकता। यह साधनसापेक्ष है अर्थात् भाईजी (राधारानी) जिसे दया कर इसका रहस्य समझा दें, वही यत्किञ्चित् अनुमान लगा सकता है कि व्यवहार ऐसे चल रहा होगा। तर्कके लिये कोई स्थान नहीं है। अस्तु, आप निश्चय समझें भाईजी निरन्तर राधाभावाविष्ट रहते हैं। जिस प्रकार अर्चाविग्रहमें अर्चावतार होकर विलक्षण रूपसे अघटन घटन सम्भव है, इसी प्रकार दूसरे शब्दोंमें यह समझ लें कि भाईजी नामसे अभिहित इस पाञ्चभौतिक ढाँचेमें राधारानीका अवतरण हो गया है। जबतक यह ढाँचा रहेगा तबतक श्रद्धाकी जरुरत नहीं है, उन्मुख होते ही अधिकारके अनुसार लाभ मिल जायेगा। भाईजीका वस्तुगुण इतना अधिक है कि जो प्राणी इनके संस्पर्शमें आये हैं, आवेंगे सबके सब भगवान्‌को इस जन्ममें या एक और (केवल एक और) जन्म धारण करके अपनी इच्छाके अनुसार भागवती गति प्राप्त करेंगे। यह होगा केवल वस्तुगुणसे, भावकी जरुरत नहीं है। ऐसा इसलिये कि भगवान् श्रीकृष्णकी स्वरूपा शक्ति श्रीराधाजीका अवतरण हुआ है। महाप्रभुके विषयमें आप जो-जो बातें सुने हैं ठीक-ठीक वही बात जगत्‌के उद्धारके सम्बन्धमें इनपर भी लागू है। इतना होते हुए भी **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते....'** के अनुसार जीवनकालमें ये लोगोंकी भावनाके अनुसार ही दीखेंगे। सावित्रीकी माँको पतिके रूपमें, माँजीको हनुमान्‌के रूपमें तथा जो जिस भावनासे जो काम इनसे कराना चाहेगा, यदि उसका अमंगल उसमें नहीं होगा, तो उसे ही ये करेंगे। आर्तको आर्तिसे मुक्ति, अर्थार्थीको धन अर्थात् जो चाहेगा, वही मिलेगा। भक्तोंकी तरह इनकी जगत्-उद्धारकी चेष्टा नहीं रहेगी। कल्याण-सम्पादन जो हो रहा है, उसे भी ऐसा समझिये कि श्रीजयदयालजीकी चाह तथा अनन्त ग्राहकोंकी सच्ची चाहका प्रतिबिम्ब, प्रतिबिम्बित होकर हो रहा है। भाईजी अब उस standard से नहीं जाँचे जा सकते। अब इनकी जाँच भागवती standard पर होगी। जिस प्रकार दो विरोधी गुण भगवान् श्रीकृष्णमें युगपत रहते हैं, एककालीन मुग्धता और एककालीन सर्वज्ञता, जिस

प्रकार एककालीन सर्वज्ञता एवं मुग्धता श्रीराधाजीमें रहती है, उसी प्रकार भाईजी एक कालमें ही निरन्तर राधाभावाविष्ट रहकर भी जगत्‌को हनुमानप्रसादका अभिमानी बनकर मोहित कर सकते हैं। इनका दवा लेना, साधनकी चेष्टा करना, साधना न होनेपर उदास होना, उन्नतिकी चेष्टा करते हुए देखे जाना सर्वथा जगत्‌की शिक्षाके लिये लीलामात्र है। वस्तुतः उसी समय ये इस ज्ञानसे सम्पन्न हैं कि मैं राधा हूँ और जिस समय आप उन्हें कन्यादान करते हुए देखते हैं ठीक उसी समय, उसी क्षण उस ढाँचेके भीतर दिव्य देशमें एक ऐसी चिन्मयी लीला चलती रहती है कि जिसकी कल्पना भी हम लोगोंकी मलिन बुद्धि नहीं कर सकती।

बहुत ही संक्षेपमें, सूक्ष्म शरीरका श्रीप्रियाजीके स्वरूपमें परिणत होना क्या है, यह अपनी मानवी बुद्धिके आधारपर आपसे इतनी बातें लिखी है। आप इससे अधिक अच्छा सोच सकते हों तो हमें पता नहीं, पर चर्चा मंगलकारी है, इसलिये ऐसा लिख दिया। और यदि नहीं सोच सकते होंगे तो इससे थोड़ी अवश्य सहायता मिल ही सकती है। इस बातको विचार करें कि मरनेके बाद जो इन्द्रियाँ गोलकोंके सहित मुर्दारूपमें उपलब्ध होता है, उतने ही का नाम स्थूल शरीर है, बाकी १७ तत्त्वोंके शरीरको सूक्ष्म शरीर कहा जाता है और उन महात्माने यह कहा कि बिल्कुल प्रियाजीका स्वरूप और सूक्ष्म शरीर। मैंने ज्यों-का-त्यों उनका शब्द ही कल पत्र पढ़कर याद कर लिया है।

इतनी बात तो अवश्य है कि भाईजीका आँखें खोलना, आँखें मीचना, किसीकी ओर देखना—सब चेष्टा श्रीराधारानीकी चेष्टा है। सच मानिये, ऐसा दुर्लभ मौका मिलना बड़ा ही कठिन है। यदि केवल कोई उन्मुख हो जाये, तो उसे इसकी सत्यताका प्रमाण खोजना नहीं पड़ेगा। और जो उन्मुख होकर इन्हें आत्मसमर्पण कर दे, उसके लिये तो कहना ही क्या है। किसीपर भी कृपाप्रकाश करते समय भी यह समझना

चाहिये कि यह ठीक उसी प्रकार होता है कि जिस प्रकार किसीने राधाजीकी उपासना की और राधाजी उससे प्रसन्न होकर उसे फल देनेके लिये आयें तो राधाजीका उस समय जो यह ज्ञान कि मैं राधा हूँ, अक्षुण्ण बना रहता है। वैसे ही भाईजी दुजारीजीको इनकी भावनाके अनुसार, मेरी भावनाके अनुसार मुझे, आपको (गोस्वामीजीको) आपकी भावनाके अनुसार फल देते हुए भी निरन्तर राधाभावाविष्ट रहते हैं। इनके अन्तःकरणमें उसी साधककी विशेष स्फूर्ति होगी, जो इन्हें आत्मसमर्पण कर देगा, उसीको अपनी विशेष कृपा करके साधन मार्गपर बढ़ा ले जायेंगे, नहीं तो जो साधारण वस्तुगुणका नियम है, वही सबके लिये लागू होगा। इसीलिये यद्यपि किसी भी भावसे इनके साथ सम्बन्ध हो, परिणाममें तो अनन्त मंगलकारी है, निश्चय है। जिस प्रकार श्रीकृष्णके दर्शनोंसे कृतार्थ उनके अवतार-कालमें सभी हुए, पर दुर्योधनको अन्ततक जादूगर ही दीखते रहे और भीष्मको पुरुषोत्तम पुरुष, वैसे ही भाईजीसे सम्बद्ध समस्त प्राणी कृतार्थ हो जायेंगे, निश्चय हो जायेंगे, परन्तु इनके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान होकर इनके संगका वास्तविक आनन्द तो समर्पण करनेवालेके लिये ही सम्भव है।

जब मैंने पहले-पहल सुना तो मुझे हठात् विश्वास नहीं हुआ—सोचा, ऐसा कैसे हो सकता है ? कई प्रकारकी सात्त्विक शंकाएँ उपस्थित हुईं। पर ये शब्द बरबस मुझे टानते थे। बहुत दिनोंके बाद स्वयं भाईजी एक दिन व्रजप्रेम, गोपी-प्रेमपर प्रवचन करते हुए कुछ ऐसे-ऐसे मार्मिक कई वाक्य बोल गये, तब इसकी कुंजी मिली। उस दिन समझा कि ऐसी स्थिति तो सम्भव है और खूब सम्भव है, पर यह अवश्य ही किसी बिरले महात्माके जीवनमें होती है, हुई होगी और होगी।

श्रीभाईजीकी कृपा–प्राप्तिका एकमात्र साधन — अनन्यता

[सं० १९९८ वि० पौष कृ० ९ को परम पूज्य श्रीराधाबाबा द्वारा पूज्य श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी आदिको लिखकर प्रदान किया गया प्रबोधन]

सर्वोत्तम बात मेरी समझमें यह है कि भाईजीका कोई भी प्रेमी केवल संग करनेके लिये ही इनका संग करे, और कोई भी उद्देश्य न रखे। उसका स्वरूप है — केवल संगकी इच्छा रखना और अपनी शक्तिभर भरपूर चेष्टा भी करना — मेरा सुधार हो रहा है कि बिगाड़, उन्नति हो रही है कि अवनति, मेरी वृत्तियाँ अभी भी नहीं सुधरीं — इन बातोंकी ओर बिल्कुल ध्यान न देना। फिर निश्चय ही समझिये उसे भाईजी वह अनुपम दान दे जायेंगे जिसकी कल्पना भी कोई कर नहीं सकता। यह सर्वोत्तम बात है जो मैं भाईजीके सम्बन्धमें कह सकता हूँ। सच मानिये, यदि ऐसा कोई अपनेको बना सके, फिर भाईजी उसे अपने साथ श्रीकृष्णलीलामें ही प्रवेश करायेंगे। बुरा–से–बुरा जीवन है; कोई परवाह नहीं, पापकी भयानक स्फुराणायें मनमें उठती हैं, पाप होते हैं; कोई परवाह नहीं, पर भाईजीका संग करना है — ऐसे संग करनेवालेको भाईजी अपने साथ अवश्य, अवश्य, अवश्य ले जायेंगे। कोई भी साधन आवश्यक नहीं है। सर्वोत्तम बात मैंने हृदयसे आपसे कही है।

हाँ, एक शर्त है — किसी और महापुरुषका साझीपनाका भाव इसमें नहीं होना चाहिये। जगत्‌में जितने महापुरुष हैं, उनके चरणोंकी धूलिको मेरा नमस्कार है, पर मुझे तो बस, भाईजीका संग करना है। सच मानिये भजन न होनेके कारण अत्यन्त नीचेका ही रूप हमलोगोंके सामने है। भजन करके देखिये फिर चारों ओर इनकी कृपा आपको लपेटकर ऐसे प्रकाशमय दिव्य स्वरूपकी झाँकी करायेगी कि अभी तो कल्पना भी सर्वथा असम्भव है। पर भजन भी इनकी कृपासे ही होगा। ऐसे विश्वासीके प्रति इतनी कृपा तो ये प्रारंभमें ही कर देंगे कि उनकी धमकीसे उसका चित्त विचलित नहीं होगा। तो फिर उस अवसरकी, उस क्षणकी प्रतीक्षा कीजिये जब श्रीभाईजी अपनी

लीला संवरण करते समय अहैतुक दानसे कुछ आपको भी दे जायँ। इसका रूप है — अंततक अपने मनमें इनसे आशा रखनी न छोड़ें। 'भाईजी ! मैं आपकी कृपाके बलपर ही, अपनी ओरसे आपको नहीं छोड़ूँगा, यह मेरा दृढ़ विचार है' — इस प्रकारका भाव रखकर चाहे प्रारब्धवश कहीं भी रहना पड़े, पर मानसिक सम्बन्ध बनाये रखनेपर, शारीरिक संग भी बीच-बीचमें इनकी कृपासे अवश्य मिलेगा। भगवान् और भाईजीके पास सिफारिशकी जरूरत नहीं है, बिल्कुल नहीं है। पर लड़कपनवश कुछ खूब अच्छी तरह बातें सजाकर जिस किसीकी भी चर्चा हमने चलायी है, मैं देखता हूँ वे तो कृपा उड़ेलनेके लिये तैयार हैं, पर हम ग्रहण करनेको तैयार नहीं, इसका क्या उपाय है ! इनकी कृपाके एक कणका करोड़वाँ अंश आप किसी प्रकार ग्रहण कर लें तो फिर नाम छूटे ही नहीं। मैं जो इनके पास हूँ, सर्वथा इनकी कृपा ही हमें रखे हुए है। यहाँ जितने व्यक्ति मेरी दृष्टिमें हैं, उनमें सबसे अधिक मेरी दृष्टि गोस्वामीजीकी ओर आकर्षित होती है और मैं सोचता हूँ कि यदि चाहें तो ये ऐसे बननेकी चेष्टा कर सकते हैं। कृपामें विषमता नहीं है, पर चाहकी कमीके कारण लोगोंको कई परिस्थितियोंका प्रतिबंधक लगा हुआ है। पर आपपर (श्रीगोस्वामीजीपर) चाहे आपकी चाहके कारण अथवा अनिर्वचनीय सौभाग्यवश हो, आप इस परिस्थितिमें हैं कि इसकी साधना कर सकते हैं। भाईजीका स्नेह कहीं भी कम-वेशी नहीं है, पर आपपर (श्रीगोस्वामीजीपर) वह किसी अंशमें मुझे प्रकट-सा दीखता है।

इनके (श्रीभाईजीके) साथ रहकर भी हमारी स्थिति बदलती नहीं, इसका क्या कारण है ? पहली बात यह है कि जैसी सच्ची लगन होनी चाहिये, वैसी लगनवाली मंडलीका अभाव-सा है और दूसरी बात है इनकी कही हुई बातपर बहुत कम ध्यान देना। तीसरी बात है सांसारिक प्रपञ्चका बाहुल्य। यदि दूसरी और तीसरी बात न होकर भी सच्ची लगन रखनेवाली मण्डली बन जाय, जिसकी इनमें सचमुच श्रद्धा हो और सुननेकी लगन हो, तो फिर बाध्य होकर भाईजीके मनमें भगवान्‌की प्रेरणा हो

जाय जिससे वे हँसाते-खिलाते भी स्थिति सर्वथा बदल दें। बात मेरी समझमें ऐसी आती है कि भाईजी अब इस जगत्से बहुत ऊँचे उठ गये हैं और निरन्तर उठते ही जा रहे हैं, अतः अब इनकी ओरसे चलाकर लोगोंकी श्रद्धा-प्रेम बढ़ानेकी चेष्टा असम्भव-सी है। पर मंडली ऐसी जुट जाये जो भाईजीको तंग करनेका उद्देश्य तो रखे नहीं, पर मन-ही-मन इनकी बात सुननी चाहे तो फिर अपने-आप इनके द्वारा ऐसी चेष्टा हो सकती है कि सब कोई आकर्षित हो जायँ। ये जो बातें कहते हैं कि 'ऐसा करो', तो उसके करनेकी सच्ची नियत लेकर बढ़नेकी चेष्टा यदि मनुष्य करे तो ऐसी कोई बात नहीं कि वह चेष्टा सफल हो—पूरी हो, यह शर्त नहीं है। शर्त यह है कि चलनेकी चेष्टा करनी है। यह भी हमलोगोंसे नहीं होता, इसलिये व्यक्तिगत रूपसे ही लाभ उठानेकी चेष्टा होनी चाहिये। और उसकी प्रारम्भिक प्रक्रिया है सचमुच अपनी नीयतसे (आवश्यक काम करनेके बाद) भजनकी तत्परतापूर्ण चेष्टा करनी। भजन करके देखिये इनकी कृपाकी धारा बहती हुई दिखायी देगी। और आज जो इनका स्वरूप दीखता है, उससे अत्यन्त विलक्षण रूप दीखेगा। निरन्तर विलक्षणता बढ़ती ही जायगी। पारिवारिक आसक्ति इतनी अधिक है कि इस समय यहाँ हैं इसलिये यह भाव है, यहाँसे जाते ही यह भी भूल जाइयेगा।

तुलसीकी उपासना श्रीराधारानीने की थी श्रीकृष्णके साथ मिलन होनेके लिये। कल्पभेदसे तुलसीकी महिमा मैं देख रहा था, आपलोग सुनेंगे तो बहुतोंको विश्वास ही नहीं होगा कि इतनी महिमा सच नहीं है। यहाँतक भगवान् शंकरने कहा है कि जलती हुई चितामें यदि तुलसी काष्ठका एक तिनका भी प्राणीके भाग्यसे पड़ जाये तो फिर उसी क्षण विष्णु-पार्षद उसे वैकुण्ठ ले जाते हैं। त्रिकालज्ञ ऋषियोंपर अविश्वास मनकी मलिनताके कारण ही होता है। सचमुच भजन यदि हो तो प्रत्यक्षकी तरह सब बातें अनुभवमें आने लगती हैं। भजन बिना भगवान् या महापुरुषकी कृपा हो ही नहीं सकती। फिर भजन क्यों नहीं होता ? मैंने अपने जीवनमें यह प्रत्यक्ष अनुभव किया है कि

सबकुछ उनकी कृपासे होता है, अहंकार कुछ भी काम नहीं देता। यह इच्छा हो कि मैं करूँ, तब भजन होता है। यह होता है उनकी दयासे ही। 'हम करते नहीं जैसा आप कहते हैं', इसका उत्तर हमें नहीं मालूम पर सोचता हूँ कि हम क्यों नहीं करते, इसका क्या उत्तर है ! हमें ऐसा मालूम पड़ता है कि जबतक 'हम कर लेंगे' — ऐसा अभिमान रहता है, तबतक नहीं होता।

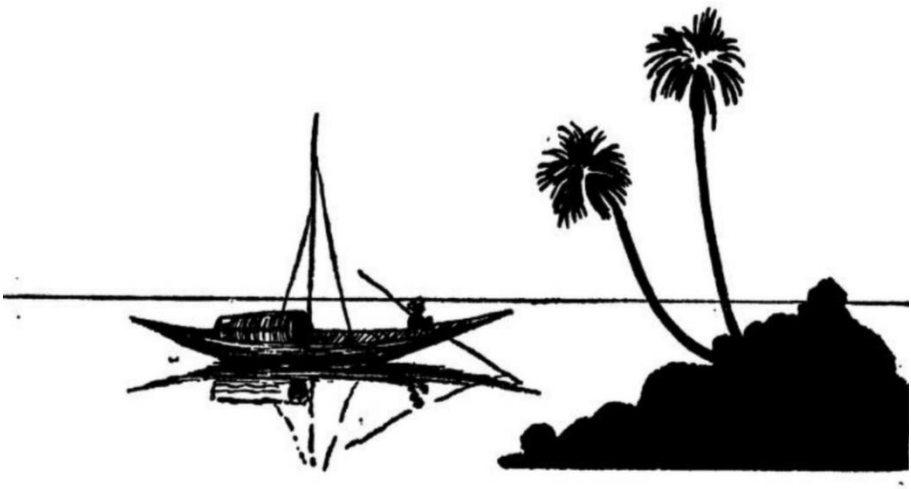

श्रीभाईजीके महिमाकी कुछ और गम्भीर बातें

[माघ शु० ८, सं. १९९८ वि. तदनुसार २४ जनवरी, सन् १९४२ ई. को परम पूज्य श्रीराधाबाबाद्वारा श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी एवं श्रीगम्भीरचन्दजी दुजारीको लिखकर दिया गया प्रबोधन]

भाईजीको जिस दिन जसीडीहमें भगवत्प्राप्ति हुई थी, वह प्राप्ति और आजकी प्राप्तिमें आसमान–जमीनका अन्तर है। वह तो त्रिदेवोंमें सर्वोच्च एक देवके दर्शन थे। इसके बाद जो दर्शन हुए—वह जो उनकी स्थिति थी, वह ऐसी थी जैसे ध्रुवको भगवद्दर्शन। इसके बाद और भी अवस्था ऊँची हुई, श्रीकृष्ण आये। फिर और भी ऊँची अवस्था हुई — युगल सरकार आये। फिर इससे भी ऊँची अवस्था यह हुई कि श्रीराधारानीमें सर्वथा इनका अहंकार विलीन हो गया। अर्थात् श्रीराधारानीके नित्य विग्रहमें ये लीन हो गये। यद्यपि यह अवस्था अनिर्वचनीय है, वाणी, बुद्धि, मनसे परेकी है पर जहाँतक विवेचन हो सकता है, वही बात शाखाचन्द्रन्यायसे कही जा रही है। वह अवस्था इतनी विलक्षण है कि जिस दिन हम लोगोंमेंसे कोई सचमुच भाईजीकी कृपासे गोपीभावकी साधना करके गोपी बन जायेगा, उसी दिन वह ठीक–ठीक समझ सकेगा और फिर वह भी किसी दूसरेको समझा नहीं सकेगा। यह तो प्राप्तिकी बात हुई, पर साधनाके ऊँचे स्तरकी बात भी समझायी जा ही नहीं सकती, केवल एक ही उपाय है, उसका अनुभव करना साधनाके द्वारा, अस्तु, जो भी विवेचन है वह बाहरी है।

अब आप सोचें, भाईजीके राधारानीमें लीन होते ही स्वयं श्रीकृष्ण इस पाश्चभौतिकताके धर्मी बन गये। दूसरे शब्दोंमें समझानेके लिये कह सकता हूँ कि मान लें, जैसे पाश्चभौतिक ढाँचा दीखता है, उसके द्वारा जो व्यवहार होता है, वह तो सर्वथा उसी ढंगसे हो रहा है कि भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं उसके अन्दर श्रीराधाकृष्णके रूपमें अभिव्यक्त हैं, और फिर उनकी सर्वसमर्थताशक्तिके कारण एक ही समय भाईजीके साथ (श्रीराधारानीके साथ) सर्वथा दिव्य सच्चिदानन्दमयी लीला करते हुए भी जड़ जगत्के व्यवहारकी भी रक्षा करते हैं। एक ही समयमें जब कि भाईजी रेडियो सुन रहे

हैं, लोगोंकी दृष्टिमें यह बात रहेगी कि वे रेडियो बड़े चावसे सुन रहे हैं, पर ठीक उसी क्षण एक सर्वथा सच्चिदानन्दमयी लीला वहाँ प्रकट रूपसे चल रही है। उस लीलामें और आपमें इतना ही व्यवधान है कि पाञ्चभौतिकताका पर्दा पड़ा हुआ है। जिस प्रकार समस्त वृन्दावनकी लीलाका एक चित्र खींचकर उसे एक मिट्टीके बर्तनसे ढँक दें, तो मिट्टीके बर्तनके भीतरका रहस्य जिसे मालूम नहीं है, उसको यही दीखेगा कि मिट्टीका पात्र है, भीतर क्या है वह जान ही नहीं सकता। वैसे ही जिसे भाईजीके रहस्यका पता नहीं, वह जान ही नहीं सकता कि इस पाञ्चभौतिक ढाँचेसे जो आवाज आती है—'भाया दूलीचन्द ! दवाई ला तो।' यह आवाज सर्वथा श्रीराधाकृष्णकी अचिन्त्य दिव्य सर्वसमर्थताशक्तिके कारण प्रारब्ध व्यवहारके लिये उनके द्वारा कही गयी है, और ठीक उस समय कही गयी है कि जिस समय एक विलक्षण लीला वहाँ चल रही है। शब्दमें ताकत नहीं कि मैं समझा सकूँ, मेरी बुद्धि जिस बातको ठीक समझ रही है, वह वाणीमें आ ही नहीं सकती। वह तो सर्वथा उनकी कृपासे ही संभव है। आप नीचे हैं, ऊँचे हैं यह प्रश्न नहीं है, प्रश्न है कि मैं सोचकर भी उसे ठीक-ठीक भाषाबद्ध नहीं कर पाता तो क्या करूँ। अस्तु, ऐसा समझें कि समस्त भूत, भविष्य, वर्तमानकी लीलाके आधारस्वरूप जो श्रीराधाकृष्ण हैं, वे स्वयं इस ढाँचेमें पाँच-सात वर्ष पहलेसे अभिव्यक्त हो गये हैं और तबतक रहेंगे जबतक यह पाञ्चभौतिक ढाँचा चलेगा। उसमें होगा क्या कि जिसकी भावना जैसी है उसीके अनुरूप प्रतीति होगी। वेनीमाधव चाहें तो इन्हें वहाँ श्रीसीतारामके रूपमें दर्शन होगा; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण ही राम हैं और राधारानी ही सीता हैं। ठीक-ठीक साधना पूरी होते ही इस ढाँचेकी जगह वह दिव्य लीला ही दीखेगी। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके अवतारमें और यहाँकी स्थितिमें यह अन्तर है कि अवतार-कालमें जो अवतरण होता है, वह पाञ्चभौतिक ढाँचेका आधार लेकर नहीं होता, वह होता है सर्वथा आत्ममायाकृत, जहाँ पाञ्चभौतिकताका सम्बन्ध नहीं है। जो योगमायाका पर्दा है, वह भी पाञ्चभौतिक पर्दा

नहीं है। अतः यहाँ जो अवतार है उसे आप प्रकारान्तरसे स्वयं भगवान् श्रीकृष्णका अपनी आह्लादिनी शक्ति श्रीराधाके साथ आवेशावतारके रूपमें हुए हैं — ऐसा समझें। आजसे पाँच–सात वर्ष पूर्व अवतरित हुए हैं और पाञ्चभौतिक ढाँचेके प्रारब्धशेषतक यह अवतार रहेगा।

मेरी यह धारणा है, तुच्छ समझ है कि श्रीराधारानीके साथ अभेद किसी–किसी बिरले महापुरुषका ही होता है, जिसका उदाहरण अबतक केवल महाप्रभु हैं, और कोई मेरी दृष्टिमें, शास्त्रमें या आधुनिक सन्तोंमें नहीं है। सारांश यह है कि जिस क्रममें साधना बढ़ी उसी क्रममें ऊपर उठते–उठते भाईजी इतने ऊपर उठ गये कि स्वयं श्रीराधारानीका साक्षात्, जिसके लिये पद्मपुराणमें नारदजीसे स्वयं श्रीगोपीजनोंने कहा है कि इनके इस रूपका दर्शन ब्रह्मा एवं शंकरके लिये भी दुर्लभ है, उस रूपका दर्शन, नारद तुम्हें हुआ है, वह दर्शन भाईजीको हुआ और फिर भाईजी उसीमें लीन हो गये। जो जीव हनुमानप्रसादके कलेवरका आश्रय करके ४०–५० वर्ष पहले पैदा हुआ था, वह 'मैं हूँ', इस अहंकारको सर्वथा 'मैं राधा हूँ' — इस रूपमें विलीन करके श्रीराधारानीके आश्रित है, वह सर्वथा उस सच्चिदानन्दमय राज्यके द्वारा प्रकाशित होता है। उस वागेन्द्रियमें जो बोली आती है, उस चिन्मय राज्यकी बोली आती है। प्रत्येक इन्द्रियोंकी प्रत्येक चेष्टा, जिस चेतनके आधारपर हमलोगोंकी चलती है, अर्थात् आत्माके रहनेपर ही लिंगशरीरकी जो चेष्टा होती है, उनमें उस राज्यका प्रकाश आता है, जो सर्वथा पूर्ण सच्चिदानन्दमय है, जीवकी तरह अणु नहीं है। इसीलिये इनके सम्पर्कमें आनेवाले पुरुषका भी ऊँचे–से–ऊँचा उज्ज्वलतम भविष्य है।

भगवान्‌की सर्वसमर्थताशक्तिके कारण यह किसीको पता भी नहीं चलेगा। सुनकर भी विश्वास उसी मात्रामें होगा, जिस मात्रामें भजनके द्वारा, इनकी कृपा प्रकाशित होकर इस बातको ग्रहण करनेमें अन्तःकरण समर्थ हो सका है। यह मैं स्वयं अनुभव करता

हूँ कि उत्तरोत्तर यह अनुभव विलक्षण होता जाता है। मेरी तुच्छ बातका, तुच्छ अनुभवका कोई मूल्य नहीं है, क्योंकि वह सच्चा अनुभव होता तो कह ही चुका हूँ कि मेरा जीवन, मेरी पारमार्थिक स्थित, भाईजीके प्रति मेरा व्यवहार जगत्के लिये आदर्श हो जाता, पर वह रत्तीभर भी नहीं हुआ तो फिर वे बातें-ही-बातें हैं — ऐसा ही मानना पड़ता है। अस्तु, कुछ भी हो। जितना लिखकर समझानेकी चेष्टा कर सका, वह यही है। विश्वास कराना हमारे वशमें नहीं है, यह श्रीराधाकृष्णके वशमें है। जो वहाँ (भाईजीके स्थानपर) मेरे विश्वासके अनुसार, चाहे वह अधूरा विश्वास ही क्यों न हो, वहाँ उस ढाँचेमें अभिव्यक्त है। इसीलिये सर्वज्ञता, सर्वसमर्थता, स्वयं भगवान् श्रीराधाकृष्णकी जो-जो बातें शास्त्रोंमें आजतक कही गयी हैं, कही जायेंगी — सब-की-सब वहाँ प्रकट हैं। पर वह प्रकाशित होगा उसीके लिये, जिसका सर्वथा संशयहीन विश्वास होगा। थोड़ा-बहुत परिचय तो निश्चय मिल सकता है, यदि सच्चा श्रद्धालु बननेकी चाह करे। क्योंकि छिपाना तो उसीके लिये है, जो अश्रद्धालु है, श्रद्धालुके लिये छिपाना है नहीं। उसकी श्रद्धा प्रकट करनेके लिये बाध्य कर देगी। उस सम्बन्धमें स्वयं भाईजी ऐसी-ऐसी बातें दो-तीन बार कुछ शब्दोंमें कह गये जिससे मेरे ऊपर यही असर पड़ा, असर ही नहीं पड़ा—बिल्कुल समझमें आ गया कि भाईजीने जो स्थिति बतलाई है, उसको स्वयं प्राप्त हो गये हैं। दूसरे शब्दोंमें स्वयं राधारानीने दया करके बतला दिया कि जिसके चरणोंकी खोज कर रहे हो, वह मैं स्वयं इस ढाँचेमें आ गयी हूँ। हनुमानप्रसादकी आत्मा तो मुझमें विलीन हो गयी है, उसकी जगह अब मैं अपने प्रियतम श्रीकृष्णके साथ हूँ। राधारानीके पास जाना चाहते हो, तो तुम तीन सालसे उनके पास ही हो, केवल पाञ्चभौतिकताका पर्दा है, यह उठेगा समयपर। जिस प्रकार अवतार-कालमें श्रीकृष्णका विग्रह एक स्थानपर दीखकर भी सर्वव्यापक है, दामबन्धन-लीलामें, विश्वरूप-दर्शनमें इसे समझा जा सकता है। वैसे ही एक देशमें दीखनेपर भी वह सर्वव्यापक है। जिस क्षण आपको या किसीको सचमुच उसका

दर्शन होगा, उस समय यह देशका प्रश्न ही नहीं रह जायेगा। वहाँका देश बिल्कुल चिन्मय हो जायेगा, जो सर्वथा अनिर्वचनीय है। भाईजीने एकबार मुझसे कहा था — 'दर्शन होते समय यह देश बिल्कुल नहीं रहता, वह सर्वथा सच्चिदानन्दमय हो जाता है।' आपका प्रश्न जो मैंने समझा, इसके उत्तरमें यही बात समझें कि पाञ्चभौतिकताकी सीमामें तभीतक बाँध रहा हूँ, जबतक कि उस लीलाका दर्शन नहीं हो रहा है। क्योंकि वह लीला ही सर्वव्यापकतत्त्व है, वह आपके अन्तःकरणमें भी है, अणु-अणुमें है, पर वहाँ (श्रीभाईजीके स्थानपर) वह अभिव्यक्त है। भगवान् श्रीकृष्ण जैसे एक सौ पच्चीस वर्षके लिये, समस्त रूपोंमें सब लीलाओंमें व्यापक भी थे, वैसे ही प्राप्तिके दिनसे लेकर प्रारब्ध-शेषतक श्रीयुगल सरकारकी सच्चिदानन्दमयी लीला उस ढाँचेका पर्दा लेकर सबके सामने अभिव्यक्त है। अभिव्यक्त होते हुए भी वह सर्वव्यापक है। पता नहीं समाधान हुआ कि नहीं। (किसी वस्तुकी ओर संकेत करते हुए —) इसमें भी गोलोक है, पर अभिव्यक्त नहीं है।

बड़ी सुन्दर बात बतलाता हूँ। यही तो कराना चाहता हूँ। साध्य-साधन यही है, बार-बार कह चुका हूँ। आज सुबह बतानेकी स्फुरणा हुई थी। सोचा तो कई बार था। यद्यपि मेरे पास कोई प्रमाण नहीं है। महात्माजीके पत्रके अनुसार तो केवल सूक्ष्म शरीरके चिन्मय हो जानेका प्रमाण मिलता है। पर एक बात ध्यानमें आयी — श्रीवृन्दावनतत्त्वपर विचार करते हुए। शास्त्रोंके प्रमाणसे एवं युक्तियोंसे पहचान मिलती है कि स्वयं जितने दिन अवतार रहता है, उतने दिनतक ही नहीं, वह स्थान सदाके लिये चिन्मय हो जाता है, इसीलिये व्रजवासी महात्माओंकी हजारों वाणियाँ, हजारों पद्य ही नहीं, ऋषिप्रणीत ग्रन्थमें भी अवतारका तिरोभाव होनेपर भी यह प्रमाण मिलता है — सच्चिदानन्दमयी भू-रेख ! अतः वह जमीन जो मिट्टीकी है, वह चिन्मय हो गयी, तो फिर यह पाञ्चभौतिक ढाँचा भी तो चिन्मय ही होना चाहिये। क्योंकि पृथ्वीतत्त्वमें तो कोई अन्तर ही नहीं है। इतना तो शास्त्रीय प्रमाण मैं देख चुका हूँ कि

भगवत्प्राप्त वैष्णवोंका पाञ्चभौतिक शरीर भी साधारण पाञ्चभौतिक नहीं होता। पर जैसे हरिदासजी, प्रकाशानन्दजी आदिके अतिरिक्त औरोंको तो वृन्दावन जड़ ही दिखता है, वैसे ही भाईजीका यह पाञ्चभौतिक ढाँचा हो गया है दिव्य, पर वह अनधिकारीको जड़ ही दीखेगा, ऐसी धारणा कई बार मनमें हुई। इसे प्रमाणित करनेकी सामर्थ्य तो हमारेमें है नहीं, पर थोड़ी देरके लिये मान लें। यद्यपि मेरे विश्वासके अनुसार तो इस पाञ्चभौतिक ढाँचेके, भाईजीके शरीरके मैलका भी उतना ही माहात्म्य है कि जितना भगवान्‌के अवतार-कालके समयके व्रजरजका, इस समयका नहीं, उस समयके (अवतार-कालके) व्रजरजका। क्योंकि अवतार तो यहाँ भी है ही, कोई विश्वास करे चाहे न करे। भगवान् विश्वनाथकी जो मूर्ति त्रयोदशीके दिन पीतलसे ढँक दी जाती है और उसपर जल चढ़ता है, तो श्रद्धापूर्वक, भावसे जल चढ़ानेके लिये वही फल मिलेगा। मूर्ति ढँकी है तो क्या, है तो वह मूर्ति भगवान् शंकरकी। उसी प्रकार यदि इस (भाईजीके) पाञ्चभौतिक ढाँचेका ही चिन्तन होता रहा तो मेरे संशयहीन विश्वासके अनुसार उसे वही फल मिलना चाहिये जो फल प्रत्यक्ष लीला-चिंतनका है। क्योंकि वह प्रत्यक्ष लीलाका ही आवरण है, उसीका पर्दा है । 'हम नीच हैं, प्रभो ! हमारी आँखें भीतर नहीं पहुँचतीं, पर्देके भीतर हम तुम्हें नहीं देख पाते। पर पर्देके बाहर तुम्हारे चरणोंमें फूल चढ़ा रहे हैं' — यदि इस भावसे पूजा हुई तो मेरी तो धारणा है कि उसके अन्तःकरणमें निश्चय ही लीलाका उन्मेष हो ही जायेगा।

सर्वसमर्थ श्रीभाईजी

[परम पूज्य श्रीराधाबाबा द्वारा पौष शु० १३, सं. १९९८ वि. को श्रीगोस्वामीजी, श्रीदुजारीजी एवं श्रीगोवर्द्धनजीको लिखकर दिया गया उपदेश]

राधा राधा राधा राधा राधा राधा राधा

कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण

देखिये रत्तीभर भी हताश अथवा निराश होनेकी जरूरत नहीं है। जैसा संग अभी बन रहा है, यदि वह छूटे नहीं तो फिर कोई दूसरा प्रश्न ही नहीं उठता। और शायद कोई भयानक कुसंग लग जाय तभी यह संग शायद छूटे, नहीं तो भाईजीकी कृपाकी रस्सीमें हमलोग एकबार बँध चुके हैं, अब शक्ति नहीं कि चाहनेपर भी चले जायँ। जायेंगे भी तो कुछ दिन घूम-फिरकर वापस आना पड़ेगा, उनसे दूर रह ही नहीं सकते, क्योंकि यहाँ रह रहे हैं उनकी कृपासे, इसमें आपका रत्तीभर भी पुरुषार्थ नहीं है। वे देखेंगे, दूसरे शब्दोंमें किसीसे खेल करना चाहेंगे, तब कुछ दिनके लिये वह भले ही चले जायँ, नहीं तो असंभव है, कोई जा ही नहीं सकता। अस्तु, जितना संग हो रहा है, उतना ही होता जाय तो फिर निश्चित समझिये, बिना किसी संशयके इस बातको मान लीजिये कि कम-से-कम ५-७ आदमी जो मेरी दृष्टिमें हैं, उनपर अपने-आप भाईजीकी कृपा प्रकाशित होकर एक क्षणमें सारी कलुषता मिटाकर वे लोग भाईजीके सच्चे संगके अधिकारी बन जायँगे, तथा यदि भाईजी अपनी लीला पहले भी संवरण कर लें, तो उसके प्रारब्ध शेष रहनेतक उसकी सँभाल करेंगे। यदि थोड़ा भी उन्मुख हुआ तो फिर प्रत्यक्ष दर्शन देकर सम्हालेंगे, नहीं तो अलक्षित रूपमें सम्हालेंगे। सारांश यह है कि कुछ व्यक्ति जो इस प्रकार भाईजीके प्रति भाव रखनेवाले हैं, वे चाहे कितने भी मलिन क्यों न हों, एक क्षणमें भाईजी अपनी अहैतुकी कृपासे उन्हें अपने साथ ले जानेके अधिकारी बना लेंगे। इनके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है, कोई परिस्थिति इनकी इच्छामें बाधा नहीं डाल सकती। जिस प्रकार श्रीराधाकृष्णपर कोई नियम लागू नहीं, वे सर्वतंत्र-स्वतंत्र हैं, वैसे ही इनपर भी कोई नियम लागू नहीं, रत्तीभर भी किसी

प्रकारका बन्धन नहीं है। ये जो चाहें सो कर सकते हैं। अतः इनके लिये एक क्षणमें किसीको बहुत ऊँचा अधिकारी बना देना हँसी-खेल है। आपसे (श्रीगोस्वामीजीसे) उस दिन कह चुका हूँ, पद्मपुराण वाली बात। एक भक्तके लिये श्रीकृष्णने एक गोपीसे कहा — 'प्रियतमे ! इसे अपने समान बना लो।' उसी क्षण उस गोपीने उसके साथ अभेद चिंतन करके एक क्षणमें उसे गोपी बनाकर उसे श्रीकृष्णके चरणोंमें बैठा दिया और वीणा देकर कहा — 'मेरे प्राणनाथको भजन सुनाया कर।' इसी प्रकार अथवा इससे भी विलक्षण ढंगसे, भाईजी उन ५-७ व्यक्तियोंको एक क्षणमें, अपने समान बनाकर श्रीकृष्णकी सेवामें अपने साथ रख लेंगे, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। विश्वास इसलिये कहता हूँ कि मैंने भाईजीसे ये बातें कभी पूछी नहीं, पर हमें सन्देह नहीं है, बिल्कुल रत्तीभर भी शंका नहीं है। हाँ, यह भय कभी-कभी अवश्य होता है — किसी ऐसे कारणसे, जिनके विषयमें कहा नहीं जा सकता कि उसमें क्या हेतु है — भाईजीको खेल करनेकी इच्छा हो जाये, किसीको कुछ दिन घुमाना-फिराना चाहने लग जायँ तो बेचारा कुछ देर बाद पहुँचे। यह लीला क्यों होगी, कुछ कहा नहीं जा सकता — इनमें विषमता है नहीं कि एकको करें और दूसरेको छोड़ दें। पर शास्त्रोंमें जय-विजय पार्षदोंकी बात आप सुनते हैं वैसे ही इनके द्वारा भी ऐसी लीला कोई हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं है। यदि नहीं हुई तो फिर वे ५-७ व्यक्ति सब-के-सब सर्वोत्तम एक प्रकारकी ही गति अर्थात् जहाँतक वाणीकी सामर्थ्य है, मनकी पहुँच है, उसके अनुसार सर्वोत्तम पारमार्थिक स्थिति—भाईजीके अनुगत रहकर अनन्तकालके लिये, कभी भी समाप्त न होनेवाले समयके लिये, श्रीकृष्णकी सेवामयी लीलामें अधिकार कर लेंगे।

मैं जो बार-बार आप लोगोंसे अनुगत होनेके लिये कहता हूँ, उसका कारण अपनी समझमें मैंने यही सोचा है कि कहीं भाईजीकी कृपाशक्तिका दुरुपयोग नहीं होने लग जाये। कृपाशक्तिका दुरुपयोग होनेपर फिर साथ रखनेमें देरीके दंडके लिये शायद उसे

अवश्य तैयार रहना चाहिये। अनुगतके सभी अपराध माफ हैं, उसके सभी अपराध भाईजी अपना अपराध मानेंगे, अतः उसके लिये सर्वथा संशयहीन, निष्कण्टक, भयहीन भविष्य, अत्यन्त मङ्गलमय भविष्य निश्चित है, पर उन ५–७ में जो अनुगत होनेकी चेष्टा प्रकाशित नहीं करेंगे, उनके लिये शायद देरी हो सकती है। अनुगत हो जाना तो सर्वथा उनकी कृपासे ही होगा, पर चेष्टा, लालसा, हार्दिक उत्कण्ठाका प्रकाश अंतःकरणमें होना ही चाहिये। नहीं तो आप विचारें, विवेकसे विचारें — जो सर्वथा उनका अनुगत हो गया है, यदि उसे कुछ विशेष पुरस्कार नहीं मिले तो अनुगत होना एक व्यर्थ चीज हो गयी। फिर तो सब धान बाइस पसेरी — सर्वथा सर्वस्व न्यौछावर कर देनेवालेके लिये भाईजीने वही किया जो एक साधारणके लिये किया। यह भागवती नियम नहीं है, यद्यपि वे (पू. श्रीभाईजी) हैं सर्वतंत्रस्वतंत्र, कोई बन्धन नहीं है, पर अपनी ही लीलाकी सांगोपांगता ठीक पूरी करनेके लिये, अनुगत एवं जो अनुगत नहीं है उसमें जल्दी एवं देरीका भेद प्रायः हो जाता है। यह ठीक है कि (जीवनके) अंतिम क्षणतक अनुगत हो जाये तो फिर कोई बात नहीं क्योंकि वह अनुगतकी श्रेणीमें आ गया, फिर यह विचार नहीं कि वह इतने दिनसे अनुगत है, यह तो अभी हुआ है; वहाँ कालका प्रश्न ही नहीं है, वहाँ सब वर्तमानकाल है। अतः अनुगत होनेकी लालसा अवश्य जागृत करनी चाहिये। इसमें रत्तीभर भी कोई परिश्रम नहीं है। गोस्वामीजी एवं दुजारीजी मेरी इस बातको कई कारणोंसे कुछ ज्यादा समझ सकेंगे। इस पाञ्चभौतिक ढाँचेके भीतर इतनी विलक्षण वस्तु है कि जितनी श्रद्धा है, उससे अधिक श्रद्धाकी आवश्यकता नहीं है, केवल उन्मुख होनेकी जरूरत है। उन्मुख होते ही वह विलक्षण वस्तुगुण जो अत्यन्त स्पष्टरूपसे वहाँ उस ढाँचेमें अभिव्यक्त है, स्वयं उसे अपने ओर चुंबककी तरह खींच लेगी। 'नहीं खींच रही है' — इसमें मेरी तुच्छ बुद्धिके अनुसार यही कह सकता हूँ कि श्रद्धा काफी है, पर उन्मुखता नहीं है। विषयासक्ति, पारिवारिक आसक्ति, लौकिक स्वार्थ बीचमें पड़ा है, वह कृपाके प्रवाहको रोक देता है। यद्यपि

वस्तुगुण इतना अधिक है, कि जीत उसीकी होगी, ये सब उस कृपाके प्रवाहमें बह जायेंगे। पर जब कभी तक ये दोष हम लोगोंमें हैं, तो मानना चाहिये कि कृपाशक्तिके प्रवाहके संस्पर्शमें ये नहीं आये; नहीं तो अबतक बह गये होते। अस्तु, घबड़ाना नहीं है। उस दिनकी तरह फिर यही बात कहता हूँ कि अधिक-से-अधिक मन, वाणी, शरीरका संग करते चले जाइये। दुजारीजीका भाईजीका मानसिक संग बहुत ठीक होता है। यह एक सर्वोत्तम पद्धति है — दिन-रात उनकी बातका चिन्तन करना। इसका बड़ा विलक्षण परिणाम होगा। **'कृष्णं विदु परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने'** — इसी नीतिके अनुसार, भाईजीके असली स्वरूपका ज्ञान नहीं होनेपर भी निश्चय ही बिना संदेहके इनका असली रूप सामने आ जायेगा, उसे जानना नहीं पड़ेगा, स्वयं वह ढाँचा जो है, जो इसके भीतर है, सब-का-सब स्पष्ट रूपसे दीखने लग जायेगा।

दुजारीजीकी पद्धति सर्वोत्तम पद्धतियोंमें एक है, अवश्य ही इससे ऊँची एक पद्धति और है, जो शीघ्र-से-शीघ्र भाईजीके स्वरूपको सामने ला दे, पर वह साधना नये सिरेसे करनी पड़ेगी। किन्तु उसकी हम लोगोंको कोई विशेष जरूरत नहीं है। जितना भाईजीके विषयमें सुन चुके हैं, वही काफी है, उसे बार-बार मनसे चिंतन करना, सर्वथा श्रद्धालुओंके बीचमें उसकी चर्चा करना तथा अपना सारा विवेक, सारा धैर्य बटोरकर जबतक संभव हो, तबतक अधिक-से-अधिक भाईजीके पास रहना — यही मानसिक, वाचिक और कायिक संग है। यह करते-करते भाईजीके प्रति इतनी शीघ्रतासे आकर्षण बढ़ेगा कि मालूम होगा—मानो जादू होता जा रहा है। हठात् ऐसे विलक्षण ढंगसे भाईजी बीचमें प्रेममयी दृष्टि डालेंगे कि आप प्रेममें विभोर हो जायँगे।

अभी उनका हँसना देखते हैं, उनके हाथका स्पर्श भी पाते हैं, आपको (गोस्वामीजीको) बहुत आनन्द मिलता भी है, पर वह आनन्द इतना असीम है तथा इस विलक्षण जातिका है कि अभी उसका दर्शन तो हुआ ही नहीं है। इन तीन कायिक,

वाचिक और मानसिक संगकी चेष्टासे अंतःकरण उस आनन्दके अनुभवका अधिकारी बनेगा और फिर वह आनन्द उत्तरोत्तर बढ़ता ही जायेगा। उनका हँसना जो दृश्य, जो भाव आज आपके सामने लाता है, उससे अनन्त गुणा अधिक पीछे लायेगा, उसकी कल्पना भी अभी नहीं हो सकती। पञ्चभौतिक ढाँचेका महत्त्व अभी हमारे सामने उद्धरित नहीं हुआ है। आपको एक बड़े महत्त्वकी बात बतलाता हूँ — भाईजीका चरणरज व्रजरजसे तनिक भी कम नहीं है। भाईजीके पास रहना व्रजवास ही है। बल्कि इससे भी कुछ ऊँचा है, जिसको कई कारणोंसे लिखना नहीं चाहता। व्रजका महत्त्व जिन-जिन कारणोंसे है, उससे प्रबल कारण इस ढाँचेके अंदर अभिव्यक्त है। गोस्वामीजी एवं दुजारीजी कुछ अनुमान लगा सकते हैं। बिलकुल वह इतनी विलक्षण बात है कि बार-बार कहनेपर भी उसका थोड़ा भी अनुमान कठिन है। पर वह इतनी विलक्षण वस्तु है कि बस, कुछ कहना नहीं बनता। आजतक अभीतक लोगोंकी कल्पना भी जहाँ नहीं पहुँची है—वह ऐसी विलक्षण चीज है। और मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि उसके असली स्वरूपका सचमुच ज्ञान, अर्थात्, वह असलमें क्या है—इसका ठीक-ठीक ज्ञान होना मेरे बार-बार उस बातके कहनेपर भी सम्भव नहीं होगा। वह तो केवल भाईजीकी कृपा सापेक्ष है।

भाईजीके विषयमें शास्त्रीय आधारपर चाहे जो भी सुन लें, कह लें, पर भाईजीकी पारमार्थिक स्थिति इतनी विलक्षण है कि सारे विवेचन वस्तुस्थितिकी छायाको भी स्पर्श नहीं कर सकते।

कहना यही है कि जहाँतक आपकी ऊँची-से-ऊँची कल्पना पहुँचे, वहाँतक कल्पना करके भाईजीके चरणोंमें उत्सर्ग हो जाइये।

भाईजी सचमुच ही भक्तवाञ्छाकल्पतरु हैं। इसीलिये मैं कहता हूँ कि उनसे सर्वोत्तम माँग पेश कीजिये — उनके चरणोंमें प्रेम!

मत्सुखकी होली जला दें !

(पूज्य स्वामी श्रीकृष्णप्रेमजी)

[परम पूज्य श्रीराधाबाबा द्वारा फाल्गुन शु० १५, सं. २०१३ वि. को कन्याकुमारीमें पूज्य श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीको दिया गया उपदेश]

उस दिवस फाल्गुन पूर्णिमा थी, जिस दिन पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबा एवं श्रीपोद्दार महाराज भारतवर्षकी दक्षिणी सीमा कन्याकुमारी पहुँचे थे। पू. गुरुदेव कह रहे थे कि विश्वकी एक-से-एक विस्मयजनक वस्तुएँ प्रपञ्च-निर्माताके हाथों सृष्ट हुई हैं। इनमें एक यह दक्षिण भारतका भूमिविन्दु भी है, जहाँसे दक्षिणकी ओर मुख करनेपर पृथ्वीके दक्षिणी ध्रुवतक मात्र जल-ही-जल मिलेगा, कहीं भी भूमिका एक लघु खण्ड भी दृष्टिगोचर नहीं हो पायेगा। इसी प्रकार यदि वह व्यक्ति उत्तराभिमुख हो जायेगा तो उसे उत्तरी ध्रुवतक कहीं भी जलके दर्शन नहीं होंगे, मात्र पृथ्वी-ही-पृथ्वी दृष्टिगोचर होगी। पू. गुरुदेव इसीकी समतुलना आध्यात्मिक दृष्टिसे करते हुए कह रहे थे कि स्रष्टाकी इस निर्मितिसे मानव यदि शिक्षा ले ले और मात्र भगवन्नामका आश्रय ले ले, तो उसके भी जीवनमें एक ऐसा विन्दु आ जाता है, जिसके आगे फिर प्राकृत माया एवं लौकिकता शेष रह ही नहीं जाती। शेष रह जाता है मात्र भावोल्लास अथवा ज्ञानोल्लास। वह या तो मुक्तिसमुद्रमें डूब जाता है, और यदि इस मुक्तिसिन्धुके व्यामोहसे वह पार हो जाय तो उस ध्रुवतक उसकी पहुँच हो जाती है, जहाँ मात्र तत्सुखी भाव-ही-भाव, अगाध प्रीति-ही-प्रीतिका साम्राज्य है।

पू. गुरुदेव गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजीसे कह रहे थे — "गोस्वामीपाद ! आज फाल्गुनी पूर्णिमा होनेके कारण लोग होलिका-दहन करेंगे, आप मेरे प्यारकी लाज रख लीजिए, आप एक व्यक्ति तो ऐसे हों जो संसारमें मत्सुखकी होली जला दें। यह मत्सुखकी अमावस्या मिट जाय और श्रीकृष्णसुखकी जय हो जाय, फिर तो आपकी हृदयभूमिपर तीनों दिशाओंसे प्रीतिभावका महासिन्धु उमड़ उठेगा। आपके सम्मुख तो होंगे रसराज ब्रजेन्द्रनन्दन पलक-पाँवड़ा बिछाये और पूर्व एवं पश्चिम दोनों ओर होगा

महाभावसिन्धु अपने दक्षिण एवं वाम रसास्वादनमें आपको आपाततः निमग्न कर देनेको समुत्सुक। जीवनमें फिर आपके पल-पल रस उछलता रहेगा।"

पू. गुरुदेव गोस्वामीजीको लेकर वहाँ खड़े थे, जहाँ कन्यास्वरूपा कुमारी पार्वतीजीका मन्दिर है। जनश्रुतिके अनुसार भगवती पार्वती यहाँ एक पैरपर खड़ी रहकर भगवान् शिवकी प्राप्तिके लिये तप कर रही हैं। कहते हैं, कृतयुग आनेपर भगवान् शंकरसे उनका परिणय-मिलन होगा। इसी स्थलपर पू. गुरुदेव श्रीचिम्मनलालजीको कह रहे थे — "गोस्वामीपाद ! ब्रजभावकी गरिमा तो अति विचित्र है। वहाँ राधा इस प्रकार कोई तप नहीं करती, जिससे उसे उसके प्रियतम श्रीकृष्ण मिल जावें। उसे तो 'स्वसुख' के लिये, 'स्वकल्याण' के लिये, निजकी कृतकृत्यता अथवा निजके जीवनके साफल्यके लिये श्रीकृष्ण-मिलनकी चाह ही नहीं है। वहाँ तो प्रियतम श्रीकृष्ण ही अपनी प्राणेश्वरी श्रीराधाकिशोरीसे मिलनेकी चाह करते हैं। वे तो उनका सन्देश पाकर उनके सुखके लिये संकेतवटपर मिलने जाती हैं।"

"गोस्वामीजी ! यह संकेतवट इस जगत्के नायक-नायिकाके मिलनभूमिकी तरहका कोई स्थान नहीं है। यहाँका संकेत-स्थल तो चिन्मय देश है, जो लीलाकी सुन्दरताके लिये जब जिस प्रकारके वातावरणकी आवश्यकता होती है, वैसा वातावरण समुपस्थित कर देता है। इस चिन्मय प्रदेशमें वे सभी उपकरण सदैव समुपस्थित हो जाते हैं जिससे लीला निर्बाध रूपसे चल सके और लीलाकी सम्पन्नता सुन्दरतम प्रकारसे हो सके। कहनेका सार यही है कि तत्सुखसुखित्वका भाव श्रीबृषभानुनन्दिनीके अणु-अणुमें परिव्याप्त है। इन भावतरंगोंकी गाथा अनिर्वचनीय है। वस्तुतः इन भाव लहरियोंकी महिमा अनुमानसे सर्वथा परे है।"

"गोस्वामीपाद ! निजसुख–कामनाका नितान्त अभाव और प्रियसुख–वाञ्छामें आशिख निमग्नता ही ब्रजभावके साधककी आधारशिला है । स्वसुख–वासनाका आत्यन्तिक राहित्य ही ब्रजभावका आरम्भ है । श्रीप्रिया–प्रियतमकी रसमयी सेवामें संलग्न सखियों–मञ्जरियोंके तत्सुखी भावका स्तर और स्वरूप तो अनुमानातीत है ही, ब्रजदेशकी प्रकृति भी तत्सुखी भावसे सदैव भावित रहती है । इस विलक्षण देशकी लताएँ–वृक्ष, पशु–पक्षी — यहाँतक कि एक तृण भी तत्सुखी भावसे भावित रहता है ।"

यह सब वार्त्ता करते–करते पू. गुरुदेव अरब सागरमें सूर्यास्त एवं बंगालकी खाड़ीमें चन्द्रोदयका दृश्य देखने चल दिये । यहाँ कन्याकुमारीमें अरबसागरपर सूर्यास्तके समय डूबते सूर्यका दृश्य बहुत ही भव्य होता है । सभी यात्रियोंने अरबसागरपर डूबते सूर्यका दृश्य देखा और बंगालकी खाड़ीमें फाल्गुनी पूर्णिमा होनेसे रुपहले चन्द्रोदयका दृश्य अतिशय मनोहर था ।

आज पू. गुरुदेवने यही निश्चय किया कि वे गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजी एवं श्रीवल्लभलालजी गोस्वामी आदिके सहित रात्रिमें सागरके तटपर ही अपना आसन लगावेंगे । यद्यपि लोगोंने पू. गुरुदेवको यह कहकर मना करना चाहा कि वहाँ सागर–तटपर बैठना खतरेसे खाली नहीं है । पूर्णिमाके दिन सागरमें वैसे ही उत्ताल ज्वार आता रहता है, और उत्ताल लहरें किसको सागरके मध्य खींच लें, कुछ भी असंभावित घट सकता है । किन्तु एकबार कुछ भी निश्चय कर लेनेपर पू. गुरुदेवको उनके हठसे हटाना प्रायः असंभव ही होता था ।

पू. गुरुदेवकी परम रसमयी भावनाको कौन ग्रहण करे ? लोगोंके पास इस भावनाको ग्रहण करनेका पात्र ही जो नहीं था । पू. गुरुदेवके लिये तो सागर उनके प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र ही तो थे । संसारके लिये परिदृश्यमान् जगत् और जगत्से उत्पन्न

होनेवाले नरक–स्वर्ग, मृत्यु–जन्म राग–द्वेषमूलक हो सकते हों, पू. गुरुदेवके लिये तो कार्यकारणात्मक यह समस्त परिदृश्यमान् जगत् नराकृति परब्रह्म उनके प्रियतम श्रीकृष्णका ही रूप तो था। वे श्रीकृष्ण उनका मृत्यु विधान करें या जीवित रखें, पू. गुरुदेव तो उनकी रुचिकी ही सर्वथा एवं सर्वथा जय मनाते रहते थे। उनका स्वयंका तो अहं शेष था ही नहीं, जो भयग्रस्त हो अथवा अनुकूलता–प्रतिकूलता अनुभव करे।

पू. गुरुदेव तो रात्रिपर्यन्त गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजीसे ब्रजरसके निर्मलतम तत्सुखीभावोंकी चर्चा करते रहे।

पू. गुरुदेव गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजीको यही समझा रहे थे कि — "गोस्वामीपाद ! आपके जीवनमें एक बहुत बड़ी भूल यह होती है कि आपको कर्त्तव्यबोधकी भावना स्वयंमें अटकाये रखती है। आप उसे जड़–मूलसे हटा दीजिये। विविध कर्त्तव्य–बोधकी भावनामें अटके हुए साधककी जीवनधारा सर्वथा सर्वरूपेण नीलसुन्दरकी ओर प्रवाहित नहीं हो पाती। जब आपको पोद्दार महाराज जैसे रसिक सिद्ध सन्तकी कृपा–कणिका मिल चुकी है, फिर आप यह क्यों सोचते हैं कि मुझे अमुक धर्मका पालन करना है, मुझे अमुक कर्त्तव्यका निर्वाह करना है। बस, अपने जीवनकी धाराको सर्वथा सर्वरूपेण नीलसुन्दरकी ओर प्रवाहित कर दीजिये। इस जगत्से सर्वथा एवं सर्वदाके लिये उपरत हो जाइये। तीनों लोकोंके सुखको घास–फूसके समान समझिये। कितना ही आप जप–तप कर लें, कितना ही तीर्थाटन करें, जो सुख आपको श्रीपोद्दार महाराजकी कृपा–कणिका देनेवाली है, उसकी तो अभी कल्पना ही आप कर नहीं सकते। अतः अपने अहंकारके तटको चूर्ण–चूर्ण करके उसे अथाह समुद्रवत् श्रीपोद्दार महाराज रूप रससिन्धुमें मिला दीजिये। आपकी अहंकारकी जलधारा उनसे मिलकर सिन्धु हो जाय। सरिता जब सिन्धुमें मिल गयी तब चाहे वह

सरिता गंगा हो, यमुना हो, कृष्णा हो, गोदावरी हो, एवं चाहे कावेरी ही क्यों न हो, अब किसकी सामर्थ्य है कि इस सम्मिश्रित जलको पृथक्–पृथक् कर सके।"

"जिस प्रेमीका मानस–विन्दु अपने प्रेमास्पद रससिद्ध सन्त रूप सिन्धुमें विलीन हो चुका है, उस प्रेमी मनका अपने प्रेमास्पदसे पृथकत्व कर सकना, पृथक् हो सकना सर्वथा असंभव है।"

पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबाके कहनेसे गोस्वामीजीने उन्हें उस रात निम्न पद सुनाया—

चलौ री आज ब्रजराज मुख निरखिये
लोक की लाज सौं काज कहा सरैगो।
बहुरि कोउ कहैगो स्याम के ढिंग गयी
याहु ते अधिक कोउ और कहा कहैगो॥
नाचिबे लगी तो फेर घूँघट कहा
सूर रन चढे पै कौन ते डरैगो।
निरखिये रूप नारायण हरि स्याम कौ
बहुरि ऐसो सखी दाव कब परैगो॥

यह पद श्रीगोस्वामीजीकी सुमधुरतम स्वरलहरीमें सुनते–सुनते पू. गुरुदेवके मनने जागतिक धरातल ही छोड़ दिया। गोस्वामीजीके गायनसे वे कहीं 'अन्यत्र' ही चले गये थे। क्या दिवस, क्या रात्रि, क्या भोर, क्या सायं — पू. गुरुदेव जब अपने लीलाराज्यमें उद्दीपित हुए डूब जाते थे, तो फिर काल वहाँ रहता ही कहाँ था ?

गोस्वामीजीको निशापर्यन्त पू. गुरुदेवके पास ही रहना था। होलिका–दहनकी महारात्रि थी, आज तो रात्रिपर्यन्त जागरण उन्हें करना ही था। अतः वे कुछ कालतक तो शान्त रहे, फिर उन्होंने ब्रजभावके पद सुनानेका निश्चय कर लिया। वे गाने लगे —

आनँद सिन्धु बढ्यौ हरि तनमें।

राधा मुख पूरन ससि निरखत, उमगि चल्यौ ब्रज बृन्दावनमें॥

इत रोक्यौ जमुना उत गोपिन कछु एक फैलि पर्यौ त्रिभुवनमें।

नहिं परस्यौ कर्मठ अरु ज्ञानी, अटकी रह्यौ रसिकनके मनमें॥

मंद–मंद अवगाहत बुधिबल, भक्त हेतु लीला छिन–छिनमें।

कछुक लह्यौ नन्दसूनु कृपा तें सो देखियत परमानँद जनमें॥

इस पदको सुनकर पू. गुरुदेव किंचित् मुखर हुए। धीरे–धीरे वे बोलने लगे — "गोस्वामीपाद ! बृषभानुनन्दिनी और ब्रजेन्द्रनन्दनके चिद्विलासका सागर परम अद्भुत है। मैं तो कट्टर वेदान्ती था, मेरे हृदयमें इस ब्रजरसके प्रवेशकी तो सम्भावना ही नहीं थी, किन्तु महारससिद्ध संत महानुभाव श्रीपोद्दर महाराजने प्रणाम करनेके बहानेसे चरणनखोंका स्पर्श करके मेरे अन्दर स्वयं अपनेको ही सदाके लिये प्रतिष्ठित कर दिया। और अपने साथ–ही–साथ प्रतिष्ठित कर दिया इस चिद्विलासको भी।"

पू. गुरुदेव कह रहे थे — "लक्ष्यतक पहुँचनेके लिये लोग साधना करते हैं, परन्तु यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि अमुक साधनासे साधकको स्वरूपकी प्राप्ति हो ही जायगी। लक्ष्यतक पहुँचनेका एकमात्र उपाय कृपा ही है। यह हो सकता है कि साधना करते–करते कृपापात्रता साधकको मिल जाय, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि कृपापात्रता पानेके बाद भी वह कृपाभाजन बनेगा अथवा नहीं। कृपापात्रताकी

स्थिति और कृपाप्राप्तिकी स्थिति—ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं। साधना करते-करते साधकका हृदय विगलित हो करके जब लाक्षावत् प्रवाहित होने लगता है और उस लाक्षावत् द्रवित हृदयपर जब भगवान्‌की शीतल दृष्टि पड़ती है, तब भगवान्‌की दृष्टिकी शीतलतासे संयोग होते ही मन उस साँचेमें ढल जाता है, जिसमें भगवान् उसे ढालना चाहते हैं। भगवान्‌की शीतल दृष्टि पड़नेको ही संत लोग भगवत्कृपाका अवतरण कहते हैं।"

"भगवान्‌की यह कृपा किसपर अवतरित होगी और किस ढंगसे अवतरित होगी, यह बात किसी नियममें बाँधी ही नहीं जा सकती। वह कार्य जो आजतक विश्वके इतिहासमें नहीं हुआ, वह कार्य जो देखनेमें असंभव लग रहा हो, उस कार्यकी पूर्णताका भार सच्चे विश्वाससे कोई भगवान्‌पर छोड़ दे तो आप निश्चय मानिये, भगवान् उसे पूरा कर देंगे। उस आस्तिकके लिये भगवान् नवीन नियमका निर्माण कर देते हैं। किन्तु दुर्भाग्य यही है कि आज भगवान्‌पर विश्वास करनेवाले आस्तिक मिलते ही नहीं हैं।

"गोस्वामीजी ! श्रीपोद्दार महाराजके प्रथम मिलनने ही मेरे अन्दर भगवान्‌के सगुण-साकार स्वरूपपर विश्वास जगा दिया था। इसके पहले तो मैं **'नहिं परस्यौ कर्मठ अरु ज्ञानी'** की स्थितिमें था। एक प्रकारसे वह मेरा संक्रमणकाल ही था। इन्हीं दिनों मेरे हृदयमें भगवान्‌के अकारण सौहार्दपर अनोखा विश्वास जगा और यह विश्वास मेरे भीतर पूर्णतया छा गया। मेरे रोम-रोममें भगवद्विश्वास पूर्णतः समा गया। मेरे मनमें यह आस्था दृढ़ हो गयी कि भगवान्‌की कृपा अहैतुकी है और वह मेरे लिये असंभवको भी संभव कर देगी। भगवान्‌की कृपापर वह मेरी आस्था आज भी ज्यों-की-त्यों है। मेरे जीवनमें अनेकों बार परिस्थितियोंके अत्यन्त उलट-फेर आये हैं, परन्तु मैं सदा हँसता रहा हूँ। सदा ही मैं सर्वथा निश्चिन्त प्रभुकृपापर निर्भर रहा। इसमें हेतु मात्र यही था कि मेरा भगवान्‌की अहैतुकी कृपापर अडिग विश्वास रहा।

"गोस्वामीजी ! हम भले न समझें, जिसे जगत् प्रतिकूलताकी स्थिति कहता है, वह वस्तुतः हमारी विश्वासहीनताका, हमारी अनास्थाका ही द्योतक है। निश्चय ही उस प्रतिकूलताके गर्भमें अनुकूलता–ही–अनुकूलता है। मेरा तो भगवत्कृपापर विचित्र विश्वास रहा है। मैं तो सदैव यही मानता रहा हूँ कि भले अमुक कार्य आजतक किसीका कभी नहीं हुआ हो, परन्तु भगवान् मेरा यह कार्य कर ही देंगे। मैंने तो भगवान्की इस दुर्बलताको पकड़ रखा है कि यदि किसी कार्यके लिये कोई उनपर निर्भर हो जाय तो वे उसकी आशा कभी तोड़ते नहीं। भगवान् उसकी निर्भरताकी परीक्षा तो लेते हैं, परन्तु सच्चे निर्भरकी आशा वे अवश्य पूरी कर देते हैं।"

"कर्मकाण्डियोंको अपनी साधनाका घोर अभिमान होता है, और ज्ञानी भगवान्की सत्ताको ही मायोपाधिक मानता है, इसीलिए दोनों – कर्मकाण्डी एवं ज्ञानी इस ब्रजरसका स्पर्श नहीं कर पाते। यह ब्रजरस श्रीराधामुख रूपी पूर्ण चन्द्रमाको देखकर श्रीकृष्णचन्द्र एवं गोपीजनोंका उमड़ता आनन्दसिन्धु है। यह ब्रजरस बृन्दावनका निजस्व

है और वहीं सदैव उमड़ता है। इसे स्थूल बृन्दावन नगर किंवा ब्रजमण्डलतक ही परिच्छिन्न अथवा सीमित नहीं समझना चाहिये। यद्यपि यह भूमि–परिच्छिन्न ब्रज–बृन्दावन भी उस दिव्य वृन्दावनी लीलाका रंगमंच रहा है। अतः इसका भी महत्व अवश्य है। किन्तु सच्चा चिन्मय वृन्दावन तो सिद्ध रसिक सन्तोंके हृदय–पटलपर अवतरित होता है।"

"जो वृन्दावन सन्तकी अनिर्वचनीय अनुभूतिरूप परम चिन्मय है, उसका महत्व कुछ और ही है। यह दिव्य वृन्दावन तो **'प्रकाशते क्वापि पात्रे'**—किसी महान् भाग्यशालीके जीवनमें, उसके हृदयपटलपर प्रकाशित होता है। वह सिद्ध सन्त

चलता–फिरता वृन्दावन होता है।"

"यह ब्रजरस उस बृन्दावनमें परिच्छिन्न है। यह रस प्रियतम श्रीकृष्णके हृदयमें अपनी प्रिया राधाके मुखचन्द्रको देखकर उमड़ता है। इसे एक ओर यमुना जी रोक लेती हैं, एवं दूसरी ओर ब्रजाङ्गनाएँ। इसके कुछ छींटे ही त्रिभुवनमें अन्यत्र बिखर पाते हैं और वे भी बिखर पाते हैं सन्तोंकी अनुभूतिपूर्ण पद–रचनाओंके द्वारा। ये रसिक इस रसको अपने कण्ठमें अटकाये रहते हैं। रसानन्दकी अधिकताके कारण ये न तो इसे पचा ही पाते हैं और न ही अधिकारीके अभावमें उसे उगल ही पाते हैं। हाँ, परमानन्ददासजी कहते हैं — उस रसका कणिकांश अवश्य ही मुझे ब्रजेन्द्रतनय श्रीकृष्णकी कृपासे प्राप्त हुआ है और मैं अपनी सामर्थ्यके अनुसार उस रसप्रवाहमें अवगाहन करता हुआ क्षण–प्रतिक्षण उस दिव्य लीलाका आस्वादन करता रहता हूँ।"

उस रात्रि गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजी एवं पू. गुरुदेव श्रीराधाबाबा दोनों ही विलक्षण ब्रजभावके प्रीतिराज्यमें लहराते रहे। पल–पल उमड़ते–उछलते रससागरको देखते–देखते ही दोनोंकी निशा व्यतीत हो गयी।

देहाध्यासकी निवृत्ति तथा
अ० सौ० बाई सावित्री एवं श्रीकृष्णकी एकरूपता

(पूज्य स्वामी श्रीकृष्णप्रेमजी)

[परम पूज्य श्रीराधाबाबा एवं पूज्य श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीकी अन्तरङ्ग वार्त्ता]

बात सन् १९३७ ई. की है। सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके साथ पू.गुरुदेव श्रीराधाबाबा गीताप्रेसमें ठहरे थे। श्रीसेठजीने पू.गुरुदेवको जिस कमरेमें ठहराया था, वह वही कमरा था, जिसमें आठ वर्ष पूर्व श्रीपोद्दार महाराजकी पुत्री अ.सौ. सावित्रीबाईका प्रसव हुआ था।

प्रभातकाल था, और निरे ब्रह्ममुहूर्त्तमें ही पू.गुरुदेव स्नानादि क्रिया सम्पन्नकर अपने इष्टदेवके ध्यानमें निरत हो गये थे। उन दिनों उनके ध्यानकी पद्धति यही थी कि वे अपने इष्टके चित्रकी छविको पहले एकटक देखते और तब उसे नेत्र मूंदकर अपने हृदयदेशमें पूरा-का-पूरा ज्यों-का-त्यों उतार लेते थे। ऐसे करना पू.गुरुदेवका नित्यका नियम था।

उस दिवस पू.गुरुदेवका ध्यानमें मन अत्यधिक ही एकाग्र हो उठा था। ध्यानक्रिया क्रमशः इतनी प्रगाढ़ हो उठी कि उन्हें खुली आँखों ही चित्र जीवन्त अनुभव होने लगा। सर्वप्रथम उनकी दृष्टि चित्रपटके होठोंमें अटकी और उन्हें ऐसा अनुभव हुआ मानों वे होठ सजीव, अलौकिक एवं दिव्य हैं। उन होठोंके अणु-अणुमेंसे परम मधुर शीतल प्रकाश फूट रहा है। धीरे-धीरे होठोंसे लेकर सम्पूर्ण चित्रपट ही जीवन्त, चिन्मय होता चला गया।

उस दिवस पू.गुरुदेवके लिये एक और आश्चर्य संघटित हुआ। चित्रपटके सजीव होनेके उपरान्त शनैः-शनैः उन्हें अपने सम्पूर्ण अङ्ग-संस्थानोंमें भी विलक्षण नारीत्वका समावेश होता दृष्टिगोचर होने लगा। अबतक तो चित्रपटमें मुरली-मनोहर श्रीकृष्णके साथ उन्हें श्रीराधाजी ही दिखती थीं। वे स्वयं तो उन्हें इन दोनों छवियोंके द्रष्टा, पृथक्

शरीररूपमें ही अनुभव होते थे। परन्तु आज तो यह चमत्कार ही था कि उनके स्वयंके शरीरके स्थानपर भी उन्हें एक विलक्षण, कमनीय नारी दृष्टिगोचर हो रही थी।

वह नारी चित्तहारी सुन्दर शृङ्गारसे सुसज्जित थी। उनका मुख पूर्ण विकसित अरविन्दके सदृश शोभा पा रहा था। उनके रोमछिद्रोंसे सौरभके झौंके लहक रहे थे। उनके अधरोंमें अभिनव अमृतके सदृश मधुर मधु परिपूरित था। उनकी वय चौदह वर्ष एवं कुछ माह की ही थी। उनके इस प्रफुल्लित मुखचन्द्रका दर्शन कर रहे थे—चिन्मय वपु वनमाली। पू.गुरुदेवके प्राणवल्लभ प्राणाराम प्रियतमके लोचन-चञ्चरीक उनके आनन-सरोजपर मुग्ध होकर मंडरा रहे थे, मानो वे युगों-युगोंसे पिपासातुर हों। चरम उत्कण्ठातुर उनकी मधुपान-लालसा क्षण-प्रतिक्षण बढ़ती ही जा रही थी।

सहसा एक अतिशय सरस मधुर वाणी उनके श्रवणेन्द्रियोंमें गूंज उठी—"हे अनाविल सुख-स्वरूपिणी मेरी प्राणेश्वरी ! तुम ही एकमात्र मेरे जीवनकी अवलम्बनरूपा हो।"

इस वचन-माधुरीकी महावेगशाली ऊर्मियोंमें पू.गुरुदेव पूर्णतया ही निमग्न हो गये। उनके नेत्र स्थिर एवं निमीलित हो उठे। उन्हें सर्वथा ही विस्मृत हो गया कि वे संन्यासीवेशमें कोई पुरुषदेह हैं।

पू.गुरुदेवकी यह आन्तरिक भावदशा फिर यावज्जीवन ज्यों-की-त्यों ही बनी रही। एक दिवस मेरे पूर्वाश्रमके मामाजी श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीको वे अपनी आन्तरिक स्थितिका रहस्य खोलकर सुना रहे थे —"गोस्वामीजी ! उस दिवसके पश्चात मैं अपनी कायामें रहकर भी कभी अपनी कायामें नहीं रहा। जैसे साँप अपनी त्यागी हुई केंचुलीको स्वयं देखता है, साँपकी केंचुलीमें साँपका मुख, आँख आदि सभी आकृतियाँ ज्यों-की-त्यों साँपके समान ही होती हैं, परन्तु साँप उससे सर्वथा असंपृक्त कुछ और ही होता है, ठीक इसी प्रकार आज मेरी स्थिति समझ लीजिये।"

पू.गुरुदेवके कथनका अर्थ यही था कि जीव जब भागवती लीलाका पात्र बन जाता है एवं उसे कोई चिन्मय लीलादेह प्राप्त हो जाती है, उसी क्षण उसकी प्रारब्ध कर्मराशि भी जल जाती है। इसके फलस्वरूप होना तो यही चाहिये कि तत्क्षण ही जीवको मिली प्रारब्ध-भोग-देह भी विनष्ट हो जाय; परन्तु कभी-कभी भगवान् ऐसे विलक्षण कृपापात्र जीवोंसे अपना कार्य करानेकी महाइच्छा कर बैठते हैं। अतः वे स्वयं उस देहको पकड़ लेते हैं और उसमें रहने लगते हैं। ऐसी अवस्थामें जीव भगवान्‌में एकमेक हुआ भगवान्‌के सम्बन्धसे उस देहमें रहता भी है, एवं नहीं भी रहता। नहीं रहता—इस अर्थमें कि वह अपनी देहको भागवती स्मरणमें सर्वथा सर्वांशमें ही भूला चुका होता है, और उसे अपने नाम-रूपका भी विस्मरण हो जाता है; एवं रहता है—इस अंशमें कि भगवान्‌में वह पूर्णतया ओतप्रोत है और भगवान् उस देहको ग्रहण किये हुए हैं।

श्रीगोस्वामीजीके साथ-साथ लेखक (स्वामी श्रीकृष्णप्रेमजी) भी उस दिवस पू.गुरुदेवसे यह सत्सङ्ग-वार्त्ता सुन रहा था। पू.गुरुदेव कह रहे थे—"गोस्वामीजी महाराज ! सरिताके आप्लावनके कारण जो स्वामी चक्रधर नामक पोखरा उस दिवस विलीन हो गया, उस पोखरेका रूप, संज्ञा, उसके जलका स्वाद एवं उसके जलकी गंभीरता कुछ भी पहलेवाली नहीं रही; किन्तु अप्रतिम स्नेही श्रीकृष्णने अपने प्यारवश इस पोखरेको आज भी बाह्यरूपमें ज्यों-का-त्यों, वैसे-का-वैसा ही बनाया हुआ है। यहाँतक कि उस गीताप्रेसके कमरेमें प्रथम रसप्लावनके समय ही उन्होंने संकेत कर दिया था कि वे स्वयं इसी कक्षको अपनी प्रसूतिगृहकी संज्ञा देते हुए, आजके आठ वर्ष पूर्व, स्वयं मेरी सेवार्थ श्रीपोद्दार महाराजकी पुत्री—धर्मभगिनी अ.सौ. सावित्रीबाईके रूपमें जन्म ले चुके हैं।"

श्रीगोस्वामीजीके सम्मुख पू.गुरुदेवने अपनी उक्तिको काव्यरूपमें प्रस्तुत करते हुए कहा—

होता न सुभाव कहीं मेरी इस भगिनी का तुम–सा ही, प्रियतम।
थी पाँख भले बन्धनमें, पर उड़ जाते प्राण कभी, प्रियतम॥
हो दैवदलित यदि रह जाते, नीरस हो जाते ये, प्रियतम।
कैसे नहलाती मैं तुमको प्रतिपल नव–धारामें, प्रियतम॥

(विहंगिनीकाव्य, छन्द १०५)

"गोस्वामीजी ! यदि मेरे प्राणपति श्रीकृष्ण मेरी भगिनीका स्वभाव भी अपने समान ही प्रेम–समर्पणमय बनाकर नहीं आते, तो मेरा यह देह भले ही यहाँ पड़ा रह सकता था, प्राण कभी ही इस कलेवरको छोड़कर उड़ जाते। और दैवविधानसे यदि प्राण रुके रह जाते, तो वे सर्वथा नीरस होकर ही रह जाते। मैं अपने प्राण–प्रियतमको रसकी नित–नूतन धारामें नहला नहीं पाती।"

अपनी रचित काव्यधाराका प्रवाह आगे बढ़ाते पू.गुरुदेवने कहा था—

जो हो इन रूपोंमें तुमने, मुझसे है खेल किया, प्रियतम।
ये रूप सभी प्राणोंसे हैं प्रिय अधिक अतः मुझको, प्रियतम॥
होकर वियोग इनका न कहीं पड़ जाय रंग फीका, प्रियतम।
अतएव साथ लेकर ही मैं जाऊँगी इन सबको, प्रियतम॥

(विहंगिनीकाव्य, छन्द १०६)

"जो भी हुआ हो, इन रूपोंमें मेरे प्रियतम श्रीकृष्णने मुझसे जो खेल किया है, ये सभी रूप मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्यारे हैं। अतः इनका कहीं मुझसे वियोग होकर प्रीतिका रंग फीका नहीं पड़ जाय, इस आशंकासे इन सभीको अपने साथ लेकर ही जाऊँगी।"

मैया तन्मय होगी दोनों दृगकी इन पुतलीमें, प्रियतम।

जिनमें अनादि कालसे ही रहती यह दासी है, प्रियतम॥

मेरी यह बहिन मिलेगी आ तुममें फिर बेसरमें, प्रियतम।

हम दोनोंकी, एवं पिंजड़ा नीली द्युतिमें वपुकी, प्रियतम॥

"गोस्वामीजी ! इसे निश्चय ही एक अमोघ एवं अकाट्य विधान मान लीजियेगा कि मेरी अ.सौ. मैया रामदेई (श्रीपोद्दार महाराजकी धर्मपत्नी) निश्चय ही सच्चिदानन्दकन्द मेरे प्रियतम श्रीकृष्णके नेत्रोंकी दृगपुतलीमें तन्मय हो जायगी, जिसके दृश्यरूपमें अनादिकालसे मैं—उनकी दासी रहती हूँ, एवं मेरी बहिन (श्रीपोद्दार महाराजकी सुपुत्री अ.सौ. सावित्रीबाई) प्रथमतया प्रियतममें स्वयंमें एवं फिर हम दोनोंकी बेसरमें आ मिलेगी। श्रीपोद्दार महाराज स्वयं जो पिंजड़ा बने मुझ पक्षिणीको अपनेमें आश्रय दिये हैं, श्रीकृष्णके वपुकी नीली द्युतिमें तल्लीन हो उठेंगे।"

शक्ति–साधना–सम्बन्धी विविध प्रश्न एवं उनके पू. श्रीराधाबाबा द्वारा उत्तर

(पूज्य स्वामी श्रीकृष्णप्रेमजी)

[परम पूज्य श्रीराधाबाबाके पास कभी–कभी पूज्य श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी, श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री, श्रीमाधवशरणजी श्रीवास्तव आदि विद्वान लोग जब एकत्रित होते थे तो गूढ़ तान्त्रिक शब्दावलियों, दर्शनशास्त्रके गूढ़ विषयों पर प्रश्न किया करते थे। उस समय जो उत्तर पूज्य गुरुदेव श्रीराधाबाबा द्वारा दिये जाते थे, उन्हें यथाश्रुत–यथागृहीत यहाँ लिखा जा रहा है। — पूज्य स्वामी श्रीकृष्णप्रेमजी]

[त्रिकोण एवं महाकारण बिन्दु]

(त्रिकोणका भाव)

प्रश्न — बाबा ! तंत्र शास्त्रोंमें सर्वत्र त्रिकोण देखनेको मिलता है। इस त्रिकोणके मध्यमें बिन्दु रहता है। अतः इस त्रिकोण एवं बिन्दुसे शास्त्र किस गूढ़ पारमार्थिक रहस्यका संकेत दे रहे हैं, कृपया इसपर प्रकाश डालें।

पूज्य गुरुदेव श्रीराधाबाबाका उत्तर — देखिये ! यह जीव अपने इन्द्रिय द्वारोंके ज्ञानसे ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्धात्मक् जगत्का अनुभव कर रहा है। कोई भी जीव जब शयन करता है तो निद्राके पूर्व उसे इन्द्रियोंका प्रत्याहार करना ही पड़ता है। शान्त होकर नेत्र मूँदने पड़ते हैं, श्रवणेन्द्रियोंको भी शब्द निक्षेपसे निवृत्त करना ही पड़ता है। इस प्रकार प्रत्याहार करनेपर इन्द्रियोंकी उपशान्त अवस्था होते ही यह पंचभूतात्मक जगत् निद्रामें विलीन हो जाता है। यह प्रत्याहार निद्रित होनेके पूर्व एक मच्छर भी करता है, अतः यह क्रिया सभीके द्वारा स्वतः प्रतिफलित होती है। यह सिद्ध कर रहा है कि बाह्य–जगत् इन्द्रियोंका ही बहिर्विलास मात्र है। चक्षु–इन्द्रिय ही रूपका विकास करती है और चक्षु ही रूपका दर्शन करती है। चक्षु–इन्द्रियका बहिर्विलास यदि रोक दिया जाय तो रूप लुप्त हो जाता है। क्योंकि रूप सर्वव्यापी है,

अतः यही समझमें आता है कि समष्टि चक्षु समग्र रूपका विकासकर्त्ता है और व्यष्टि चक्षु भोक्ता है। इसी प्रकार अन्यान्य इन्द्रियोंके सम्बन्धमें भी विचार किया जाय तो यही तथ्य उजागर होता है कि समष्टि भावापन्न पञ्चेन्द्रियाँ उसका भोग कर रही हैं।

अब यदि हम अपनी इन्द्रियोंका समाहार कर लें और उन्हें केन्द्रीभूत किसी मूल सत्तामें लीन कर लें तो उस समय यह स्थूल जगत् तो दिखना एवं अनुभव होना स्थगित हो ही जाता है, साथ ही इन्द्रियोंका अभाव हो जानेसे उनकी स्थूल सम्भोग सम्भावना भी समाप्त हो जाती है। परन्तु क्योंकि अभी भी चित् क्षेत्रोंमें ज्ञानका संचार है, अतः बहिःकरणोंका अभाव होकर अन्तःकरणका आविर्भाव हो जाता है। इस अन्तःकरणका भी क्योंकि समष्टि जीव समुदाय अनुभव करता है, अतः यही अनुभव होता है कि समष्टि अन्तःकरणका अभिमानी तत्व तो इसका द्रष्टा है और व्यक्ति इस अन्तःकरणका ज्ञाता है। यह अन्तःकरण ही अन्तर्जगत्को स्फुरित करता है और जीव स्वप्न–जगत् या आतिवाहिक सूक्ष्म जगत्में प्रविष्ट होता है।

अब बाह्य इन्द्रियोंकी भाँति अन्तःकरण भी निरुद्धवृत्तिक अवस्थाको जब प्राप्त होने लगता है तो अन्तर्जगत् या आतिवाहिक सूक्ष्म जगत् भी लुप्त हो जाता है। इस समय आतिवाहिक जगत्का भोक्ता भी घोर अज्ञानमें, चाहे निद्रामें कहो, डूब जाता है। इस समय भोक्ताके न रहने पर जीव शुद्ध कारण भूमिमें स्थान पाता है। इस समय समष्टि कारण बिन्दुका स्फुरणात्मक कारण घोर अज्ञान ही दृश्य होता है और व्यष्टि कारण बिन्दु तदात्मक भावमें उसका दर्शन करता है। अब सौभाग्यवश यदि कोई भाग्यवान् जीव इस मूल ग्रन्थिको भी भेद पाता है, तो वह मूल अविद्याके विलास स्वरूप इस मिथ्या प्रपञ्चके पाश–जालसे सदा–सदाके लिये निवृत्त हो जाता है, छुटकारा पा जाता है।

उपर्युक्त विचारसे यह प्रतीत होता है कि स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण जगत् तदनुरूप शक्तिके ही विकास मात्र हैं। शक्तिके तीन विभागों अर्थात् कारण जगत्का प्रकाशक–आधार आत्मा, सूक्ष्म जगत्के आधार — पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाशके अधिष्ठातृ देवता और स्थूल जगत्के आधार पञ्च स्थूल भूत — शक्तिकी तीन प्रकारकी अवस्थितिका अनुसरण करते हुए उसके परिणामस्वरूप कारण, सूक्ष्म और स्थूल — इस त्रिविध रूपोंमें प्रकट हो रहे हैं। इससे ठीक अनुभव होता है कि शक्तिके बहिर्मुख होकर घनीभूत अथवा स्थूलत्वको प्राप्त करनेपर एक ओर जहाँ भौतिक तत्वोंका आविर्भाव होता है, दूसरी ओर शक्तिके इसी प्रकार क्रमशः विरल होते–होते अन्तःसंकोच अवस्थाको प्राप्त होनेसे वही शक्ति आत्मा अथवा बिन्दु वाच्य हो जाती है।

अतएव यही स्पष्ट परिलक्षित होता है कि तथाकथित आत्मा, देवता (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वीके अधिष्ठातृ देवता) और स्थूल भूत—प्राणि–पदार्थ, धन, जन, महल, मकान, खेत, खलिहान, कीट, पशु–पक्षी, मानव एक ही आद्याशक्तिकी त्रिविध अवस्थाएँ हैं। स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण—यह त्रिविध जगत् एक ही मूल सत्ताके तीन प्रकारके परिणामके सिवा और कुछ नहीं हैं। यह स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण जगत् ही इस त्रिकोणके रूपमें आगम शास्त्रोंमें वर्णित हैं और मूल आद्यासत्ता ही यह बिन्दु है।

अब इसे और दूसरी तरह समझ लें। स्थूल जगत् जिसे हम निरन्तर मृत्युपर्यन्त अनुभव करते हैं, बिन्दु (बोध प्रकाश) का बाह्य प्रसारण अथवा विकिरण मात्र है। इन्द्रियोंके प्रत्याहारसे इस रश्मि मालाको उपसंहृत कर सकने पर बाह्य जगत् स्वभावतः बाह्य बिन्दुमें विलीन हो जाता है। इसी प्रकार लिंगात्मक अथवा आभ्यन्तरिक आतिवाहिक जगत् भी जो विक्षुब्ध अन्तःकरणका बाह्य विलास मात्र है, वह भी

विलीन होने पर तदनुरूप बिन्दु स्वरूपमें अव्यक्त हो जाता है। इसी प्रकार कारण जगत् भी उपसंहारको प्राप्त होकर कारण बिन्दुमें पर्यवसित हो जाता है। ये तीनों जगत् ही जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाके द्योतक हैं। अतएव स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण—ये तीनों बिन्दु ही त्रिकोणके तीनों प्रान्तोंके बिन्दु हैं। इन्हें "अ" कार कारणात्मक, "उ" कार सूक्ष्मात्मक एवं "म" कार स्थूलात्मकके नामसे भी सांकेतिक भाषामें अभिहित किया जा सकता है। अन्तर्मुखी होनेकी प्रेरणासे जब ये तीनों बिन्दु रेखा रूपमें भीतरकी ओर संकुचित होते हुए जब महाबिन्दुमें पर्यवसित होते हैं, वही तुरीय रूपमें तुरीयबिन्दु महाकारण रूपमें अभिहित होता है। त्रिकोण रचना करके इसे और स्पष्ट समझ लें।

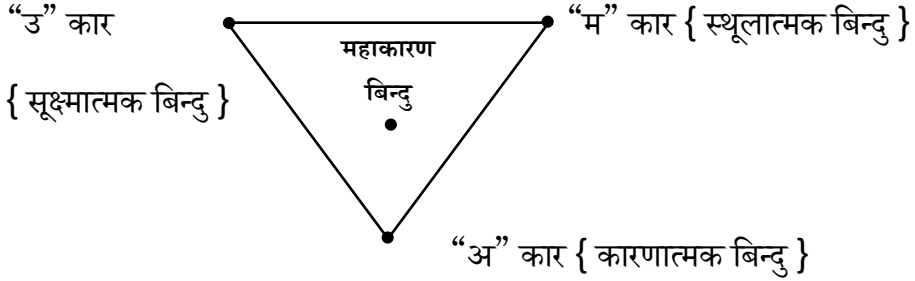

दूसरा प्रश्न — बाबा ! आपने त्रिकोणके तीनों बिन्दुओंको स्थूल जगत्रूप बिन्दु जो बहिरिन्द्रियोंसे अनुभवमें आ रहा है सूक्ष्म जगत्रूप बिन्दु जो स्वप्नमें दिखता है तथा कारण जगत्रूप बिन्दु जो निद्रा एवं सुषुप्तिमें घोर अज्ञानके रूपमें व्यक्त होता है, स्पष्टतया समझा दिया। अब यह महाकारणरूप मध्य बिन्दु भी तनिक और खोलकर स्पष्ट समझा दें।

पूज्य गुरुदेव श्रीराधाबाबाका उत्तर — सृष्टिके आदिमें अनादिकालसे जो अव्यक्त, पूर्ण निराकार शून्य स्वरूप वस्तु विराजमान है, वह तत्वातीत, प्रपञ्चातीत तथा व्यवहार पथके भी अतीत है। वही शाक्तोंकी महाशक्ति, शैवोंका परम शिव है।

वाणी एवं मनके अगोचर होनेके कारण उसे निर्गुण निराकार निर्विशेष कहते हैं। परन्तु अप्राकृत गुणोंसे युक्त होनेके कारण वह सगुण सविशेष भी है। अप्राकृत आकार होनेके कारण वे साकार भी हैं। वस्तुतः उनका वर्णन तो न कोई कर सका है, न आगे कोई कर सके, ऐसी संभावना ही है। इसे विशुद्ध प्रकाश—निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म कहें तो भी कहना नहीं बनता क्योंकि अन्तर्लीन विमर्शके कारण यह तत्व अप्रकाशमान है। निद्रा अप्रकाशमान इसीलिये है कि उसमें विमर्श अन्तर्लीन है। उसकी विमर्श शक्ति ही स्वप्न एवं जागरणका खेल कर रही है। इसे विशुद्ध विमर्श भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें स्वयं-प्रकाशतत्व भाव भी है। प्रकाशहीन विमर्श तो सर्वथा ही असत्-कल्प है। इस तत्वातीत और अनुत्तर अवस्थाको आगम शास्त्र "अ" कार प्रयोग करके वाच्य करता है। इसके उत्तर—परे कुछ भी नहीं इसलिये वह "अ" है। "अ" कार रूप प्रकाशके साथ "ह" कार रूप विमर्शका सामरस्य ही शिव-शक्तिका साम्य है। "अ" शिव है और "ह" शक्ति है। बिन्दु रूपमें यही "अहं" ही, अर्थात् पूर्ण अहंता ही शिव-शक्तिका सामरस्य है। इस पूर्ण अहंता रूप बिन्दुको न तो ब्रह्म कहा जा सकता है, न ही ईश्वर, एवं न ही देवी-देवता, ऋषि, मुनि, जीव। यहाँ विराट् एवं अल्प, लघु एवं महान, ईश्वर एवं जीवका भेद ही तिरोहित रहता है। एक सूक्ष्मतम कीट-भृंग भी जहाँ अपनेको "अहं" ही मानता है। इस अहंकी भूमिमें जीव-ईश्वर, ज्ञानी-अज्ञानी, विराट्-अल्प सभी भेद तिरोहित हैं। यहाँ दृष्टि एवं सृष्टि भी एकार्थ बोधक व्यापार हो जाते हैं। अहंकी भूमि सब कुछ मात्र "अहं" ही "अहं" है।

जो शक्ति एवं सत्ता पंचभूतोंकी स्थूल भूमिके रूपमें आत्म प्रकाश किये है, उसका साम्य प्रथम साम्य है, उसी प्रकार सूक्ष्म एवं कारण जगत्के रूपमें सम्पर्क करनेवाली शक्ति और सत्ताका साम्य क्रमशः द्वितीय एवं तृतीय है। यह त्रिविध साम्य पारस्परिक भेदका परिहार कर जिस महासाम्यमें एकत्व लाभ करता है, वही परमाद्वैत या ब्रह्मतत्व है। यह परम पद ही वह बिन्दु है जहाँ त्रविध साम्यके पश्चात् परमाद्वैत अथवा

महासाम्यका आविर्भाव होता है। महाशक्तिके उद्बोधनके बिना इस परमाद्वैत परम-पदपर प्रवेशाधिकार पाना असम्भव ही है।

(विमर्शकी व्याख्या)

तीसरा प्रश्न — आपने अपने वक्तव्यमें "विमर्श" शब्दका उल्लेख किया है। विमर्श किसे कहते हैं ? इसपर तनिक विस्तारसे प्रकाश डालें।

पूज्य गुरुदेव श्रीराधाबाबाका उत्तर — शक्ति सद्रूपा, चिद्रूपा एवं आह्लादरूपा है। सच्चिदानन्द परमात्मामें सत्, ज्ञान एवं आनन्दका स्फुरण यह विमर्श शक्ति ही कराती है। एक सुन्दर कथा मेरे सुननेमें आयी है। एक भिखारी यावज्जीवन एक शहरमें एक स्थानमें रहा। उस स्थानकी भूमिके ठीक पाँच फुट नीचे अकूत संपत्ति गड़ी हुई थी। हीरे, जवाहरात और अनमोल रत्न स्वर्ण पात्रोंमें भरे थे। वह भिखारी उस अनन्त अनमोल सम्पत्तिका एकमात्र स्वामी था क्योंकि उसकी झोंपड़ी पीढ़ियोंसे उसके पिता-पितामह, प्रपितामहके पास रही थी और वे सभी उसपर घासकी झोंपड़ी बनाकर यावज्जीवन भीख माँगकर पेट भरते रहे। अकूत संपत्ति पर स्वामित्व रखता हुआ भी परम्परासे यह परिवार भीखसे दोनों जून भरपेट भोजन भी नहीं जुटा पाता था और सायंकाल तो प्रायः भूखे पेट ही पानी पीकर उन्हें सोना पड़ता था। अब जैसे उस धन-सम्पत्तिके विषयमें बोध नहीं रहनेसे वस्तुतः धनी होनेपर भी व्यवहार भूमिमें उस भिखारीकी तीन पीढ़ी निर्धनवत् रही, उसी प्रकार आत्म-प्रकाश स्वरूप होनेपर भी उस प्रकाशकी प्रकाशमानताका बोध न रहे तो वह अप्रकाश ही माना जायेगा। इसीसे कहा जाता है कि शिवसे यदि "इ" कारात्मक शक्ति हट जाय तो शिव मात्र "शव" हो जाता। व्रजमें एक रसिया गाया जाता है — "जो 'राधा' नाम न होतो, तो कृष्ण बिचारो रोतो।" यह विमर्श शक्ति ही परावाक् स्वरूपिणी है। यही ब्रह्ममें अपने-आपका "अहं" रूपमें बोध कराती है। "अहं ब्रह्मास्मि" पद् — "अहं" सत्तात्मक,

"ब्रह्म" चिदात्मक और "अस्मि" आनन्दात्मक बोधयुक्त है। यह बोध विमर्शात्मक है । यदि यह न हो तो सत् स्वरूप ब्रह्म असत्, चिदात्मक ब्रह्म अचित् और आनन्दात्मक ब्रह्म आनन्दशून्य ही रह जाता है । इस विमर्शके बिना प्रकाश भी प्रकाशमानताके अभावमें अप्रकाशवत् ही प्रतीत होगा। इसीलिये चिद्रूप विमर्श शक्ति मानना ही पड़ता है।

(अप्राकृत देह, आकार, गुण एवं स्वभाव)

चौथा प्रश्न — बाबा ! आपने अप्राकृत गुण एवं अप्राकृत आकारकी बात तत्वातीत वस्तुका उल्लेख करते समय कही है। तत्वातीत वस्तु अप्राकृत देह एवं उसके स्वभावको कैसे ग्रहण करती है ? इसे तनिक विस्तारसे समझाइये।

पूज्य गुरुदेवका उत्तर — जीव समुदायके जन्मोंकी अनेक श्रेणियाँ है। पिता–मातासे जन्म लेनेवाले प्रकृति राज्यके सम्पूर्ण देह प्राकृत हैं। प्राकृत देहोंका निर्माण स्थूल, सूक्ष्म और कारण — इन तीन भेदोंसे होता है। जबतक "कारण" देह रहता है तबतक प्राकृत देहसे मुक्ति नहीं मिलती । इस त्रिविध देह समन्वित प्राकृत देहसे छूटकर—प्रकृतिसे विमुक्त होकर केवल आत्मरूपमें ही स्थित होने या चिन्मय पार्षदादि दिव्य स्वरूपकी प्राप्ति होनेका नाम ही मुक्ति है। मैथुनी, अमैथुनी, योनिज–अयोनिज सभी प्राकृत शरीर वस्तुतः योनि एवं बिन्दुके सहयोगसे ही बनते हैं। इनमें अनेक स्तर हैं। अधोगामी बिन्दुसे उत्पन्न शरीर जहाँ अधम है, वहाँ ऊर्ध्वगामी बिन्दुसे निर्मित उत्तम। कामप्रेरित मैथुनसे उत्पन्न शरीर सबसे निकृष्ट है। किसी प्रसंग विशेषपर ऊर्ध्वरेता पुरुषके संकल्पसे बिन्दुके अधोगामी होनेपर उससे उत्पन्न होनेवाला शरीर सबसे उत्तम द्वितीय श्रेणीका है। ऊर्ध्वरेता पुरुषके संकल्प मात्रसे केवल नारी–शरीरके मस्तक, कण्ठ, कर्ण, हृदय या नाभि आदिके स्पर्श मात्रसे उत्पन्न शरीर द्वितीयकी अपेक्षा भी उत्तम तृतीय श्रेणीका है। इसमें भी नीचेके अंगोंकी अपेक्षा ऊपरके अंगोंके

स्पर्शसे उत्पन्न शरीर अपेक्षाकृत उत्तम है। बिना स्पर्शके केवल दृष्टि द्वारा उत्पन्न शरीर उससे भी उत्तम चतुर्थ श्रेणीके हैं। बिना ही देखे संकल्पमात्रसे उत्पन्न शरीर उससे भी श्रेष्ठ पञ्चम् श्रेणीके हैं। त्रेतादि लोकोंमें वायु प्रधान एवं देवलोकादिमें तेजःप्रधान तत्तत्–लोकानुरूप देह भी प्राकृत एवं भौतिक ही है। योगियोंके सिद्धि जनित "निर्माण शरीर" बहुत शुद्ध हैं, परन्तु वे भी प्रकृतिसे अतीत नहीं हैं।

आध्यात्मिक जगत्में प्रवेश करनेके लिये एक आध्यात्मिक देहका निर्माण आवश्यक होता है। इसको दिव्य देह, ज्ञान देह आदिका नाम दिया जाता है। खीष्टीय कैथोलिक सम्प्रदायमें इसे SPIRITUAL BODY कहा जाता है। भारतीय तन्त्र इसे "बैन्दव देह" कहता है। इस देहकी उत्पत्ति आध्यात्मिक सिद्ध गुरु अथवा इष्ट देवता या देवीसे होती है। दीक्षा–प्राप्तिके साथ ही देह–बीजकी प्राप्ति होती है और यह बीज क्रमशः देहरूपेण परिणत होता है। उच्च कोटिके साधकोंमें यह विकासप्राप्त देहरूपमें ही उपलब्ध होता है, केवल बीज मात्र रूपमें नहीं।

वैदिक युगमें उपनयनके अनन्तर गायत्रीमंत्र–दीक्षाके साथ ही इस देहकी प्राप्ति रूप द्वितीय जन्म होता है। इसीलिये जातकको द्विज कहा जाता है। इस देहका क्रम–विकास भी होता है और पूर्ण विकास आध्यात्मिक सिद्धिके रूपमें ही प्रकट होता है। स्वरूपका यह आध्यात्मिक परिवर्तन गुरु–शक्तिसे होता है। यह द्वितीय जन्म Regeneration के नामसे प्रसिद्ध है और इसमें प्रकृतिका अंश जितना–जितना शोधित होता जाता है उतने अंशमें वह Regenerated — "रिजेनेरेटेड" माना जाता है और जो शोधनमें शेष रह जाता है वह Un-regenerated — "अनरिजेनेरेटेड" कहा जाता है। जिस क्षणमें पहली बार पूर्णतामें दिव्य प्रकाश होता है, वही सिद्धावस्था है।

वास्तवमें काल–प्रवाहके दो क्रम हैं — आरोहण और अवरोहण। जिस क्रमसे चलनेपर संकुचन क्रमशः छूटता जाता है, वह आरोहिणी धारा है और जिस क्रमसे चलनेपर संकुचनकी क्रमशः वृद्धि होती है वह अवरोहिणी धारा है। अवरोहकी स्थितिमें बन्धन क्रमशः उत्तरोत्तर प्रगाढ़ होता जाता है और आरोहमें क्रमशः क्षीण–क्षीणतर–क्षीणतम होता हुआ जीव बन्धनमुक्त हो जाता है।

इसी प्रकार आरोह–क्रममें जीव काल–राज्यका अतिक्रमण करता है। समग्र विश्व जो परिणामका अनुभव कर रहा है, कालके अधीन है। कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड, स्वर्गसे लेकर पातालतक चतुर्दश भुवनोंमें रहनेवाले जीव सभी कालान्तर्गत हैं। ब्रह्माण्डोंसे अतीत प्रकृति अण्ड एवं मायाण्ड भी है। यह सब सृष्टि कालान्तर्गत है। मायासे अतीत शाक्ताण्डमें भी काल है, परन्तु वहाँ काल महाकालके रूपमें है। इस शाक्ताण्डोंमें मायिक राज्योंकी भाँति क्षणिक परिणाम नहीं होते। इस कालराज्यके बाहर ले जाना ही सद्गुरुका लक्ष्य है। अतः सद्गुरु प्रदत्त ज्ञानदेह कालके प्रभावसे मुक्त होती है। दीक्षाके पश्चात् सद्गुरु शिष्यके अन्तरमें प्रविष्ट होकर अन्तर्यामी रूपसे शब्द–ब्रह्ममय ज्ञानदेहका बीज डालते हैं। ज्ञानदेहका आकार ज्ञानात्मक है और इस देहमें ज्ञानका स्फुरण निरन्तर होता रहता है। यहाँ ज्ञान शब्दसे सामान्य ज्ञान समझना चाहिये। जब विशेष ज्ञानकी अपेक्षा होती है, उसका नाम होता है विज्ञान, ज्ञान होनेपर विज्ञान नहीं भी हो सकता है। ज्ञान स्वरूपमें क्रिया नहीं होती, क्रियामें ज्ञान नहीं होता; परन्तु विज्ञानमें क्रिया और ज्ञान दोनोंसे सम्बन्ध रहता है। गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञानदेह शब्दज होती है। यह शिष्यके हृदयमें परोक्ष रूपसे उद्भूत होती है। यह ज्ञानदेह पर्यवसित हो जाती है विवेकज अनुभूतिमें जो शब्दाश्रित नहीं होती। यह अनुभूति शिष्यके विवेकसे अपने–आप उद्भूत होती है। प्रातिभ ज्ञान इसका नामान्तर है। यह अनुभूति अनौपदेशिक है। यही प्रत्यक्ष ज्ञान है। सद्गुरुकी विशिष्ट कृपा होनेपर ही यह आविर्भूत होता है। इसे ही तारक ज्ञान कहते हैं। गुरुके मौखिक उपदेशसे इस प्रकारका प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न नहीं होता।

इस महाज्ञानका संचार गुरु अलक्षित रूपसे करते हैं। इससे हृदयके मर्ममें प्रविष्ट सभी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं।

गुरोऽस्तु मौनं व्याख्यान शिष्यस्तु छिन्न संशयः ॥

पूज्य गुरुदेव कहते जा रहे थे — सद्गुरुकी महाकरुणाके बिना प्रत्यक्ष आत्मप्रकाश असंभव है। यह गुरु–करुणा ही शान्ति एवं चैतन्यकी ज्योति साधकके जीवनमें प्रस्फुटित करती है। तभी अपरोक्ष ज्ञान सम्भव है। उस समय ज्ञानमें कहीं संशय अथवा विकल्पके लिये अवकाश नहीं रहता। यह शब्दातीत ब्रह्म पर प्रतिष्ठा होती है। जो सर्वदा, सर्वत्र समभावसे विद्यमान है, यह उसीका साक्षात्कार है। **"चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः"** की उक्तिमें यही सत्य उजागर है। यह अवस्था भी पूर्ण आत्मदर्शनकी नहीं है। इस अवस्थामें स्थित होना भी आत्मरूपमें स्थित होना नहीं है।

इसके पश्चात् साधकके जीवनमें प्रेमकी प्रक्रियाका प्रारम्भ होता है। वास्तविक रस–साधनाका सूत्रपात ही ज्ञानोत्तर है। किन्तु केवल प्रत्यक्ष ज्ञानके उदय हो जानेसे ही भावका उदय नहीं होता। भावोदयके लिये पूर्ण काम दहनकी आवश्यकता अनिवार्य होती है। मदनका सम्पूर्ण दहन भगवान् शिवके तृतीय नेत्र अथवा ज्ञान चक्षुसे निःसृत अग्निसे होता है। इसका तात्पर्य यही है कि अज्ञानका बीजतक भस्म हो जाय। बीजरूप अज्ञान रहनेतक तो कामदेवका अस्तित्व रहता ही है। अज्ञान ही तो पशुभाव है। दिव्य ज्ञानसे पशुभाव पूर्ण निवृत्त होकर पशुपति या शिवभाव होता है। इसके अभिव्यक्त होनेपर कामका समग्र नाश होता है। यह शिवरूप सत्ता भी ज्ञानातीत परिपूर्णत्व तभी लाभ करती है जब प्रेमभावकी पराकाष्ठा लाभ करके प्राकृत कामके आकर्षणसे अतीत हुई, परम भावको प्राप्त करती है। यह परम भाव ही राधा महाभाव है। ये भगवती राधा और भगवान् श्रीकृष्ण दो नहीं हैं। एक ही 'कन्दर्पदर्पहा' तत्त्वके

द्विधा स्वरूप हैं। इसीलिये श्रीकृष्णका बीजमन्त्र कामबीज है। इनके सम्मुख काम तिरोहितवत् हो जाता है, वह इनका प्रमुख उपासक हो जाता है। प्राकृत कामका सब वैभव इनके सम्मुख तुच्छीकृत हुआ नगण्य, म्लान हो जाता है और म्लान होते-होते लुप्त हो जाता है। प्राकृत काम महाज्ञानके नीचे है और ये दिव्य काम मन्मथ-मन्मथ श्रीकृष्ण तथा मन्मथ-मन्मथ-मानस-मन्थिनी श्रीराधा महाज्ञानसे अतीत है। महाज्ञान वह है जिसमें प्राकृत-अप्राकृत, अधः-ऊर्ध्व प्रभृति भेद मिट जाते हैं और समग्र विश्व कालातीत अखण्ड अद्वय रूपमें भान होता है और महाभाव और महारसराजका तो कोई वर्णन ही नहीं कर सकता, वहाँ अप्राकृत जगत्का प्रारम्भ होता है।

श्रीराधाकृष्ण-तत्व सर्वथा अप्राकृत है। इनका विग्रह, नेत्र-मुखादि इन्द्रियाँ, इनके अंग-अवयव, रूप-स्वभाव, इनके महल-निवास, इनकी विहार-स्थलियाँ, वन-कुंज, निकुंज, इनकी सम्पूर्ण लीलाएँ अप्राकृत हैं—जो अप्राकृत क्षेत्रमें, अप्राकृत मन-बुद्धि शरीरसे अप्राकृत पात्रोंमें होती हैं।

ये राधाकृष्ण परिपूर्णतम परमात्मा हैं। इनके धाम, लीला-पात्र, नन्द-यशोदा, सखागण, गोपियाँ, इनके घरके पशु-पक्षी, यहाँतक कि कीट-पतंग, तृण-गुल्म भी सच्चिदानन्दघन निखिल ऐश्वर्य, माधुर्य और सौन्दर्यके सागर हैं। इन श्रीराधाकृष्णका ऐश्वर्य रूप ही भगवान् सुन्दरेश्वर एवं भगवती त्रिपुरसुन्दरी, कामेश्वर-कामेश्वरी हैं। इन श्रीराधाजी, श्रीरुक्मिणीजी, श्रीसीताजी आदिमें भी कोई भेद नहीं है। भगवान्के विभिन्न सच्चिदानन्दमय दिव्य लीला-विग्रहोंमें विभिन्न नाम-रूपोंमें उनकी आह्लादिनी शक्ति साथ रहती ही हैं। नाम, रूप एवं लीलामें पृथकता दीखनेपर भी वस्तुतः वे सब एक ही हैं। ब्रह्मवैवर्त पुराणमें इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है —

यथा त्वं राधिका देवी गोलोके गोकुले तथा।

वैकुण्ठे त्वं महालक्ष्मीर्भवती च सरस्वती॥

भवति मर्त्यलक्ष्मीश्च क्षीरोदशायिनः प्रिया।
धर्मपुत्रवधूस्त्वं च शान्तिर्लक्ष्मीस्वरूपिणी॥
कपिलस्य प्रिया कान्ता भारते भारती सती।
द्वारवत्यां महालक्ष्मीर्भवती रूक्मिणी सती॥
त्वं सीता मिथिलायां च वच्छाया द्रौपदी सती॥

'हे राधे ! जिस प्रकार तुम गोलोक एवं गोकुलमें श्रीराधा–रूपसे रहती हो, उसी प्रकार वैकुण्ठमें महालक्ष्मी और ब्रह्मलोकमें महासरस्वतीके रूपमें निवास करती हो। तुम ही क्षीरसागरशायी भगवान् विष्णुकी प्रिया मर्त्यलक्ष्मी हो। तुम ही धर्म–पुत्रकी कान्ता लक्ष्मीस्वरूपिणी शान्ति हो। तुम ही भारतमें भगवान् कपिलकी कान्ता सती भारती हो, तुम ही द्वारकामें महालक्ष्मी रुक्मिणी हो, तुम्हारी ही छाया सती द्रौपदी है। तुम ही मिथिलामें सीता हो।'

भगवान्के दिव्य अप्राकृत लीला–विग्रहोंका प्राकट्य ही वास्तवमें आनन्दमयी ह्लादिनी शक्तिके निमित्तसे ही है। प्रधानतया भगवान्के अवतारोंके चार स्वरूप माने गये हैं — पुरुषावतार, गुणावतार, लीलावतार एवं मन्वन्तरावतार। भगवान्ने आदिमें जब लोक सृष्टिकी इच्छा की तो महत्तत्वादि–सम्भूत षोडश–कलात्मक पुरुषावतार धारण किया था। भगवान्के चतुर्व्यूह हैं — श्रीवासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध। भगवान् शब्द मात्र श्रीवासुदेवके लिये ही प्रयुक्त होता है। इन्हीं पुरुषावतारको आदिदेव नारायण भी कहा जाता है। इन पुरुषावतार भगवान् आदिदेव नारायणके तीन भेद हैं। ये आद्यपुरुषावतार जहाँ षोडशकलायुक्त पुरुष हैं, ये ही संकर्षण, बलरामजी अथवा लक्ष्मणजी हैं। इन्हीं संकर्षण भगवान्को ही कारणार्णवशायी या महाविष्णु भी कहते हैं। पुरुष सूक्तमें वर्णित सहस्रशीर्षा पुरुष ये ही हैं। ये अशरीरी प्रथम पुरुष

कारण–सृष्टिके (तत्व–समूहके) आत्मा हैं। आद्यपुरुषावतारका द्वितीय पुरुषावतार श्रीप्रद्युम्न (श्रीभरतजी) हैं। ये ब्रह्माण्डमें अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट रहते हैं। ये ही गर्भोदकशायी हैं। इन्हीं पद्मनाभ भगवान्‌के नाभि–कमलसे हिरण्यगर्भका प्रादुर्भाव होता है —

यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः।

नाभिह्रदाम्बुजासीद् ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः॥

(श्रीमद्भा० १। ३। २)

तृतीय पुरुषावतार श्रीअनिरुद्ध (श्रीशत्रुघ्नजी) हैं। ये अपने प्रादेश मात्र विग्रहसे समस्त जीवोंमें अन्तर्यामी रूपसे स्थित हैं, प्रत्येक जीवमें अधिष्ठित हैं। ये क्षीराब्धिशायी सबके पालनकर्त्ता हैं —

केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।

चतुर्भुजं कञ्जरथांग शंख गदाधरं धारणाया स्मरन्ति॥

(श्रीमद्भा० २। २। ८)

गुणावतार

श्रीविष्णु, ब्रह्मा एवं रुद्र (सत्व, रज एवं तमकी लीलाके लिये) गुणावतार रूपमें प्रकट हैं। इन गुणावतारका प्रादुर्भाव द्वितीय पुरुषावतार श्रीप्रद्युम्न (श्रीभरतजी) से होता है।

द्वितीय पुरुषावतार लीलाके लिये स्वयं ही इस विश्वकी स्थिति पालन तथा संहारके निमित्तसे तीनों गुणोंको धारण करते हैं। वे गुणोंके अधिष्ठाता होकर विष्णु, ब्रह्मा, रुद्र

नाम ग्रहण करते हैं। वस्तुतः गुण इन्हें लेशमात्र भी वशमें नहीं कर सकते। ये नित्य स्वरूप-स्थित ही रहते हैं और अपनी स्वरूपस्थितिमें अच्युत स्थित त्रिविध गुणमयी लीला करते हैं।

लीलावतार

भगवान् जो अपनी मंगलमयी इच्छासे विविध दिव्य मंगलमयी अनेक विधि-विचित्रताओंसे युक्त नित्य नवीन पूर्ण रसमयी क्रीड़ा करते हैं, उस क्रीड़ाका नाम 'लीला' है। ऐसी लीलाके लिये भगवान् जो मंगल-विग्रह प्रकट करते हैं, उन्हें 'लीलावतार' कहा जाता है। चतुस्सन (सनकादि चारों मुनि), नारद, वराह, मत्स्य, यज्ञ, नर-नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, हयग्रीव, हंस, ध्रुव प्रिय विष्णु, ऋषभदेव, पृथु, नृसिंह, कूर्म, धन्वन्तरि, मोहिनी, वामन, परशुराम, श्रीराम, व्यासदेव, श्रीबलराम, बुद्ध एवं कल्कि ये भगवान्के लीलावतार हैं। इन्हें कल्पावतार भी कहते हैं।

मन्वन्तरावतार

स्वायंभुव आदि चौदह मन्वन्तरोंमें होनेवाले मन्वन्तरावतार कहलाते हैं।

शक्ति-अभिव्यक्तिके भेदसे नाम भेद

भगवान्के सभी अवतार परिपूर्णतम हैं। तत्त्वतः तथा स्वरूपतः इनमें न्यूनाधिकता सर्वथा नहीं है। शक्तिकी अभिव्यक्ति इनमें न्यूनाधिक सम्भव है। इस न्यूनाधिकतासे इनके चार भेद माने गये हैं — आवेश, प्राभव, वैभव और परावस्थ।

इनमें सनकादि चारों ऋषि, नारद, पृथु, परशुराम एवं कल्किको आवेशावतार कहा जाता है।

प्राभव अवतारोंके दो भेद हैं। इनमें प्रथम तो बहुत ही थोड़े कालतक रहते हैं, जैसे मोहिनी और हंसावतारादि। पुराणादिकके प्रणेता वेदव्यास, सांख्यशास्त्रके प्रणेता कपिल, दत्तात्रेय, धन्वन्तरि, ऋषभ आदि इनकी दूसरी श्रेणीमें आते हैं।

कूर्म, मत्स्य, नर-नारायण, वराह, हयग्रीव, प्रश्निगर्भ, बलभद्र और चतुर्दश मन्वन्तरावतार — ये सभी वैभवावतार माने जाते हैं। इनमें कुछ की गणना अन्य श्रेणियोंमें भी है।

श्रीनृसिंह, श्रीराम एवं श्रीकृष्ण — ये षडैश्वर्यपूर्ण परावस्थावतार हैं —

पूर्णः पूर्णावतारश्च श्यामो रामो रघूद्वहः।

अंशा नृसिंहकृष्णाद्या राघवो भगवान् स्वयम्॥

(ब्रह्मसंहिता)

इनमें श्रीनृसिंहका कार्य भी प्रह्लाद-रक्षण और हिरण्यकशिपु-वधतक ही है। ये भी अल्पकाल-स्थायी हैं। अतएव मुख्यतः श्रीराम एवं श्रीकृष्ण ही परावस्थावतार कहे जा सकते हैं।

करुणः षड्गुणैः पूर्णो रामस्तु भगवान् स्वयम्॥

(महारामायण)

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्॥

(श्रीमद्भागवत)

विभिन्न कल्पोंमें भगवान् श्रीकृष्णको 'सितकृष्णकेश' — पुरुषावतारका केशावतार भी कहा गया है। महाभारतमें भी अनेक स्थानोंमें इन्हें 'नारायण' ऋषिका अवतार भी कहा गया है। विभिन्न कल्पोंमें भगवान् श्रीकृष्ण ऐसे अंशावतारोंके रूपमें भी प्रकट हुए हैं।

कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि ये सभी भगवान्‌के सच्चिदानन्दमय अप्राकृत विग्रह हैं। जैसे ये अप्राकृत विग्रह हैं, उसी प्रकार भगवान्‌का सच्चिदानन्दमय अप्राकृत नित्य परधाम सबसे विलक्षण और सर्वोपरि है। इस अप्राकृत नित्य परधामसे अनन्त ब्रह्माण्ड नित्य अनुप्राणित होते रहते हैं। यह धाम सर्वधाम मुकुटमणि होनेपर भी सर्वत्र सभीमें व्याप्त और स्थित है। इसकी पाद विभूतिके एक अंशमें ही समस्त प्राकृत लोकोंकी परिसमाप्ति हो जाती है। इनसे सर्वथा अस्पृष्ट जो त्रिपाद विभूति है, वह अनैसर्गिक, अप्राकृत सच्चिदानन्दमय परम धाम है। इसी परमधामको भक्तजन साकेत, गोलोक, वैकुण्ठ, कैलास, मणिद्वीप आदि अनेक नामोंसे पुकारते हैं। इस परमोज्ज्वल, परम मधुर, परम कल्याणमय, परम सुन्दर, अप्राकृत गोलोकधाममें वृन्दावन, मथुरा, गोकुल, नन्दग्राम, बरसाना, गिरिराज, विरजा आदि दिव्य शाश्वत अप्राकृत प्रदेश हैं। यह धाम भी भगवान्‌की भाँति ही सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, दिव्य, स्वप्रकाश, नित्य सत्य भावमय है। ये साकेत, कैलास, वैकुण्ठादि भेदोंसे अनेक होते हुए भी सत्य-सत्य एक ही है।

इस चिन्मय धामकी विशेषताओंका वर्णन पूर्वतः किया जा चुका है। भगवान् सत्-चित्-आनन्द पूर्ण हैं। उनके सत् अंशकी शक्तिसे ये चिन्मय अप्राकृत धाम प्रकट होते हैं। ये धाम भगवान्‌की सन्धिनी शक्तिका विलास होनेसे पूर्णतः भगवद्रूप हैं। इसी प्रकार भगवान्‌के चिदंशकी शक्तिके विलाससे भगवान्‌के सभी लीलापात्र और उनकी लीला प्रकट होती है, अतः वह समग्र लीला भी भगवन्मयी ही है। भगवान्‌की

आनन्दांशकी शक्तिका नाम है आह्लादिनी। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं परमाह्लादस्वरूप हैं और जिसके द्वारा वे स्वयं आह्लादित होते हैं और दूसरोंको आह्लादित कर सकते हैं, उसका नाम ह्लादिनी श्रीराधा है।

यहाँ प्राकृत तत्व, तत्वातीत वस्तु और अप्राकृत राज्यमें प्रवेश, अप्राकृत देह, स्वभाव, स्वरूप आदिकी सभी बातें संक्षेपमें कह दी गयी हैं। वैसे इसका विस्तृत विवरण देनेपर तो एक सम्पूर्ण ग्रन्थ ही निर्मित हो सकता है।

(गोष्ठ, कुञ्ज एवं निकुञ्ज)

पाँचवा प्रश्न — बाबा ! यह गोष्ठ, कुञ्ज एवं निकुञ्जमें क्या भेद है और निभृत निकुञ्ज किसे कहते हैं ? इसे तनिक समझाइये।

पूज्य गुरुदेवका उत्तर — भगवल्लीला अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण एवं उनकी ह्लादिनी शक्ति राधाजीकी ब्रजराज्यमें तीन प्रकारकी लीलाएँ होती हैं। प्रथम गोष्ठ लीलाका अर्थ यह है कि भगवान् माता यशोदा एवं नन्दजीके साथ नन्दभवनमें रहकर अथवा श्रीराधारानी वृषभानुपुरमें अपनी माता एवं अन्य गोपियोंके संग जो लीला–व्यवहार करती हैं, वे गोष्ठ–लीलाके अन्तर्गत हैं। गोष्ठ–लीलाके अन्तर्गत गो–दोहन, दास–दासियों और गोप–गोपियों द्वारा भगवान्‌की सेवा, सख्यरसकी भगवान्‌के साथ तुल्यतामयी रति, ग्वालबालोंके साथ भगवान्‌की परम रसमयी क्रीड़ाएँ, इसी प्रकार राधारानीकी भी दास–दासियों एवं सखियों, मञ्जरियों आदि द्वारा सेवा सन्निहित है। माखनचोरी आदि सभी लीलाएँ गोष्ठान्तर्गत ही हैं। इसी प्रकार वात्सल्य–रस–घन–मूर्ति नन्द–यशोदाको जो भगवत्कृपा–प्रसाद–वितरण है, वह सब गोष्ठान्तर्गत ही है।

अब मधुर भाव या माधुर्य रसकी जितनी लीलायें सखियों एवं श्रीराधारानीके साथ भगवान् श्रीकृष्णकी होती हैं, उनका पर्यवसान कुंज अथवा निकुंजमें ही होता है। कुंज–लीलामें सखियोंके साथ सम्बन्ध रहता है, किन्तु निकुंजलीलामें सखियोंके लिये स्थान नहीं होता। सखी मात्र श्रीराधारूपी महाभावकी कायव्यूहा है। निकुंजमें प्रवेशके पहले ही ये सभी कायव्यूहरूपा सखियाँ–मञ्जरियाँ अपनी मूलकाया अर्थात् श्रीराधारानीके श्रीअंगोंमें, आभूषणोंमें लीन हो जाती हैं। श्रीराधा सर्वसखियोंको अपनेमें समन्वित कर पुष्ट एवं अन्तर्मुखी हुई श्रीकृष्णके श्रीचरणों आत्म–समर्पण करती हैं। इस लीलाकी द्रष्टा मात्र एक सारिका पक्षी रहती है। निभृत–निकुञ्जमें तो यह सारिका भी श्रीराधारानीके केश–समूहमें लीन हो जाती है। यह अत्यन्त निगूढ़तम लीला है। निकुंज–लीलामें श्रीराधाकृष्ण दोनोंका स्वरूप–विलास चलता है, परन्तु इसके अन्तमें भगवती श्रीराधा श्रीकृष्ण स्वरूपमें अन्तर्लीन हो जाती हैं। परन्तु आश्चर्य यह होता है कि ज्यों ही महाभाव रसराजमें डूबता है, महाभावके रसराज होते ही रसराज महाभाव होकर सुप्रकटित हो जाता है। जब तक कुंज भंग नहीं होता तब तक महाभाव रसराजमें पर्यवसित होता रहता है और रसराज महाभाव होकर पुनः व्युत्थित होता जाता है। यह स्थिति कब तक होती है कुछ कहा नहीं जा सकता, क्योंकि तब देश–काल किसीकी सत्ता नहीं रहती।

(कामेश्वरी, कामशक्ति, कामसौभाग्यदायिनी, कामरूपा एवं कामकलाका अर्थ)

छठा प्रश्न — बाबा ! भगवती आद्याशक्तिको कामेश्वरी आदि उपरोक्त नामोंसे क्यों अभिहित किया गया है ? इनको इन नामोंसे अभिहित करनेके पीछे कौन–सा तत्व–रहस्य है, कृपया इसे समझावें।

पूज्य गुरुदेव द्वारा उत्तर — काम सृष्टिका जनक है। यह काम कारण–जगत्का सर्वोपरि देवता है। भगवती कामेश्वरीकी कृपासे ही जीव प्राकृत कामके आकर्षणसे अतीत हो पाता है। काम पशुको आक्रान्त किये रहता है, परन्तु पशुपतिके सम्मुख आनेपर वह भस्म हो जाता है। भगवती कामेश्वरीने कामदेवके भस्म हो जानेपर उसकी राखको अपने नेत्रोंमें अंजनकी तरह लगाकर उसे प्रेमरूपमें परिणत कर दिया था। कामकी प्रेमरूपमें परिणति ही उसकी सर्वोच्च कृतकृत्यता है। इसीलिये भगवती आद्याशक्तिका नाम 'कामेश्वरी' पड़ा है। भगवतीके सर्वोच्च बारह उपासकोंमें कामदेव प्रमुख हैं और भगवतीकी उपासना कामदेवके आचार्यत्वके कारण काम–विद्या अथवा कादि विद्याके नामसे प्रचलित है।

इन कामदेवमें जो सर्वजयित्व शक्ति है, यह भगवतीकी उपासनाके फलस्वरूप ही है। भगवती ही कामदेवमें शक्ति रूपमें निहित हैं, इसलिये इनका नाम 'कामशक्ति' है। कामदेवको सर्वजयित्व सौभाग्य पद दान देनेके कारण ही इनका नाम 'कामसौभाग्यदायिनी' पड़ा है।

भगवती महालक्ष्मीके गर्भसे कामदेवकी भगवान् शिवके द्वारा दहन किये जानेके पश्चात् अनंग भावको प्राप्त करने पर उत्पत्ति हुई थी, अतः भगवतीको कामदेवको रूप (आकार) देनेवाली 'कामरूपा' कहा जाता है। भगवती जगदम्बा उन्हें अपनी कलाके रूपमें नेत्रोंमें अंजनवत् धारण करती हैं, इसलिये इन्हें 'कामकला' भी कहा जाता है।

किसी सत्ताके चरम अंशको आगमशास्त्रमें कला कहा जाता है। कलायें विभिन्न प्रकारकी होनेपर भी स्थूल दृष्टिसे दो प्रकारकी हैं — चित् एवं अचित्। विश्व–सृष्टिमें कामदेवका अतिशय महत्त्वपूर्ण स्थान है। कामदेव भी भगवतीकी सृष्टिकी

कारण कला हैं। आगम शास्त्रोमें कलाओंसे तत्व-रचना है और तत्वोंसे भुवनादिकी। पूर्ण अखण्ड सत्ता निष्कल है।

शक्ति चिदात्मक होनेसे शक्तिकी शान्तिकला चित्कला है, शिवकी शान्ति-अतीत कला भी चित्कला है।

(अनुत्तर शब्दका अर्थ)

सातवाँ प्रश्न — बाबा ! तंत्रशास्त्रमें 'अनुत्तरा' शब्द भी भगवतीके नामके रूपमें प्रयुक्त है। सौभाग्यअष्टोत्तरशतनामावलीमें अनुत्तरा शब्द आया है। इसे स्पष्ट करें। इसी तरह इस अष्टोत्तरशतनामावलीमें 'अनलोद्भवा' शब्द भी आया है। इसे भी जरा खोलकर समझावें। इसी तरह 'स्वातंत्र्य' शब्द पर भी तनिक प्रकाश डालें।

पूज्य गुरुदेव द्वारा उत्तर — पूर्ण सत्ताका जो चिद्रूप भान है, वही अनुत्तर है। जगत्में ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय रूप जो त्रिपुटी है उसमें ज्ञाताके साथ जो सम्बन्ध रहता है, उसमें मूलमें भेद रहता है। इसीलिये ज्ञाताका ज्ञेय-विषयक जो अनुभव होता है, वह 'इदं' रूपमें होता है। जैसे 'मैं घर देखता हूँ'— यह 'घर' है इदं और 'मैं' है अहं। इन दोनोंका सम्बन्ध 'देखता हूँ' क्रियासे सम्बद्ध होता है। परन्तु इस ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेयकी पृष्ठभूमिमें एक परम द्रष्टा है, जो इन तीनोंको अभिन्नरूपसे ग्रहण करता है। वह द्रष्टा इन्हें अखण्ड अद्वय रूपमें जानता है। उसका सर्वत्र अहं रूपमें ही प्रकाश होता है। वह विश्वातीत होनेपर भी विश्वात्मक है। लौकिक ज्ञानमें ज्ञाता देहादि द्वारा अविच्छिन्न चैतन्य है। इसलिये उस ज्ञानमें स्थितिके अनुसार इन्द्रियों तथा मनकी भी आवश्यकता होती है। परन्तु लोकोत्तर प्रकाशमें जो अनुत्तर स्वरूप स्वतः भान होता है उसमें विशुद्ध—पूर्ण अहंका बोध होता है। इसमें मन-इन्द्रियादि प्रमेयकी आवश्यकता ही नहीं। इसमें मन-इन्द्रिय न होकर भी अखण्ड ज्ञान है। यह ज्ञान अद्वैत है। तंत्रशास्त्रमें इस अनुत्तर दशाकी 'अ' मातृकासे व्याख्या की गयी है।

शक्तिका प्रादुर्भाव ज्ञानसे ही सम्भव है। भगवती चित् शक्ति हैं। 'विमर्श' शब्दकी व्याख्या करते समय यह स्पष्ट कर दिया गया है कि सत्ता, ज्ञान एवं आनन्दमें सत् शक्ति सन्धिनी, चित् शक्ति चिति एवं ह्लादिनी शक्ति निहित रहती है। इसीलिये भगवतीको चिदग्नि–कुण्ड–सम्भूता' नाम दिया गया है। ये ज्ञानस्वरूप चिज्ज्योतिके कुण्डसे ही प्रादुर्भूत होती हैं। 'अनल' शब्द इस ज्ञानाग्नि, चिदग्निका ही परिचायक है। 'अनलोद्भवा' का अर्थ 'ज्ञानाग्निकुण्डसम्भूता' अथवा 'चिदग्निकुण्डसम्भूता' ही मानना चाहिये।

इसी प्रकार आत्माका जो निरपेक्ष भाव है, उसे स्वातंत्र्य कहा जाता है। भगवती आद्याशक्ति पूर्ण परमात्मा हैं। उनकी ही इच्छा मात्रसे सबकुछ होता है, उनकी इच्छामें बाधा देनेवाली कोई शक्ति न तो हुई थी, न हुई है और न ही होनी सम्भव है। जो स्वतः स्फूर्तिशील एवं नित्य वर्तमान है, वही स्वातंत्र्य है।

परम पूज्य श्रीभाईजी, परम पूज्य श्रीराधाबाबा एवं पूज्य श्रीगोस्वामीजी

ललिता षष्ठीका पूजन करवाते श्रीगोस्वामीजी

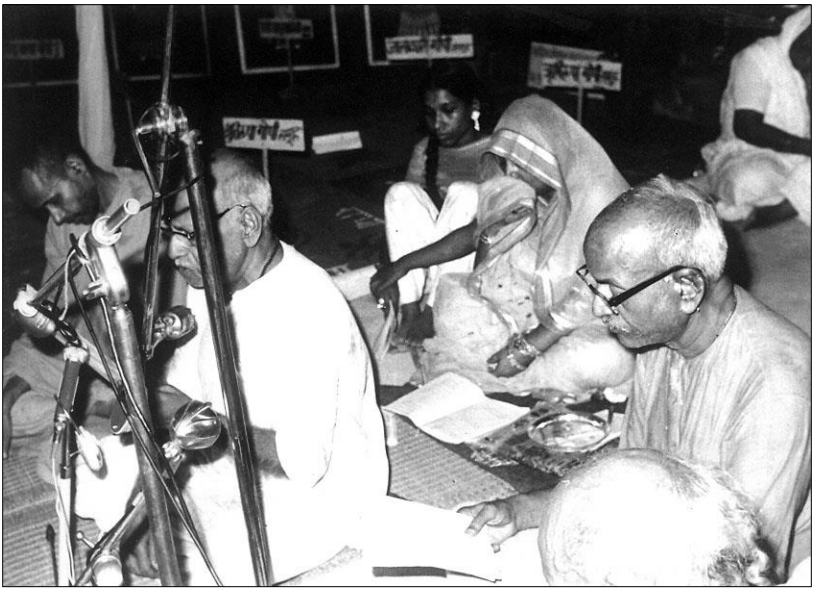

श्रीराधाष्टमीके अवसर पर परम पूज्य श्रीभाईजीका प्रवचन श्रवण करते परम पूज्य श्रीराधाबाबा, पूज्य श्रीगोस्वामीजी, पूज्य माताजी (श्रीभाईजीकी धर्मपत्नी)

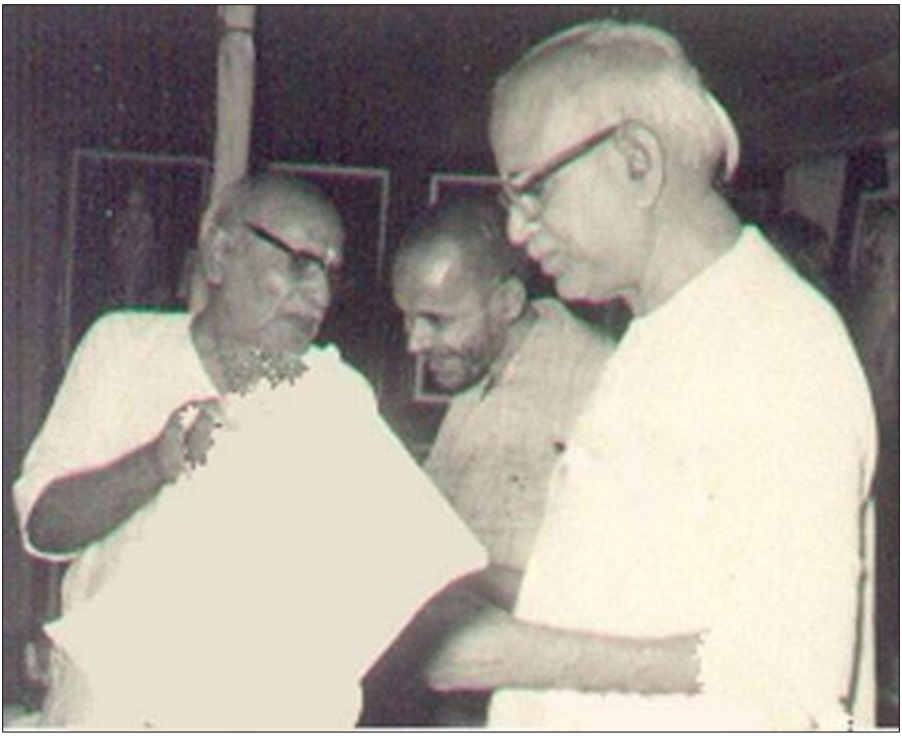

परम पूज्य श्रीभाईजी, परम पूज्य श्रीराधाबाबा एवं पूज्य श्रीगोस्वामीजी (श्रीराधाष्टमीका चित्र)

नीलतरुकी छाँह तले

परम पूज्य श्रीभाईजी द्वारा पूज्य श्रीगोस्वामीजीको समय–समय पर प्रेषित किये गये पत्रोंका संकलन।

पत्र–संख्या १

गोरखपुर

भाद्र शुक्ल ३, सं. १९९२

(१ सितम्बर १९३५)

सम्मान्य श्रीगोस्वामीजी,

सादर हरिस्मरण। आपके बिना यहाँ सब सूना–सूना–सा लग रहा है। सत्संगमें भी कोई रस नहीं रह गया है। कीर्तन तो बन्द–सा ही समझिए। सब उदास हैं।

एक बात मैं आपसे यहाँ कहनेवाला था, कह नहीं सका, समयका भी सुयोग नहीं हुआ और कुछ संकोच भी रहा। बात यह है कि मेरा गोरखपुर रहनेका भीतरी मन प्रायः नहीं है। परिस्थितिके कारण रह रहा हूँ, पर पता भी नहीं है कि कहीं अन्यत्र जा सकूँगा या नहीं, पर इस समय मनकी स्थिति यह है कि मौका मिलते ही अन्यत्र चला जाऊँगा।

गीताप्रेसमें आपकी बहुत आवश्यकता तो है और सभी लोग इस बातका हृदयसे अनुभव करते हैं, परन्तु यदि केवल मेरे पास रहनेकी इच्छासे आप गीताप्रेसमें काम करते हों तो उसमें शायद आगे चलकर अड़चन आ सकती है। दूसरी बात यह है और सत्य है कि आपके सभी घरवालोंके चित्तमें अन्यत्र रहनेसे क्लेश रहता है और आर्थिक हानि तो प्रत्यक्ष ही है। ऐसी हालतमें मेरी राय यह है कि इस बार यदि वहाँ कोई अध्यापकी आदि अच्छी जगहका सुयोग हो और घरवाले चेष्टा या आग्रह करें तो उस समय आपको वह आग्रह स्वीकार कर लेना चाहिए। मुझमें आपका प्रेम है। वह तो बढ़ता ही रहेगा। सालमें एकाध बार जीवन रहा तो मिलन होना भी असंभव नहीं है। एक जगह न रहकर दो जगह रहनेकी सम्भावना है ही। ऐसी हालतमें बीकानेर ही क्यों न रहा जाये। मुझे इसीमें सुभीता मालूम होती है। इन सब बातोंपर विचार कर लेनेके बाद भी यदि आप गीताप्रेसके लिये गोरखपुर रहना पसन्द करें तो दूसरी बात है।

गीताप्रेसको तो इसमें बहुत लाभ है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। यह समाचार किसीसे कहनेकी जरूरत नहीं है, आप मनमें ध्यान रखें।

आपका

हनुमानप्रसाद पोद्दार

* * * *

पत्र–संख्या २

बाँकुड़ा, २८.३.३९

सम्मान्य श्रीगोस्वामीजी,

सादर सप्रेम यथायोग्य। आपका कृपापत्र मिला। मैंने उसको दो–तीन बार पढ़ा। आपकी मानसिक स्थितिका मैं कुछ अनुमान लगा सकता हूँ। श्रीवाजपेयीजीके पत्रसे आपके मनकी अव्यक्त भावना व्यक्त हो गयी। आपने अपने पत्रमें जो कुछ लिखा है, आपकी अपनी मान्यता, विनयशीलता तथा पत्र लिखते समय चित्तकी जो स्थिति थी, उसके अनुसार सब ठीक ही है। परन्तु मेरी दृष्टिसे जब मैं देखता हूँ तो मुझे कई बातें असंगत मालूम होती हैं, उन्हें अयथार्थ कहूँ तो भी अत्युक्ति न होगी। कल्याण सम्पादनका भार स्वीकार करने तथा मेरी अनुपस्थितिमें भी गोरखपुर रहना मंजूर करने में आपका न अविवेक था और न थी हृदयहीनता, अकृतज्ञता, पैसेकी गुलामी और अभिमानकी भावना ही। उसमें था मेरे प्रति आपका विशुद्ध प्रेम, मुझे सुखी देखनेकी आपकी लालसा, मेरी बात टालनेमें संकोच और मेरे आग्रहका सम्मान। मैंने आपसे यही आशा की थी और यही अब भी करता हूँ। आप दुःख पाकर, कष्ट सहकर भी मेरे मनकी करेंगे, इसी बड़े भरोसेपर मैंने श्रीजयदयालजीसे आपसे बात करनेके पूर्व ही कह दिया था कि 'गोस्वामीजी मेरी बात नहीं टालेंगे।' यद्यपि उस समय मेरे मनकी

जो स्थिति थी, उसको देखते ऐसा समझना सर्वथा भ्रम है कि यदि आप यह भार स्वीकार न करते तो मैं अपने मूल निश्चयको छोड़ देता, कुछ कठिनता अवश्य होती और शायद पूज्य श्रीजयदयालजीके मतके विरुद्ध जिसका मुझे सबसे अधिक संकोच है और उनके मतके अनुसार चलना मैं एक दृष्टि से अपना कर्तव्य समझता हूँ—स्पष्टरूपसे अपना दृढ़ विचार रखना पड़ता; जिसे मैं दूसरे शब्दोमें स्पष्ट रख भी चुका था। परन्तु मुझे तो ऐसा अनुमान भी नहीं था कि आप अस्वीकार कर सकते हैं। यद्यपि श्रीवाजपेयीजीका यह मानना कि प्रेसकी नीति क्रमशः आरम्भिक सिद्धान्तकी ओरसे हटकर उत्तरोत्तर व्यावसायिक होती जा रही है, सर्वथा निराधार और भ्रमपूर्ण है, तथापि यह तो सत्य ही है कि 'प्रेस विभाग और संस्थाकी नीति आदिके निरुपणमें आपका वह स्थान नहीं होगा, जो मेरा है तथा सम्पादकीय व्यवस्थामें भी कुछ असुविधा होगी' और इस बातको पहलेसे समझकर ही मैंने अपने स्वार्थसे जान-बूझकर आपको इस कार्यमें झोंका था और अब भी मेरा वही मत है, जो उस समय था। अवश्य ही मेरी दृष्टिमें इसमें आपका किसी प्रकार 'अकल्याण' भी नहीं दीखता। मैं कृतज्ञ रहूँगा, यह भ्रम भी है ही।

शरीरकी बात अवश्य विचारणीय है, इसके लिये आपको उचित रूपसे दवा तथा पथ्यका प्रबन्ध करना चाहिये। परन्तु सच कहूँ तो मैं यह कह सकता हूँ कि 'अकाल' में कुछ नहीं हो रहा है। कहीं भी रहते, तो भी यह होता ही, शायद इससे भी अधिक होता और बुरा होता परन्तु वह होता ही क्यों, जबकि भगवान्‌ने ही यही रच रक्खा था।

आपके पत्रसे मेरे विचारपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है, यदि यह सत्य मैं प्रकट कर दूँ तो बुरा नहीं होगा। कल एक बार कुछ विचार आया था परन्तु रातको वह हट गया। इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं श्रीजयदयालजीकी रुचिकी अवहेलना करना चाहता

हूँ या आपके एवं अनन्य मित्रोंके विभिन्न रूपोंमें प्रकट या अप्रकट सच्चे प्रेमका तिरस्कार करता हूँ। सच कहता हूँ श्रीजयदयालजीके तो मुझपर इतने उपकार हैं कि मुझे जन्म-जन्मान्तर तक उनकी गुलामी करनेको मिले तो अपना बड़ा सौभाग्य समझना चाहिये और मित्रोंके प्रेमका खासकर आप जैसोंके प्रेमका, जो मेरे लिये सर्वथा विपरीत बातको स्वीकार करके भी मुझे सर्वथा सुखी बनाना चाहते हैं, मैं तिरस्कार करूँ तो इससे बड़ा पाप और क्या होगा? श्रीजयदयालजीके महान् उपकारोंके और आप सबके प्रेमके पवित्र चित्र यथावकाश, भक्ति तथा श्रद्धापूर्वक पूजा करनेके लिये हृदयमें रखकर ही मैं आप लोगोंसे अपने मनकी आज्ञा चाहता हूँ और घोर स्वार्थ-सा प्रतीत होनेपर भी मैं अपने स्वार्थके लिये आप लोगोंको कष्ट में डालना चाहता हूँ। अवश्य ही मेरे स्वार्थमें आप लोगोंके स्वार्थका भी न्यूनाधिक अंश तो है ही।

ये सब मेरे विचार हैं। अब मैं आपके कर्तव्य-निर्णयका भार आप पर ही छोड़ता हूँ। मैं जानता और मानता हूँ कि प्रेस और 'कल्याण' से जगत्‌की कुछ सेवा हो रही है और मेरे व्यक्तित्वका प्रचार होनेपर भी शायद मैं यह स्वीकार कर लूँ कि इसमें मेरा भी हित ही है, परन्तु इसपर भी मुझे प्रेस या 'कल्याण' का कोई मोह इस समय अपने विचारसे नहीं हटा सकता। इसका यह अर्थ नहीं है कि मुझमें इनका मोह नहीं है। इसलिये अब आप जो कुछ ठीक समझें, वही निर्णय करें, मुझे, आप विश्वास कीजिये, उसीमें बड़ा सन्तोष होगा, आपको सुखी देखकर मुझे सुख ही होगा, यह निश्चय है और इसमें यदि 'कल्याण' बन्द भी हो जायेगा तो मुझे श्रीजयदयालजीके संकोचको छोड़कर इस समयकी मनकी विचार-धाराके अनुसार कुछ भी दुःख नहीं होगा। जिसकी प्रेरणासे कार्य हुआ, उसीकी प्रेरणासे बन्द भी हो जायेगा तो अच्छा ही होगा। फिर यदि उनकी प्रेरणा हुई तो कोई-न-कोई व्यवस्था हो ही जायेगी। सम्भव है, वह इससे अच्छी हो।

यह पत्र लिखते समय मेरे प्रति आपका जो अकृत्रिम प्रेम है, उसका चित्र मेरी कल्पनाकी नजरके सामने आ गया है और मैं गद्गद हो गया हूँ। भय लगता है, मैं कहीं कोई अपराध तो नहीं कर रहा हूँ। भगवान् आपका और मेरा मंगल करें। मेरा अभी महीने भर तो अंदाजन यहीं रहनेका विचार है। इसके बादका अभी कुछ निश्चय नहीं है। भगवान्ने जो रच रखा है, वही होगा। गोरखपुरमें अपने मुहल्लेमें कुछ प्लेगकी-सी शिकायत है, है तो बहुत मामूली-सी ही, इसलिये जबतक वहाँसे बिल्कुल ठीक होनेका समाचार न आ जाय तब तक आपको गोरखपुर नहीं जाना चाहिये। शायद चैत्रमें ठीक हो जायेगा।

पूज्य माँजी तथा पिताजीसे मेरा सादर प्रणाम कहें। उन दोनोंको ही गोरखपुर साथ ले जा सकें तो अच्छा है। श्रीवल्लभाचार्यजीसे मेरा सादर हरिस्मरण अवश्य कह दें। श्रीदुजारीजी (श्रीगम्भीरचन्दजी दुजारी)-का कोई पत्र नहीं आया, वे अच्छे होंगे, कभी मिलें तो मेरा सप्रेम यथायोग्य कह दें। श्रीदेवधरजीसे मेरा सादर सप्रेम यथायोग्य कहें।

आपका

हनुमान

* * * *

पत्र–संख्या ३

डालमिया दादरी

आश्विन कृष्ण ९, सं. १९९६ वि.

(७ अक्टूबर १९३९)

प्रिय श्रीगोस्वामीजी,

सादर सप्रेम हरिस्मरण। यहाँकी सब व्यवस्था दूलीचन्दके एक पत्रमें लिख चुका हूँ। स्वास्थ्य कुछ अच्छा मालूम होता है। उस दर्दके अतिरिक्त और कोई शिकायत यहाँ नहीं मालूम होती। भोजनादिकी व्यवस्था बहुत ठीक है। वे लोग, जहाँतक उनसे बनता है, मेरी पूरी सम्भाल रखते हैं। दूध गोरखपुरकी अपेक्षा यहाँ कुछ बढ़ा दिया है। प्रातःकाल भोजनके समय मट्ठा भी लेता हूँ। दिल्लीसे फल मँगवाये जाते हैं, जिनमें मैं अंगूर और मौसुमीका रस लेता हूँ। अभी भाई जयदेवके बगलवाले बँगलेमें ही हूँ।

… …

मैं प्रायः एकान्तमें रहता हूँ। मेरे पास प्रायः कोई आते भी नहीं, परन्तु यहाँका वातावरण मील–कारखानाका है, और भी कई बातें हैं, अतः यहाँ स्थायी रूपसे रहनेका विचार न पहले था न अब है। परन्तु यह भी निश्चय नहीं हो पाया कि यहाँसे कहाँ जाना चाहिये। रतनगढ़ मेरे मनके अनुकूल नहीं और दूसरी जगह स्थायी रूपसे रहनेमें पू. माँजी तथा सावित्रीकी माँको प्रतिकूलता मालूम होगी। यद्यपि वे जहाँ रहूँ, वहीं रहनेको कहती हैं और रहेंगी भी, परन्तु उन्हें अनुकूल नहीं है, ऐसा मेरा अनुमान है, ऐसी स्थितमें देखा जाये, कहाँ रहना हो। मैं तो यही करता हूँ — जैसी मनमें आती है, वैसी चेष्टा तो करता हूँ, फिर जो कुछ हो जाता है, उसीको भगवान्‌का विधान मानकर सन्तोष करनेका प्रयत्न करता हूँ। असलमें बात भी यही है। भगवान्‌ने जो रच रखा है, उसीमें हमारा कल्याण है। यहाँ कुछ दिन सत्संग, कीर्तन हुआ था, पीछे मैंने मनाही कर दी। एक–दो दिन शायद और भी हो। न मधुरजीकी मधुर मोरवीन ही बजती है

और न स्वामीजी महाराजका 'राधे बोलो राधे' कीर्तन ही होता है। निस्तब्ध–नीरव–सा जीवन है और अभी यही प्रिय मालूम होता है।

बगीचेमें दोनों समय कीर्तन, प्रातःकाल प्रार्थना, भगवत्–चर्चा होती है सो बड़े ही आनन्दकी बात है। प्रेसमें अखण्ड कीर्तन चालू है, यह भी बहुत उत्तम है। पण्डितजी पितृपक्षके बाद शीघ्र ही लौटनेको कह गये हैं सो अच्छी बात है।

बगीचे (गीतावाटिका) में उदासीकी बात लिखी, सो यह तो आपलोगोंका मेरे प्रति जो अकृत्रिम प्रेम है, उसीके कारण आपलोगोंको ऐसी प्रतीति होती है। मैं क्या लिखूँ ! भगवान्का विधान जैसा कुछ होगा, वही होगा और उसीमें आनन्द मानना चाहिये। मैं भी आपलोगोंसे अलग रहना नहीं चाहता, परन्तु इस स्थितिमें अलग रहनेमें ही मुझे और आपलोगोंको प्रसन्न होना चाहिये। भगवान् परम कल्याणमय हैं, वे कल्याण ही करते हैं। मैं तो आपलोगोंके प्रेमका ऋणी ही रहूँगा।

कल्याणके तीसरे अंकका नमूना यहाँ आ गया था। चौथे अंकका मैटर दिया जा चुका सो अच्छी बात है। मैंने लेख न लिखनेकी प्रतिज्ञा नहीं कर ली है, परन्तु आजकल न तो कुछ बात उपजती ही है और न अवकाश ही मिलता है, इससे विवश–सा हो रहा हूँ। लिखनेकी मनमें आयेगी तो लिखनेमें कोई हर्ज भी नहीं है। टाइटिल पेजके लिये एक आइडिया दिया सो अच्छी बात है। और भी दो–चार बनवा लीजिये। सादा टाइटिल हर महीने बदलता रहे तो अच्छा है। .

श्रीबाबाराघवदासजी और भाईसाहबसे आप लोगोंने खादी खरीदी सो अच्छा किया। मैंने भी एक गज खादी श्रीस्वामीजीकी साफीके लिये खरीद की है।

बिहारकी संस्कृत शिक्षाके करिक्यूलममें गीता, रामायण, महाभारत, भागवतादि हो जायँ तो बहुत अच्छा है। ऐसा पाठ्यक्रम बनानेकी चेष्टा जरूर करनी चाहिए।

पुस्तकें छापनेमें भी गीताप्रेसको लाभ ही है और उसका कर्तव्य भी है। ... ...

प्रेसमें मशीनोंकी जो दशा है, उसे देखते 'कल्याण' के अगले विशेषांककी तैयारी अभीसे आरम्भ कर देनी चाहिए। पौषसे छपना शुरू हो जाय ऐसा प्रयत्न करना चाहिये। नहीं तो आगे चलकर बड़ी दिक्कत होगी। इस सम्बन्धमें भी बजरंगलाल और श्रीजयदयालजीसे बात करके तुरन्त निश्चय कर लेना चाहिए तथा अभीसे कार्य आरंभ कर देना चाहिये। ... ...

श्रीमाधवजी, दादा, धीरेनबाबू, देवधरजी, वकीलसाहब, नाथूरामजी, जगदीश, दूलीचन्द सभीसे मेरा सादर सप्रेम यथायोग्य कहना चाहिये।

आपका

हनुमान

* * * *

पत्र–संख्या ४

डालमिया दादरी

आश्विन शुक्ल ७, सं. १९९६ वि.

(१९ अक्टूबर १९३९)

प्रिय श्रीगोस्वामीजी,

सप्रेम यथायोग्य। आपका पत्र मिला, सब समाचार जाने। मैं एकान्तमें रहकर निस्तब्ध–नीरव जीवन बिताना तो चाहता था, अब भी चाह मिटी नहीं है, परन्तु इस

समय तो मेरी जीवन-नौका शायद भगवान्‌के विधानके ही प्रवाहमें—बड़े जोरके प्रवाहमें पड़ गयी है। कभी-कभी मनमें आता है तो अपनी ओरसे दो-चार डाँड मार लेता हूँ, फिर थककर बैठ जाता हूँ। पता नहीं, नैया किसी चट्टानसे टकराकर टूटेगी, कहीं भँवरमें फँसकर डूबेगी, किसी वीरान देशमें ले जायगी या किसी सुन्दर सुरम्य तीरपर लंगर डालेगी। अभी तो बही जा रही है। अवश्य ही अभीतक डाँड मारनेका हौसला बिलकुल छोड़ नहीं दिया है, परन्तु धीरे-धीरे थका जा रहा हूँ। मेरा पुरुषार्थ मरता-सा जा रहा है, पुरुषार्थका गर्व चूर होनेको आया है। इस जीवनको नीरव-निस्तब्ध कहूँ या प्रवाहमें पड़ा हुआ पराधीन, कुछ पता नहीं। नीरव तो यों भी नहीं हूँ, यद्यपि बहुत कम बोलता-सुनता हूँ, परन्तु मनका बोलना-सुनना तो बंद नहीं हुआ है। इस स्थानमें तो जो रात-दिन मिल-कारखानाकी विकराल चक्कीमें बड़े-बड़े पत्थर तोड़े और पीसे जा रहे हैं, उन्हींकी आवाज होती रहती है। फिर नीरव जीवन कैसा ? बहुत हुआ ! यहाँ आ गया हूँ, पता नहीं अब कहाँ जाऊँगा। न भगवान्‌की इच्छापर ही जीवनको पूर्ण रूपसे—निःशेष रूपसे छोड़ सका और न अपनी इच्छा ही पूरी हो रही है।

श्रीवेणीमाधवजी गये, नाथूरामजी चले गये, माधवजी भी दशहरेतकके लिये घर गये। दूलीचन्द भी लखनऊ गये। यह सब ठीक ही है। जाना और आना यही तो संसारका स्वरूप है। यह यात्राका प्रसंग चला ही आ रहा है, चलता ही रहेगा, भगवान्‌की सृष्टिमें इसका कभी कहीं विराम नहीं है। परन्तु सभी अवस्थाओंमें सभी जगह भगवान् सदा ही हमारे साथ हैं। इस पार्थिव संसारमें बस, एक भगवान् ही नित्य हैं जो सदा सब जगह रहते हैं—जीवन-मृत्यु, दुःख-सुख, हानि-लाभ, मान-अपमान, सभीमें ये मुँह छिपाये सदा हँसते रहते हैं। जो अपनी सुखकी स्पृहा छोड़कर केवल इन्हींकी ओर अपने मानस नेत्रोंको लगाना चाहता है, उसके सामनेसे ये योगमायाका पर्दा हटा लेते हैं। फिर तो सर्वत्र असीम माधुर्य-सौन्दर्य, महान् आनन्द

और विशाल शान्ति, दिव्य ज्योति और शीतल प्रकाश ही दिखायी देता है, इनकी हँसी ऐसी ही होती है, ऐसी ही है।

* * * *

आप कथा कह रहे हैं सो बड़ा अच्छा कर रहे हैं। इस शहरमें आप अवश्य लाभमें ही रहेंगे। इसे छोड़ियेगा नहीं।

* * * *

श्रीगंगाबाबू बिना किसी सूचनाके चित्रकूट चले गये। अच्छा ही हुआ, उनकी बहुत दिनोंकी इच्छा थी। यह भी भगवान्‌का ही मंगल विधान है।

वकीलसाहब और उनके घरका हाल चिन्ताजनक है। इस अवस्थामें हमलोग उनकी कैसे-क्या सेवा कर सकते हैं? आपको कुछ जँचे तो सोचकर लिखियेगा। मुझे कई बार उनकी स्थितिका स्मरण हो आता है और उस स्मरणसे चित्तमें कुछ दुःख-सा होता है।

श्रीमाधवजीका पत्र मिल गया था, उसमें बड़े चोखे भाव थे। मैंने अभी उत्तर नहीं लिखा है। घरके पतेपर लिखूँगा या उनके गोरखपुर लौटनेपर। पत्र लिखनेके बाद वे आपके पास आकर फूट-फूटकर रोये—यह उनके भावुक हृदयका परिचय है। क्या करूँ? मैं तो आपलोगोंके प्रेमका ऋणी ही रहूँगा। मुझमें कोई योग्यता ही नहीं कि मैं किसी तरह सन्तोष करवा सकूँ। (हिन्दी) विशेषांककी तैयारी प्रेसकी दृष्टिसे और सचमुच आपकी दृष्टिसे भी अभीसे शुरू कर देनी ठीक मालूम होती है। मेरी तरह आप प्रेसवालोंपर कुत्तेकी तरह भौंक नहीं सकेंगे। पहलेसे तैयार रहेंगे तो सहूलियतसे काम होगा। इस काममें श्रीमाधवजी और देवधरजीसे पूरी सहायता लीजिये। श्रीगर्देजी बहुत काम दे सकते हैं, पर उनका आना कठिन है। अंग्रेजी विशेषांकका काम कुछ-

कुछ देखते रहिये, अब तो सारा भार आपपर ही है। श्रीभगवान्‌का भरोसा रखिये। वे ही वहन करनेकी शक्ति देंगे। घबराइये नहीं।

अपने साधन, भजन और आचरणकी बात लिखी सो ठीक है, भगवत्कृपासे असंभव भी संभव हो सकता है, इस बातपर विश्वास कीजिये। अपनी ओरसे आप, जैसे और जो कुछ भी हैं, स्पष्ट होकर अपनेको सदा भगवान्‌के प्रति निवेदन करते रहिये। आप तो बहुत अच्छे हैं, बहुतोंसे बहुत भले हैं, वे तो महान् पापीको ग्रहण करनेमें भी नहीं सकुचाते। पापीका सारा पाप लेकर स्वयं उसको धोते हैं—वैसे ही जैसे माँ छोटे शिशुका मल धोती है, बिना किसी घृणाके, अत्यन्त स्नेहसे प्रसन्न होती हुई ! माताका उदाहरण भी पूरा नहीं घटता, क्योंकि माताका स्नेह उनके स्नेहकी छायाकी भी छाया नहीं है। रही मेरी शुभ भावनाकी बात सो मेरी भावनामें कोई ताकत तो मुझे नहीं दीखती, होगी तो मुझे पता नहीं। परन्तु स्वाभाविक ही हृदयसे ही आप सब प्रेमी मित्रोंके लिए सदा ही मेरी शुभ भावना रही है, और है। फल कुछ न भी होगा तो, हानि तो होगी नहीं। आपको जो-जो कुछ करना पड़े, करिश्मे देखने पड़ें, उन्हें आप अभिमानके पल्ले बाँधकर उनका महत्त्व गँवाइये मत। ये सब करिश्मे भगवान्‌के हैं। उनकी लीलाके अंग हैं। देख-देखकर प्रसन्न होते रहिये। आनन्द लूटिये। रोनेके अभिनयमें भी अन्दर-ही-अन्दर हँसिये। उनके विधानके उत्सवसे सदा आनन्दका ही स्रोत बहता है। विपत्ति-आपत्ति, प्रतिकूलता-पराजय, अपमान-तिरस्कार, पीड़ा मृत्यु, सभीमें उनकी आनन्दभरी मुस्कान देखिये। भगवान्‌के प्रत्येक दानको आनन्दसे ग्रहण कीजिये।

मेरा स्वास्थ्य ठीक है, दर्दमें भी कुछ कमी ही समझिये। यहाँ खान-पान, शयन-जागरण सभी प्रायः नियमित-से होते हैं, इससे भी लाभ है। घूमना बहुत थोड़ा होता है और स्वास्थ्यके लिये यही ठीक है।

भोजनके बाद भाई जयदयाल (श्रीजयदयालजी डालमिया)–के घरपर कुछ मिनटोंके लिए अखबार देखता हूँ। अवश्य ही उसमें मनको विशेष रूपसे लगानेमें डरता हूँ।

मेरे पत्रोंके कुछ अंश छापनेकी बात लिखी, सो मेरा नाम न देकर छाप सकते हैं। व्यक्तिगत बात नहीं आनी चाहिये। पत्र लिखनेका पहले तो विचार ही नहीं था। फिर ऐसी भावना हुई, पत्रका उत्तर दे देना चाहिये। सबेरे डेढ़ घंटेका समय रखा। परन्तु पत्रोंकी संख्या बढ़ चली है। खासकर गोरखपुरके। इससे शायद पत्र लिखना बन्द करना पड़े। जबतक चलता है, चलाता हूँ। लोग अलग–अलग पत्र न लिखकर एक ही पत्रमें अपने समाचार लिखवा दें तो उत्तरमें सुविधा हो।

* * * *

'कल्याण' और 'कल्पतरू' में नाम न देनेकी बात सत्यके नाते आपको ठीक ही समझनी चाहिये। मैं जब कोई काम देखता ही नहीं, तब नाम क्यों रहना चाहिये ? इसमें आप अन्यथा कुछ भी न समझें। पत्र बहुत लम्बा हो गया।

आपका

हनुमान

* * * *

गोरखपुरमें मुसलमान भाईयों द्वारा गीताप्रेसके विरुद्ध दुष्प्रचार एवं गीताजयन्तीके जुलूसपर हमला

उपरोक्त समाचार मिलनेपर मिलनेपर भाईजीने रतनगढ़से पत्रों द्वारा श्रीगोस्वामीजीका मार्गदर्शन किया —

पत्र–संख्या ५

रतनगढ़ (बीकानेर)

मार्गशीर्ष शुक्ल १४, सं.१९९६

(२५ दिसम्बर १९३९)

प्रिय श्रीगोस्वामीजी, श्रीमदनलालजी,

सप्रेम हरिस्मरण। आपलोगोंके पत्र मिले। सब समाचार जाने। मैं होता तो ऐसी नौबत न आती या और कुछ हो जाता, किसको पता है। मुसलमान भाई प्रेसके विरुद्ध प्रोपेगंडा कर रहे हैं, सो अच्छी बात है। ये भगवान्‌के विधानसे ही ऐसा कर रहे हैं। इसीमें प्रेसका और हमारा मंगल होगा। वे लोग सुलह नहीं चाहते, प्रेस तथा साहेबगंजवालोंको फँसाना चाहते हैं, कलक्टरसाहबके कान भर रहे हैं—यह सब बातें स्वाभाविक ही हैं। आपके साथ कोई नहीं है, हिन्दुओंकी ओरसे कोई पैरवी नहीं हो रही है, उनकी ओरसे मुस्तैदीसे काम हो रहा है—ऐसा होता ही है। हिन्दुओंमें ऐसी शिथिलता सभी जगह पायी जाती है। हमारे यहाँ कोई गिरफ्तारी हो तो जमानत देकर छुड़ानेकी चेष्टा कीजिए। वकील रखकर पैरवी कराइये। कोई साथ नहीं है तो क्या है, भगवान् सदा साथ हैं और प्रत्येक कार्यमें उनका मंगलमय हाथ है। श्रीशुक्लजीको सहायता वे करेंगे। मेरी समझमें तो इस कार्यमें शुक्लजीको कार्य करने दीजिये, वे अच्छा काम कर सकेंगे। हरदेवजी आ गये होंगे, वे भी सहायता देंगे। शुक्लजीको भगवान् गाइड करेंगे—जैसा कराना होगा, वैसी ही बुद्धि देंगे। आपलोग सभी इस बातपर विश्वास करके यथायोग्य सम्मति–सहायता देते रहिये। मुझे आना पड़ेगा तो मैं क्योंकर इन्कार कर सकूँगा। आपने घबड़ाकर पत्र नहीं लिखा है, परिस्थिति ऐसी ही है, समझमें आ रही है, परन्तु कुछ डाँवाडोल तो हुए ही हैं जो स्वाभाविक ही है। आपसमें खूब प्रेम बढ़ानेकी तथा एकमतसे काम करनेकी चेष्टा कीजिए। बहुत सावधानी रखिये। भगवद्विश्वास न हिल जाय। और किसीके अहितकी भावना हमारे मनमें न आ जाय। प्रेसकी पोजिसन और उसके आध्यात्मिक रूपकी सच्ची रक्षा इसीमें है। बदनामी हो,

प्रेस गोरखपुरसे अन्यत्र चला जाय, उठ जाय, इसमें कुछ भी हर्ज नहीं है। भगवान्‌का यही विधान होगा तो यही परम श्रेष्ठ है। शायद किसी खास परिवर्तनके लिये या हमलोगोंकी परीक्षाके लिये ही इस काममें प्रेसका सम्बन्ध भगवान्‌ने जोड़ा है। मुझे सब बातोंसे जानकारी रखते रहिये। श्रीशुक्लजीसे मेरा सादर सप्रेम हरिस्मरण कहिये और कहिये कि भगवान् तथा इष्टदेवपर विश्वास रखकर कर्तव्य-पालन करते रहें। भगवान् सब मंगल ही करते हैं। पता नहीं भगवत्कृपा कब किस रूपमें हमारे सामने प्रकट होती है। ऐसी ही स्थितिमें तो परीक्षा होती है, आपलोग जरा भी घबराइये नहीं। एक अच्छा वकील जरूर कर लीजिए। मुझे लिखिये, यदि किन्हींको पत्र लिखना हो तो लिखूँ। किसी भी परिस्थितिमें धैर्य, साहस, बुद्धि और भगवद्विश्वासको मत खोइये।

आपका

हनुमान

* * * *

पत्र-संख्या ६

रतनगढ़ (बीकानेर)

प्रिय श्रीगोस्वामीजी,

सप्रेम सादर हरिस्मरण। आपका तथा मदनलालजीका एक-एक पत्र मिला। तार भी मिले थे। तीन-चार दिनोंसे हृदयके पास दर्द कुछ ज्यादा है, पीठमें भी कुछ दर्द है। इस दर्दका सावित्रीकी माँको पता लग गया था, इसीसे आज नहीं आ पाया, नहीं तो मैंने तो आनेका विचार कर लिया था। मुझे मुकदमें आदिका तो कुछ भी भय नहीं है। यदि मनमें कोई संकोच है तो इसी बातका है कि आपलोगोंमेंसे किन्हींके मनमें इस

बातको लेकर दुःख न हो कि हमलोगोंकी इस विपत्तिकी अवस्थामें भी भाईजी नहीं आये। इसके अतिरिक्त और जरा भी चिन्ता नहीं है।

श्रीभगवान् मंगलमय हैं, उनकी देख–रेखमें ही सब कुछ होता है। आपका–हमारा हृदय इस बातको जानता है कि अपने न तो कोई बुरी नीयत थी, न मुसलमानोंपर या मस्जिदपर आक्रमण करनेकी कल्पना थी, न किसीने आक्रमण किया ही। इसपर भी यदि वे लोग गढ़–गढ़ाकर कोई केस खड़ा कर सकें तो मानना चाहिये कि यही भगवान्‌की इच्छा है। भगवान्‌की कृपा ही सब कुछ कराती है। उन्हींके विधानसे उन्हींकी गीताजयन्तीके जुलूसपर हमला हुआ, उन्हींके विधानसे चोट लगी, उन्हींके विधानसे आगे जो कुछ होना होगा, होगा ही। अपने भगवान्‌के सामने निर्दोष हैं, इसपर कलक्टर साहब हमें क्यों दोषी मान लेंगे ? थोड़ी देरके लिये मान लें, किन्हींके उल्टा–सीधा समझा–बुझा देनेसे उनका विचार पलट जाय और वे हमें दोषी ही मानने लगें तो हमारा क्या बिगड़ेगा ? हमलोग जबतक भगवान्‌के सामने निर्दोष हैं, तबतक यहाँकी किसी भी घटनासे हमारा यथार्थ नुकसान कदापि नहीं हो सकता। मान लीजिये, गिरफ्तारियाँ हों, हमारे आदमी पकड़े जायँ तो जमानत देकर उन्हें छुड़ाइये। एक अच्छे वकीलको कर लीजिए, उनकी रायसे सारे काम हों—मामला लड़िये। ठीक सच्ची–सच्ची बात कोर्टमें कह दीजिए। जो होना होगा, हो ही जायगा। यदि हमारा दोष नहीं होगा तो हमपर क्यों कुछ होगा, और यदि कुछ हो ही जाय तो वह किसी पूर्वकर्मके फलदानोन्मुख प्रारब्धके कारण होगा, वह होना ही चाहिए। हमें उसके लिये चिन्ता क्यों करनी चाहिए ? थोड़ी देरके लिये मान लिजिये, हमारे किसी कर्मचारीको या हमलोगोंमेंसे किसीको पूरी पैरवी और सच्चाईपर कायम रहते हुए ही जेल जाना पड़े, तो वह अवश्य ही हमारे कल्याणके लिये होगा। कर्मचारी जेल जायगा तो उसके घरवालोंके लिये भरण–पोषणका प्रबन्ध हो जाना चाहिये, जो हो सकता है। अधिक से अधिक कोई बात हो तो वह यही न होगी कि प्रेस वहाँसे उठ जायगा,

हमलोग मारे जायेंगे। पर इससे हमारा क्या बिगड़ेगा ? भगवान्‌के विधान बिना होगा नहीं। विधानको बदलना किसीके लिये साध्य नहीं है। और बदला भी क्यों जाय, वह मंगलमय भगवान्‌के मंगलमय हाथकी रचना है। हमारे मंगलके लिये ही है। हाँ, यदि हम सच्चाई और भगवद्विश्वासको छोड़कर अपने उद्देश्यसे गिरते हैं तो जरूर गलती करते हैं। मुझे तो इस बातकी जरा भी चिन्ता नहीं है। केस चले, सब बातें बिल्कुल सच-सच कह देनी चाहिये। झूठे गवाह सजानेकी, बनानेकी जरा भी आवश्यकता नहीं। पैरवी अच्छी तरह हो, अच्छे-अच्छे वकील भी रहें। पैसा खर्च हो तो हर्ज नहीं। फिर परिणाम जो कुछ होना होगा, वही होगा। मान लीजिये, प्रेसकी बदनामी होगी, कलक्टरका मन फिर जायगा। इससे क्या बिगड़ेगा ? भगवान्‌का मन तो नहीं बदलेगा। आखिर सत्यका परिणाम विजयमें ही पर्यवसित होगा। चाहे वह हमारे इस जीवनमें सामने न आये। मैं आपसे, मदनलालजी, गंगाबाबू, पं.लादूरामजी, बजरंगलालजी, श्रीशुक्लजी महाराज, बगीचेके सभी लोग तथा और सभीसे यह अनुरोध करता हूँ कि भगवान् और सत्यपर तथा भगवान्‌के मंगलमय विधानपर निश्चित विश्वास करके परिणामकी ओरसे तो निश्चिन्त हो जाइये। जो उन्होंने रचा है वही होगा और वही मंगलमय होगा, चाहे देखनेमें भयानक ही हो। जरा भी चिन्ता करके उनकी कृपापर अविश्वास मत कीजिए।

इच्छा यही रहे—गोरखपुरमें शान्ति रहे और प्रेम बढ़े। अपने मनसे किसी भी मुलसमानका बुरा न चाहा जाय। सबका भला हो, सब सुखी हों, यही भाव रहे।

एक अच्छा वकील तय कर लें, उनकी रायसे काम करें। मैंने पं. हरदेवजी शर्माको डालमिया नगरसे बुलानेका तार दिया है, वे शायद पहुँच गये हों। बहुत ही होशियार तथा योग्य पुरुष हैं, उनसे काफी मदद लीजिये। परन्तु विश्वासको रखिये भगवान्‌पर ही, किसी चाल या चालाकीपर नहीं।

मुख्य बात तो भगवत्कृपा और भगवद्विधानपर तथा सत्यपर विश्वास है। जरा भी चिन्ताकी बात नहीं है।

रही मेरे आनेकी बात, सो इस कामके लिये तो मैं अपनी कोई आवश्यकता नहीं समझता। भगवान्‌का रचा हुआ ही हो रहा है, रचा हुआ ही होगा। न मालूम किस रूपमें भगवान् क्या करना चाहते हैं। हाँ, आपलोगोंके चित्तमें मेरे न आनेसे कोई धक्का लगे तो उससे मैं बहुत डरता हूँ। मैं आज ही चला आता, परन्तु नहीं आ सका। इसमें भी भगवान्‌का ही विधान है। अब यदि आपलोग यही समझें कि मेरे आनेसे ही आपलोगोंको सन्तोष होगा तो किसी भी हालतमें मुझे जरा भी इन्कार नहीं है। मैं सदा ही आपके साथ हूँ। अधिक क्या लिखूँ। भगवद्विश्वास, साहस, परिणामके सम्बन्धमें निश्चिन्तता, सत्य न छोड़िये और बुद्धिमानीके साथ कार्य करते रहिये।

आपका

हनुमान

* * * *

पत्र–संख्या ७

रतनगढ़ (बीकानेर)

२९ दिसम्बर १९३९

प्रिय श्रीगोस्वामीजी,

सप्रेम सादर हरिस्मरण। परसों आपका तार मिला था। कल दो तार तथा पत्र दिये थे सो पहुँचे ही होंगे। आज सबेरे आपका तार मिला, उसी समय श्रीचेतरामजी छोटेलालजीका मदुरासे घबराहटका तार मिला। उन्होंने चारोंके गिरफ्तार होनेकी बात

लिखकर मुझे तुरन्त गोरखपुर जानेके लिये अनुरोध किया था। यद्यपि दर्द था, परन्तु मैंने यह निश्चय कर लिया, सावित्रीकी माँसे भी सम्मति ले ली कि यदि गोरखपुरको तार देनेपर उत्तरमें बुलानेका समाचार आ जाय तो मैं गोरखपुर चला जाऊँ, इसी निश्चयसे आपको तार दिया गया तथा दादरीमें श्रीजयदयाल (श्रीजयदयालजी डालमिया)–को तार दे दिया कि मेरे साथ जानेके लिये श्यामलालजी वकीलको तैयार रखो तथा मदुराको भी तार दे दिया था कि मैं गोरखपुरके तारकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ—स्वास्थ्य बहुत अच्छा न होनेपर भी मैं गोरखपुर चला जाऊँगा। आपके तारकी प्रतीक्षा कर रहा था। इसी समय आपका तार मिला। पढ़कर बड़ा आश्वासन मिला। मैं आपको पहले ही लिख चुका हूँ कि दर्द कुछ बढ़ा हुआ–सा है, परन्तु उस दर्दके कारण मैं आवश्यक होनेपर रुक नहीं सकता। आज तो दर्द भी कुछ कम है। यद्यपि मुझे इस मामलेके कारण कोई चिन्ता नहीं है, न भगवान्‌के मंगलमय विधानमें जरा भी शंका ही है, तथापि प्रेसवाले, साहेबगंजवाले यह अनुभव न करें कि भाईजी हमारी विपत्तिके समय नहीं आये, इसीसे मैंने अपना विचार स्थिर कर लिया था। अब आपका तार मिलनेपर रुक गया हूँ। आपने मेरे आने–न–आनेके बाबत कुछ नहीं लिखा। स्थिति कुछ ठीक है और मेरे दर्दका समाचार आप पा चुके हैं, इसलिये बुलानेकी बात तो कैसे लिखते। और मेरे गोरखपुर जानेसे कुछ सुविधाकी सम्भावना है ही, इसलिये 'ना' भी कैसे लिखते। परन्तु मैंने तो यही समझा कि जैसी घबराहट पहले थी, वैसी अब नहीं है, इसीलिये मैंने गोरखपुरका विचार अभी छोड़ दिया है। कलके और आजके लिखे हुए आपके पत्र मिलनेपर या बीचमें कोई दूसरा तार मिलनेपर पुनः विचार किया जायगा।

यह समझमें नहीं आता कि इन लोगोंको क्यों पकड़ा, ये तो बेचारे निरीह आदमी हैं, पकड़ते ही इन लोगोंकी तो एक बार बुरी दशा हो गयी होगी। हमला तो मुसलमानोंने किया था, उनमेंसे एक भी क्यों नहीं पकड़ा गया? क्या पुलिसकी जाँच

पक्षपातपूर्ण हो रही है अथवा कान्फ्रेन्सके समय हिन्दुओंको डराये रखनेके लिये ऐसा किया गया है ? कलक्टरका रुख कैसा है ? मेरा पत्र उन्हें जरूर दे दिया गया होगा।

वास्तवमें हिन्दुओंको कलक्टरपर यह जोर डालना चाहिये था कि हमलोगोंके शान्तिमय जुलूसपर अकारण ही आक्रमण किया गया, इसलिये उन लोगोंको उचित शिक्षा मिलनी चाहिये, जिससे आइन्दा ऐसा न होने पाये। परन्तु गोरखपुरके हिन्दू कुछ करते ही नहीं, तब क्या किया जाय ? विशेषांकके लिये श्रीगर्देजीको बुलाकर काम शुरू कर देना चाहिये। आपको तो अधिक समय इस काममें लगाना पड़ेगा।

आपका

हनुमान

* * * *

पत्र–संख्या ८

रतनगढ़ (बीकानेर)

४ जनवरी १९४०

प्रिय श्रीगोस्वामीजी,

सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका पौष कृष्ण ७ का पत्र मिला। मैंने कल पत्र लिखा था, पहुँचा होगा। सुलहकी मीटिंगमें जो कुछ बातें होंगी, उनका सार आप लिखेंगे ही।

श्रीज्वालाप्रसादजीने तो वायसराय, गवर्नर, गांधीजी, नेहरूजी आदिको तार देनेके लिए कहा बताते हैं, परन्तु मेरी समझसे उसमें लाभ नहीं है। गांधीजी, नेहरूजीका मत

मुसलमानोंके लिये यही होना संभव है कि उनके सामने आत्मसमर्पण कर दो। यद्यपि हमलोग शान्ति ही चाहते हैं, तथापि यह हमारे मतके अनुकूल नहीं है। वायसराय, गवर्नर आदिको तार वगैरह कलक्टरको सूचना देकर या उनसे कुछ न होता दीखे या वे जान-बूझकर अन्याय करते हों और उनसे भलेकी आशा न हो, तभी देने चाहिये। नहीं तो जैसा कलक्टर कह गये हैं, उन्हींको मार्फत गवर्नरके पास अपनी सच्ची बातें जायँ तो और अच्छा है।

श्रीमहावीरप्रसादजीके मार्फत सुलहका प्रस्ताव आ रहा है, सो ठीक है। यदि विश्वसनीय पुरुषोंके द्वारा आये, धोखेकी संभावना न हो तो अपने तो सदा ही सुलह चाहते हैं। आपके लिखनेके अनुसार न तो अपनी किसीसे दुश्मनी है और न अपनी ओरसे हमला या कोई ज्यादती ही हुई है।

गोरखपुरके दंगेके इस मामलेमें श्रीशुक्लजीका प्रयत्न, पुरुषार्थ, दौड़-धूप, साहस, बुद्धिमानी सभी सराहनीय है। इस सम्बन्धमें आप श्रीजयदयालजी (परम श्रद्धेय श्रीसेठजी)-को कुछ लिख सकते हैं, श्रीमहन्तजी बाबत भी लिखना चाहिये। इनका उचित एप्रेसियेशन होना चाहिये। सबसे सादर यथायोग्य। श्रीजयदयालजी वाला लेख जल्दी ही भेजनेका विचार है।

आपका

हनुमान

* * * *

पत्र–संख्या ९

रतनगढ़ (बीकानेर)

९ जनवरी १९४०

प्रिय श्रीगोस्वामीजी,

सादर सप्रेम यथायोग्य। आपका पत्र मिला। कलक्टरको लिखे हुए दुसरे पत्रकी नकल मिली। एक जगह उसे बढ़ाकर बहुत ठीक कर दिया गया है। हिन्दू–सभाका डेपुटेशन कलक्टरसे मिला होगा। मुसलमानोंमें जैसा जोश होता है, वैसा हिन्दुओंमें नहीं होता । इसका कारण उदासीनता और अकर्मण्यता ही नहीं है, उदारता, न्यायप्रियता और विचारशीलता भी है। मि. दासका पत्र कल आया है। उसका एक अंश इस पत्रके साथ भेज रहा हूँ। साथ ही मैंने जो उत्तर लिखा है उसे भी भेज रहा हूँ । यह पत्र उनके पास सुरक्षित पहुँचा दीजियेगा । मि. दासके पत्रमें मुसलमानोंका पक्षपात नहीं है । मेरी समझसे न्यायप्रियता है जो एक उत्तम गुण है और हिन्दु–संस्कृतिका आदर्श है। अवश्य ही युगधर्मके अनुसार मुसलमान भाई तथा अधिकारी–वर्ग इसका अनुचित लाभ भी उठा सकते हैं या स्वाभाविक ही परिस्थितिवश इससे हिन्दुत्व कुछ शिथिल हो सकता है। तथापि गुण तो गुण ही है। भगवान्‌के सामने तो सद्गुणकी ही विशेष महिमा है। श्रीचारुबाबूका एक पत्र मिला है। उन्होंने भी मेरे हिन्दू–मुसलमानोंके मेल बने रहनेके भावको विशेष पसन्द किया है, यह भी हिन्दू–चित्तवृत्तिकी एक तस्वीर है। मुसलमानोंमें इस प्रकारकी विचारधारा कम है, यह तो मानना ही पड़ता है। इसका कारण उनकी शिक्षा–दीक्षा, धार्मिक संस्कार आदि ही है ।

श्रीबाबा राघवदासजीकी स्कीमोंका क्या हुआ—इसका तो पीछेके पत्रोंसे पता लगेगा। यदि दोनों पक्ष स्वयं मिलकर तय कर लें तब तो अच्छा ही है। मनमुटाव रहना भविष्यके लिये खतरनाक है। यों तो न्याययुक्त प्रयत्न अपनी ओरसे हो ही रहा है।

श्रीगर्देजी महाराज आ गये होंगे। उनसे मेरा सादर प्रणाम कहिये। उनको कोई तकलीफ न हो, इस बातका ख्याल तो आप लोग रखते होंगे। 'साधनांक' का काम अब जोरसे समाप्त हो जाना चाहिये।

आपका

हनुमान

* * * *

पत्र–संख्या १०

प्रिय श्रीगोस्वामीजी,

कल्याण विशेषांककी सूची प्रकाशनार्थ भेज दी गयी। कम्पोज भी हो गयी होगी। पर इधर मेरे मस्तिष्ककी जो स्थिति हो रही है उसे देखते 'कल्याण' के सम्बन्धमें भी गंभीरतासे विचार करना आवश्यक है। प्रायः प्रतिदिन ही चार घंटेसे दस–बारह घंटे तक (किसी दिन कम किसी दिन अधिक) बाह्य चेतना नहीं रहती। उस समय तो केवल प्राणक्रियाके अतिरिक्त अन्य सब कार्य बन्द रहते ही हैं। किसी वस्तु या विचारका अस्तित्व ही नहीं रहता। चेतनाके समय भी बातचीतमें बार–बार (कभी जल्दी–जल्दी—कभी देरसे) अकस्मात् वैसे ही सब कुछ अदृश्य हो जाता है—जैसे सिनेमाका दृश्य चला जाता है। चेतना किसी अंशमें रहती है पर कौन है, क्या है, क्या हो रहा है, कहाँ है—जगत् है या नहीं—कुछ भी नहीं रह जाता। इस अवस्थामें भी काम होना बहुत कठिन हो गया है। जूनके 'कल्याण' के लेख भेजनेमें इसीसे देर हुई। कभी रातको, कभी सबेरे, कभी दुपहरको, कभी चार दिनोंके बाद जब काम करने लायक स्थिति हुई तब काम किया। उसमें भी भूलें हुईं। कुछ लेख देना चाहता था। वे नहीं दिये गये। भूल गया। गोरक्षा आन्दोलन बाबत लिखना आवश्यक था—याद

ही नहीं रहा। इस स्थितिमें या तो 'कल्याण' की कोई व्यवस्था करनी पड़ेगी या उसे बंद कर देना पड़ेगा। ट्रस्टी बेचारे सब व्यापारी हैं।

वे इस विषयमें कुछ सोच नहीं पाते। कहते हैं—'तुम चाहे जैसे व्यवस्था करो।' मेरा मस्तिष्क काम करता नहीं। कभी ऐसा भी हो सकता है कि अकस्मात् काम बंद हो जाय। व्यवस्था हो नहीं और 'कल्याण' बंद करना पड़े। प्रेसकी स्थिति भी कई कारणोंसे ठीक नहीं है। इसलिये मैं तो चाहता था कि श्रीजानकीनाथजी, श्रीदुबेजी, श्रीरामलालजी यदि अभीसे दूसरी व्यवस्था कर लें तो ठीक है। मैंने श्रीजानकीनाथजीको लिखा था। पर वे मेरा अभिप्राय ठीक नहीं समझ पाये। क्या किया जाय।

आपका स्वास्थ्य अच्छा होगा। मेरा स्वास्थ्य तो वैसे ठीक ही है पर थकावट प्रायः मालूम होती है। घूमना-फिरना बंद है। सावित्रीकी माँके वैसा ही चल रहा है। सबसे यथायोग्य सादर कहियेगा। बुढ़िया माँजीसे प्रणाम कहियेगा। सब बच्चे प्रसन्न हैं।

आपका

हनुमान

समर्पित जीवनकी लोकयात्रा

गोस्वामीजी द्वारा पूजित चित्रपट (जीर्णावस्था में)

जय भक्तशिरोमणि चिम्मनलाल

(पद्यबद्ध जीवन–परिचय एवं भावार्थ)

(लेखक — श्रीमुकुन्दजी गोस्वामी)

सन्तोंका स्वरूप एवं जगतीतलमें सन्तोंके अवतरणका हेतु

यह जगत् प्रभुका मन्दिर है । जीवमात्र ही परम प्रेममय प्रभुका प्रीतिपात्र, करुणाभाजन है । प्रभुका विस्मरण ही जीवका सबसे बड़ा दुर्भाग्य है । दुर्दशामें पड़े जीवोंको प्रभु अपने प्रेमका परिचय देनेके लिये ही अत्यन्त करुणापूर्वक अपने ही स्वरूप सन्तजनोंको जगतीतलमें भेजते हैं । ये सन्तजन सामान्य जीवोंके समान जन्म ग्रहणकर अल्पशक्ति मानवोंके सदृश ही जीवनकी परिस्थितियोंसे जूझते हुए प्रभु–प्रेम–प्राप्तिका उदाहरण जगत्‌में प्रस्तुत करते हैं ।

कलिकालके मायाग्रस्त जीवोंके उद्धारकी प्रभुकी विशेष संयोजनाके ही सूत्रधार थे — सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका जिन्होंने श्रीमद्भगवद्गीताके सिद्धान्तोंको ही आचरित एवं प्रचारित करनेके लिए गीताप्रेसकी स्थापना की । इनके कार्यमें प्रमुख सहायक रूपमें भेजे गये थे — प्रेममूर्ति भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार जिन्होंने सन् १९२६ से 'कल्याण' मासिकपत्रका सम्पादन–भार सम्हालकर जीवनपर्यन्त भारतवर्षके हिन्दीभाषी जन–जनमें आध्यात्मिक ज्योति जगा दी । श्रीभाईजीके ही प्रमुख सहायक रूपमें जन्मग्रहण किया हमारे चरित्र–नायक श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीने जिन्होंने गीताप्रेसके द्वारा प्रकाशित अंग्रेजी मासिकपत्र कल्याण–कल्पतरुका सम्पादन–दायित्व पत्रके प्रारंभसे ही सम्हाला तथा जीवनकी अन्तिम साँसतक उसका निर्वाह कर देश–विदेशके अंग्रेजीके जानकार लोगोंमें आध्यात्मिक चेतना, सात्विक आहार–व्यवहार तथा भारतीय संस्कृतिके अनुरूप जीवननिर्माणकी प्रेरणा जागृत की ।

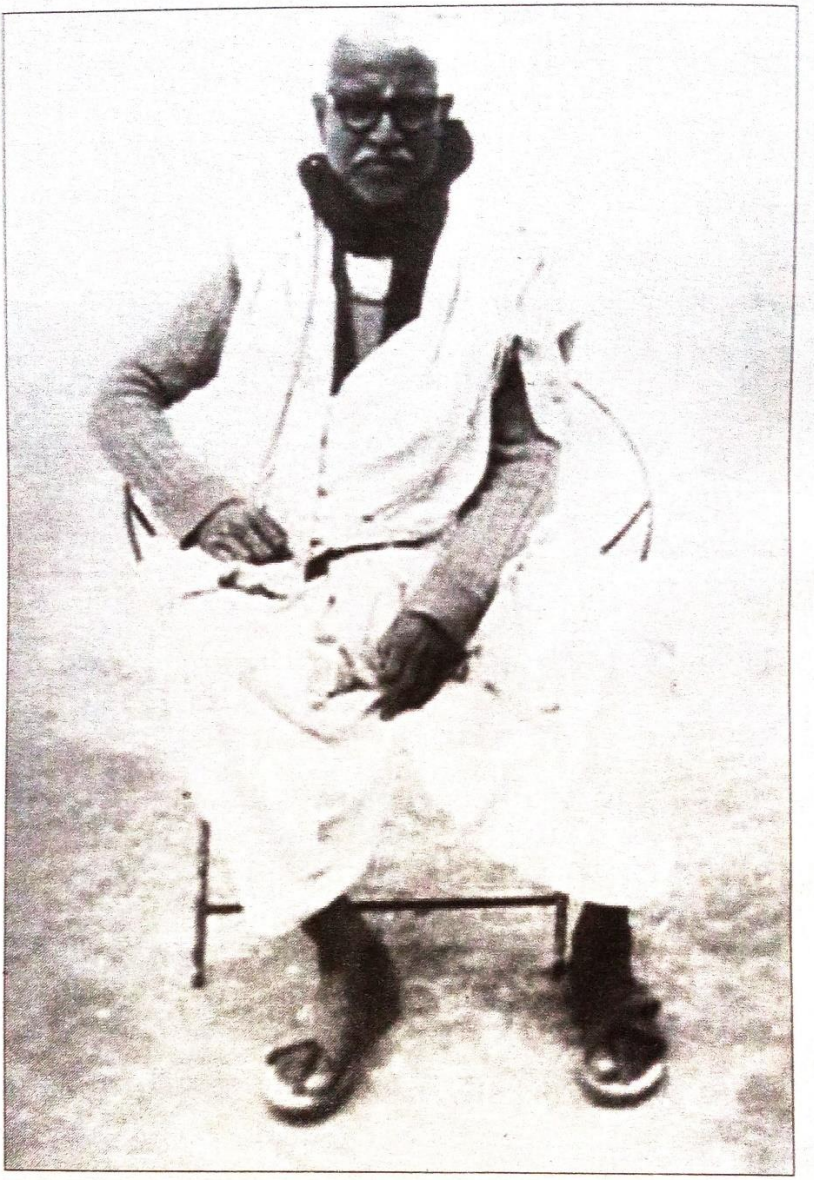

परमभागवत श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी

जिन भाग्यशाली जनोंने श्रीचिम्मनलालजीका साक्षात्कार प्राप्त किया है तथा उनके दर्शन, मृदुव्यवहार, वाणीमाधुर्य एवं मधुर संकीर्तन–रसका पान किया है उनके आनन्दानुभवको तो वही जानते हैं। यहाँ तो हम उन पाठकोंके सम्मुख उनकी स्वरूप–छविका यत्किंचित् आकलन करना चाह रहे हैं जिन्हें उनके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त नहीं हो पाया।

स्वरूप–ध्यान :

नेत्र विशाल, कृपा–करुणामय, चन्दनचर्चित, उन्नत भाल।
सरस, गभीर सहास, सदय मुख श्मश्रु–सुशोभित अधर रसाल॥
सुभग दन्त दाड़िम–अवली–से, वदन–दीप्ति ज्यों रविकर–जाल।
दीर्घ देह, आजानुबाहु, अति सुभग मत्तगजकी–सी चाल॥१॥
मधुर वचन, आशीष–निरतकर, पद–लुण्ठित शत–शत नत भाल।
ज्ञान–उदधि गम्भीर अपरिमित, विनय–अकिञ्चनता दृढ़ पाल॥
भक्त–चरण–रज कहते निजको वे हरि–कण्ठ–विराजित माल।
चन्द्रकला–ब्रजलाल–तनय जय भक्त–शिरोमणि चिम्मनलाल॥२॥

अहा ! उनके विशाल नेत्र थे जिनसे कृपा एवं करुणाकी अजस्र धारा बहती थी। उन्नत ललाटपर वे प्रभुकी अर्चनाके उपरान्त प्रसादी चन्दनका एक गोल बिन्दु लगाये रहते थे। छोटे–छोटे केश तथा विशाल लम्बी शिखा थी। उनका मुखारविन्द सरस, गभीर, हास्य–समन्वित तथा करुणा–भावोंसे परिपूर्ण रहता था। उनके रसालके समान लाल–लाल ओठोंपर मूछोंके केश अपूर्व शोभा–विस्तार करते थे। आयु–वार्धक्य

होनेपर भी पूरी दन्तपंक्ति दाड़िमबीजोंके समान झलकती थी। लम्बी देह–यष्टि थी, बाहु घुटनोंतक झूलते थे तथा झूमते हुए मत्त गजराज की–सी उनकी मस्त चाल थी। वे सदा वाणी द्वारा मधुर वचनोंको ही प्रयोग करते थे। उनके दर्शन प्राप्त होते ही अनेकानेक श्रद्धालुजन उनके चरणोंका स्पर्श प्राप्त करनेके लिए भूमिपर झुक जाते थे तथा वे अपने हाथ जोड़कर भगवानसे उनकी मंगल–कामना करते हुए आगे बढ़ जाते थे। ज्ञानका गहरा समुद्र–सा उनके अन्तरमें लहराता रहता था तथापि विनयशीलता एवं अकिंचनताके दोनों किनारे उस समुद्रको आवेष्टित किये थे। वे 'भक्तोंकी चरणधूलि' कहकर ही अपना परिचय देते थे परन्तु वस्तुतः वे प्रभुके उन परमप्रिय भक्तोंमें थे जिन्हें श्रीहरि सुमन–मालाके समान अपने हृदय–देशपर ही धारण किये रहते हैं।

भगवद्भक्त जन्म लेते तब पितृलोकगत पूर्वज लोग।
हर्षोन्मत्त नाचने लगते हैं आशान्वित, गत–दुख–शोक॥
अहा! हुआ कुल धन्य हमारा जनमी जो वैष्णव संतान।
अब अवश्य तारेगा हमको यह हरिपदरत संत सुजान॥३॥

आस्फोटयन्ति पितरो नृत्यन्ति च पितामहाः।
मद्वंशे वैष्णवो जातः स नस्त्राता भविष्यति॥

(पद्मपुराण)

जिस महाभाग्यवान् कुलमें भगवद्भक्त वैष्णव जन्म–ग्रहण करते हैं पितृलोकमें उसके पूर्वज पितृगण बड़ा आनन्दोत्सव मनाते हैं। वे आनन्दमें परिपूर्ण हुए इस आशासे नाचने लगते हैं कि अहा! आज हमारा कुल धन्य हो गया। हमारे कुलमें एक वैष्णव

आत्माने जन्म ग्रहण किया है। अब हमारे सारे दुःख–शोक समाप्त हो जायेंगे। यह वैष्णव संतान श्रीकृष्णचरणानुगत होकर अवश्यमेव हमारा उद्धार कर देगी।

जन्मस्थान एवं कुल–परिचय :

विप्र आन्ध्रदेशीय भट्टजन सकुल बसे सारस्वत देश।

(बीकानेर)

प्रकटे चिम्मनलाल इसी कुल पालन कर प्रभुका आदेश॥

कृष्णाषाढ नवम तिथि, संवत् सत्तावन गत शत उन्नीस।

तृषित मरुधरा मुदित हुई ज्यों उमगी जलद घटा लख शीश॥४॥

चन्द्रकला–ब्रजलाल पिता–माँ सविधि पूजते शालग्राम।

भगिनी चार, कनिष्ठा शुभमति चलतीं अग्रज–वचन–प्रमाण॥

अर्धांगिनि 'सरयू' सीता–सी अनुगामिनी सती–शिरमौर।

सरल वंशजन आस–त्रासमें तकते एक इन्हींकी ओर॥५॥

आन्ध्रप्रदेशके तेलंगाना जनपदके निवासी होनेसे आचारनिष्ठ विद्याव्यसनी भट्ट ब्राह्मणोंकी शाखा तैलंग कही जाती थी। इनमेंसे कुछ लोग मरुदेशीय बीकानेर नगरमें राजानुरोधसे आ बसे थे। श्रीचिम्मनलालजीने गौतम गोत्रके कुलमें ही बीकानेर (राजस्थान) में वि. सं. १९५७ तदनुसार ई. सन् १९०० में आषाढ कृष्ण नवमी के पुण्यकालमें जन्मग्रहण किया इनके जन्मसे जाति–कुल–परिवारजनोंमें हर्षकी ऐसी लहर उमड़ उठी थी जैसी मरुधराके वासियोंको कभी कदाचित् आकाशमें उमड़ती हुई कृष्ण मेघराशिको चढ़ आते देखकर उठा करती है।

पिता श्रीव्रजलालजी संस्कृत–व्याकरणके पण्डित, कर्मकाण्डके आचार्य तथा संगीतशास्त्रमें निपुण, स्वाभिमानी, आचारनिष्ठ, अयाची एवं प्रतिष्ठित पुरुष थे। पेशेसे हिन्दी–संस्कृतके अध्यापक थे। माता श्रीमती चन्द्रकला वैष्णवकुलकी निष्ठा एवं प्रभु–भक्तिको ही अपना परम धन समझने वाली थी। पिताकी पाँच संतानोंमें श्रीगोस्वामीजी सबसे बड़े थे। उनकी कनिष्ठा चारों बहिनें — सुलोचना, मंगला, तारा एवं विमला सरलमति, शुभचरित्रशीला एवं निष्कपट स्वभावकी थीं। वे अपने भाईजी श्रीगोस्वामीजीको ही अपना आदर्श अग्रज एवं जीवनका कर्णधार मानती थीं। उनकी अर्धांगिनी सरयूदेवी भगवती सीताके समान पतिव्रतधारिणी एवं बाल्यावस्थासे ही पतिकी अनुगामिनी रहकर पतिकी रुचिसे ही अपने जीवनका प्रत्येक क्षण बिताने वाली आदर्श भारतीय ललना थी। शेष कुटुम्बीजन भी सरलमति साधारणजन थे जो कठोर परिस्थिति सामने आनेपर श्रीगोस्वामीजीसे ही मार्गदर्शन, सहायता एवं परित्राणकी आशा बाँधे रहते थे।

बाल्यकाल में अध्ययन एवं कष्ट–सहिष्णुता :

रहते प्रथम परीक्षाओंमें, पा यह शिष्य हुए गुरु धन्य।
सन्ध्या–नियम उपनयन–तिथिसे जीवनभर न हुआ विच्छिन्न॥
भगिनी हुईं बाल–विधवा दो, पिता रहे अति अर्थ–विपन्न।
किन्तु न हुए तनिक विचलित, थे विद्याध्ययन–साधनामग्न॥६॥

बाल्यकालसे ही श्रीगोस्वामीजी मेधावी, कुशाग्रबुद्धि, अध्यवसायी एवं नियमानुवर्ती आदर्श छात्र रहे थे। वे प्रत्येक परीक्षामें सभी विषयोंमें सर्वाधिक अंक प्राप्त करके उत्तीर्ण हुआ करते थे। प्रायः प्रत्येक परीक्षामें उन्हें विषयोंमें विशेष योग्यतासे उत्तीर्ण होनेपर पारितोषिक रूपमें पुस्तकें प्राप्त होतीं जिनमें इस बातका उल्लेख होता।

ऐसी अनेक पुस्तकें अभी भी षोड़शगीत–मन्दिर–पुस्तकालय, बीकानेर (राजस्थान) में संग्रहीत एवं सुरक्षित हैं।

बाल्यकालमें ही श्रीगोस्वामीजीका विधि–विधान सहित उपनयन–संस्कार सम्पन्न हुआ था। जीवनमें कितने ही उतार–चढ़ाव आये, अध्ययन, अध्यापन तथा नौकरीके लिए इन्हें प्रवासमें रहना पड़ा, परन्तु बाल्यकालसे प्रारंभ हुए संध्या एवं बलिवैश्वदेव हवन–पूजनके नियमको इन्होंने अविच्छिन्न–रूपसे जीवन–पर्यन्त निभाया। संत–सान्निध्यमें रहनेके समय कभी अति आवश्यक हुआ तो समय भले ही आगे–पीछे हो गया हो, परन्तु कर्मका लोप कभी नहीं हुआ।

बाल्यकालसे ही इनपर विपत्तियोंके संवर्षणमेघ अजस्र धाराएँ बरसाते ही रहे। बहिन सुलोचना एवं मंगलाको बाल्यकालमें ही वैधव्यकष्ट भोगना पड़ा। वे जीवन पर्यन्त इनकी ही देखरेखमें, इन्हींके पास रहीं। पिता स्वल्प वेतन–भोगी, वृद्ध थे एवं सदैव अर्थविपन्नतासे जूझते रहे। श्रीगोस्वामीजीने निर्विकार रूपसे इन परिस्थितियोंको सहन करते हुए अपनी शिक्षा–दीक्षामें कोई क्षति नहीं होने दी। काशी हिन्दू विश्वविद्यालयसे उच्चश्रेणीमें एम.ए. (M.A.) की उपाधि प्राप्त करके इन्होंने जयपुरसे संस्कृत भाषाकी शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण की। काशीमें महामहोपाध्याय पं. श्रीगोपीनाथजी कविराज तथा प्रो. श्रीजीवनशंकरजी याज्ञिकके ये परम स्नेहभाजन शिष्य रहे। इन दोनों महानुभावोंका स्नेह तथा सहयोग इन्हें जीवनभर प्राप्त होता रहा।

बीकानेर–राज्यकी शासन–सेवामें उच्चपदकी प्राप्ति :

काशीसे एम.ए., जयपुरसे शास्त्री पद ले सालंकार।
लौटे घर, सज्जित–गज भेजा देश–नृपतिने कर सत्कार॥
मिला राज्य–सेवा–समुच्च पद, मिला सुयश–धन–सुख–संभार।

गायनकला पितासे सीखे कर्मकाण्ड, वैष्णव–आचार ॥७॥

अध्ययन–काल सम्पन्न करते ही महामना पं. श्रीमदनमोहनजी मालवीयके सचिव पदका कार्यभार इन्होंने कुछ समयके लिये वहन किया। फिर पिताके आग्रह करनेसे इन्हें स्वदेश चला आना पड़ा। जनश्रुति है कि इनके बीकानेर आनेपर बीकानेर–नरेश महाराजा श्रीगंगासिंहजीकी ओरसे इन्हें ससम्मान स्वागतपूर्वक ले आनेके लिये सजा हुआ हाथी स्टेशन भिजवाया गया था। बीकानेर राज्यके एम.ए. उत्तीर्ण करने वाले प्रथम विद्यार्थीके रूपमें इनकी गणना थी। बीकानेर राज्यमें उस समय भारतवर्षके सर्वाधिक कुशल आई.सी.एस श्रेणीके शासनाधिकारी सर मन्नूभाई मेहता प्रधानमंत्रीके रूपमें कार्यरत थे। यही श्रीमन्नूभाई ब्रिटिश सरकारके प्रतिनिधि होकर प्रथम विश्व युद्धकी समाप्तिपर जर्मनीमें गोलमेज कान्फ्रेन्स (round-table conference) में सम्मिलित हुए थे। श्रीचिम्मनलालजीकी इन्हीं श्रीमन्नूभाईके सचिवके रूपमें उच्च राज्य–सेवा–पदमें नियुक्ति हुई। इसके पहले कुछ कालतक ये वाल्टर नोबल स्कूल जो राजवंशके अभिजात छात्रोंके लिये विशेषतया निर्मित पब्लिक स्कूल रहा, उसके प्रिंसिपल पदपर कार्यरत रहे।

जीवनके इस खण्डकालमें इन्हें बीकानेर राज्यमें प्रचुर सम्मान, शासनाधिकार, अर्थसंकुलता भी प्राप्त हुई। परन्तु यह भी रहा अत्यल्प कालके लिए ही।

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारसे प्रथम भेट :

श्रीहनुमानप्रसाद संतवर करने भगवन्नाम–प्रचार।
आये बीकानेर, सम्मिलन हुआ, हृदयमें जगा विचार—
मुझे इन्हींकी संन्निधिमें अब करना है जीवन–यापन।
कर्म–वचन–मन, धन–परिजन सब करने हैं भगवद्–अर्पण ॥८॥

यह संकल्प मूर्त्त होने में बाधक बना स्वजन–संसार।
राम–कृष्ण–चैतन्य–बुद्ध को रोक सका क्या घर–परिवार?
प्रभुके निजी विशिष्ट कार्य से जो जगतीतल में आये,
वे नश्वर–पद सुख–सुविधा में कैसे रहते भरमाये?॥९॥

तत्कालीन बीकानेर राज्यके चूरू नगरमें श्रद्धेय सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका का जन्म हुआ। भगवान् श्रीकृष्णकी वाणी—श्रीमद्भगवद्गीताके सिद्धान्तोंको आचरित एवं प्रचारित करनेका ही उन्होंने जीवनव्यापी संकल्प किया। उनके द्वारा गीताप्रेसकी स्थापना तथा उसके माध्यमसे करोड़ोंकी संख्या में श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीरामचरितमानस, अनेकानेक पुराण–ग्रन्थों तथा अन्य आध्यात्मिक पुस्तकोंका प्रकाशन हुआ तथा भारतवासी जनोंमें प्राचीन हिन्दू–संस्कृतिकी नवचेतना जगानेका महान कार्य सम्पादित हुआ। उन्हींके कार्यमें प्रमुख सहयोग देनेके लिये प्रभुके आदेशसे उत्पन्न हुए प्रेममूर्ति भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार जिन्होंने 'कल्याण' मासिकपत्रका हिन्दी भाषामें शुभारंभ करके भारतवर्षमें आध्यात्मिक चेतनाकी लहर जगा दी। श्रीगोस्वामीजीसे पू. श्रीभाईजीका प्रथम सम्मिलन बीकानेर–निवासी सेठ श्रीगम्भीरचन्दजी दुजारीके सत्प्रयत्नोंसे हुआ । श्रीदुजारीजी श्रीभाईजीके परम अनुरागी थे तथा वे श्रीगोस्वामीजीको लगातार प्रेरित करते रहते थे कि वे श्रीभाईजीसे अवश्य सम्पर्कित हों।

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार भगवन्नाम–प्रचारके पावन उद्देश्यसे प्रचार–मण्डलीके सहित सन् १९२८ में बीकानेर नगर पहुँचे थे। उनके बीकानेर प्रवास, नगर–संकीर्त्तन, परिक्रमा तथा प्रवचनको संयोजित किया था—श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीने। पू. श्रीभाईजीके भक्तोचित व्यक्तित्व–व्यवहार, उनकी गहरी भगवत्प्रेमकी

मस्ती तथा भगवत्कार्यमें उनके समर्पणभावकी झाँकी पाकर गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजीमें भी यह लालसा जन्म लेने लगी कि मैं भी श्रीभाईजीका नित्य सांनिध्य प्राप्त करके अपना जीवन भगवत्कार्यमें ही समर्पित कर दूँ। श्रीभाईजी सरीखे संतके साथ जीवन–यापन करना कोई सस्ता सौदा नहीं था। पर श्रीचिम्मनलालजी भी इसके मूल्यमें अपना तन–मन–धन–जीवन–यौवन, घर–परिवार मान–मर्यादा— सर्वस्वतक सौंपनेको तत्पर एवं आतुर थे।

जो सिर साँटे हरि मिलें तो हरि लीजे दौर।

क्या जाने या बीच में ग्राहक आवें और॥

यहाँ तो हरि ही नहीं, हरिके भी हृदयधन, प्रेमीशिरोमणि पूज्य श्रीभाईजी–जैसे महासिद्ध संतका सांन्निध्य प्राप्त करनेकी बोली लगी थी। पूज्य श्रीभाईजी कोई साधारण भक्त नहीं थे, वे उस असाधारण कोटिके प्रेमीभक्त थे जिनके लिये भगवान् स्वयं श्रीमद्भागवतमें अपने श्रीमुखसे कहते हैं —

अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यंघ्रिरेणुभिः

'मेरे इस प्रकारके प्रियतम भक्तोंके तो पीछे–पीछे मैं स्वयं इस लोभसे डोलता फिरता हूँ कि इनके चरणोंकी धूलि मुझपर पड़ती रहे और इस भाँति मैं अपनेको पवित्र बनाता रहूँ।'

सुख–सुविधापूर्ण, शासनाधिकारयुक्त, स्थायी राज्य–सेवा त्यागकर घर–परिवार, जन्मभूमि, स्वजनोंके बीचसे दूर अनजाने देशमें त्यागपूर्ण उद्देश्यसे बस जानेके प्रस्तावको सुनते ही माता–पिता, स्वजन–परिवार स्नेही–इष्ट–जन सभीने श्रीचिम्मनलालजीको इस विचारको त्याग देनेको समझाया परन्तु श्रीगोस्वामीने जिस

विशेष कार्यके लिये ही जन्मग्रहण किया था उसकी उपेक्षा करके वे कैसे भरमाये रह सकते थे ?

अकेली उनकी धर्मपत्नी सती–शिरोमणि सरयूदेवी ही ऐसी थी जिसने एकबार भी हठ करके पतिको अपने पावन उद्देश्यकी पूर्तिके लिये प्रवृत्त होनेमें बाधा नहीं की। वह सहर्ष उनकी सहगामिनी होकर उनके साथ चलनेको प्रस्तुत हो गई।

श्रीपोद्दारजीने पारीक्षणिक तौर पर एकबार ग्रीष्म कालमें श्रीगोस्वामीजी को करीब १ माह अपने साथ गोरखपुर रहनेकी अनुमति दी। राज्यसेवासे विमुक्तिके समय अधिकारी एवं सहयोगीवर्गने भी कई बार ननु–नच किया। अन्तमें इनके दृढ़ निश्चयकी ही विजय हुई।

अन्ततः १९३३ ई. में ये राज्यसेवासे त्यागपत्र देकर योगिराज गोरखनाथकी तपस्थली — गोरखपुरमें पत्नीसहित आ बसे।

गोरखपुरकी तितिक्षापूर्ण रहनी :

त्याग राज्य–सेवा–वैभव–सुख, जन्मभूमि, परिजन–परिवार।

तपस्थली गोरखपुरको निज कर्मस्थली किया स्वीकार॥

फीलपाँव, घैंघा, कालाज्वर, मलेरियाका जहाँ प्रकोप।

विद्युत् नहीं, दंश–मच्छर, दुख, कच्चा घर, अति वर्षाकोप॥१०॥

ज्यों दण्डक में राम, नहीं लक्ष्मण भी, केवल सीता साथ।

ग्रीष्म–शीत–वर्षा दुख सहते, गाते निशदिन हरिगुणगाथ॥

संत–समागम, हरिकीर्तनरस, नित हरिकथा–श्रवण, सत्संग।

नित स्वाध्याय, शास्त्र–अनुशीलन, प्रेममत्त रसमय सब अंग ॥११॥

गोरखपुर जनपद उत्तरप्रदेशके पूर्वांचलका उस समय अत्यन्त पिछड़ा हुआ जंगली स्थान था जहाँ फीलपाँव (हस्तिपद), घैंघा, कालाज्वर तथा मलेरियाका प्रकोप चलता ही रहता था।

सरकारी कर्मचारीगण गोरखपुरमें स्थानान्तरणको कालापानीकी सजा बताया करते थे। कच्ची सड़कें, कच्चे घर थे। मच्छरोंकी फौज कपड़ोंके अन्दरसे भी डंक डालकर खून चूस लेती थी। विद्युत नहीं थी, किरोसन से लालटेन जलाकर मछहरीमें बैठकर पसीनेसे तर–बतर शरीर हुए हाथके पंखेसे हवा झलते हुए श्रीगोस्वामीजीको देर राततक बैठकर काम करते रहना पड़ता था। वर्षा इतनी अधिक होती थी कि रास्ते पानीके गड्ढोंसे भर जाते, काई जम जानेसे जगह–जगह फिसलन होती। इस भाँति ग्रीष्म, शीत और वर्षाके दुःखोंको सहते हुए वे निर्विकार, प्रसन्न बने रहते। उनकी दशा दण्डकवनमें आये अयोध्यापति रामके समान थी, पर उधर तो सेवामग्न अनुज भैया लक्ष्मण साथ थे, यहाँ तो अकेली सरयूदेवीको ही साथ लिये श्रीगोस्वामीजी यह कष्ट तितिक्षापूर्ण जीवन बिता रहे थे।

हाँ ! एक सुख अवश्य था और वही उनका अभीष्ट था, उन्हें सर्वोपरि वाञ्छित था। वह था — अहर्निश हरि–गुण–गान, नित्य नवीन संतोंका पधारना, उनके दर्शन एवं सत्संग, नित्य भगवन्नाम–संकीर्तन, भगवद् कथाओंके आयोजन, शास्त्रानुशीलन एवं स्वाध्याय, जिसके फलस्वरूप उनके समस्त अंग प्रेममें उन्मत्त रहते थे।

आदर्श दिनचर्या :

सन्ध्याकर्म, इष्टदेवार्चन, गीता–वेद–भागवत–पान।

एकादशी–व्रतोपवास, नित वैश्वदेवबलि, जप–हरिनाम॥

तर्पण, मौन, शील–व्रत–पालन, गुरुजन–सेवा, कीर्तन, ध्यान।

साश्रुनयन हरि–पदगायन–रत, रहते थे ये संत महान्॥१२॥

गोरखपुर निवास–कालमें श्रीगोस्वामीजीकी प्रतिदिनकी जीवनचर्यामें सम्मलित थे — नित्य–संध्योपासना, वैष्णव रीतिसे अपने इष्टदेवकी पूजा–आराधना, श्रीमद्भगवद्गीता, उपनिषद् एवं श्रीमद्भागवतका नित्य पारायण, एकादशी आदि वैष्णव व्रतोंमें उपवास, नित्य वैश्वदेवबलि, भगवन्नामजप, तर्पण, श्राद्ध, मौनव्रत, शीलव्रतका स्वाभाविक पालन, सत्संग, संकीर्तन एवं हरिपद–गायनमें अश्रुभरे नेत्रोंसे भाव–गद्गद् होकर किसी निराले लोकमें उनका भाव–विचरण। ये उनकी दिनचर्याके प्रमुख अंग थे।

श्रीगोस्वामीजीमें दैवी सम्पदाका विकास :

कोमल हृदय, क्षमासंयुत मन, सत्य–वचन, हिंसाका त्याग।

अति औदार्य, सरलमति निश्छल, सतत प्रसन्न, विमल अनुराग॥

वाणी मधुर, मधुरदर्शनछवि, मधु–सामीप्य, चरित मधुखान।

कोमल प्रकृति — आभरण दससे सजे रहे ये संत महान्॥१३॥

अत्रि–स्मृतिमें भगवान्के परम–प्रिय वैष्णव–संत जनोंमें नीचे लिखे दैवी सम्पदाके दस गुणोंका बखान किया गया है।

आनृशंस्यं क्षमा सत्यमहिंसा दानमार्जवम्।

प्रीतिः प्रसादो माधुर्यमार्दवं च यमाः दश॥

(अत्रि–स्मृति ४८)

श्रीगोस्वामीजीमें इन सभी गुणोंका पूर्ण विकास था।

१.) उनका हृदय कोमलताके भावोंसे परिपूर्ण रहता था।

२.) वे अत्यन्त क्षमाशील थे।

३.) सत्य उनके वाणीका शृंगार था।

४.) वे सभी प्रकारकी हिंसाओंका कर्म, वचन और मनसे त्याग कर चुके थे।

५.) वे अतिशय उदार थे।

६.) निश्छलता और सरलता उनमें कूट-कूट करके भरी थी।

७.) वे विषम-से-विषम परस्थितिमें प्रसन्न बने रहते थे।

८.) जीवमात्रसे उनका हेतुरहित निर्मल अनुराग था।

९.) मधुरता उनके जीवनका अंग बन गयी थी। वाणीसे मानो मधु टपकता था। उनकी मुखाकृति माधुर्यपूर्ण थी। जिसे देखते हुए आँख हटना नहीं चाहती थी। उनका सामीप्य अत्यन्त मधुर था और उनके लीला-चरित्र तो मधुरताकी खान ही थे।

१०.) उनका स्वभाव अत्यन्त ही कोमल था।

इस भाँति अत्रि-स्मृतिमें वर्णित दैवी सम्पदाके दसों दिव्य गुणोंका उनमें पूर्ण विकास हो गया था।

हृदयकी अन्तरतम अभिलाषा :

ध्यान मोरमुकुटी मुकुन्दका, श्याम-नाम-संकीर्तन गान।

चारु चरण अर्चन नटवरका, युगल मंत्रका जप सविधान॥

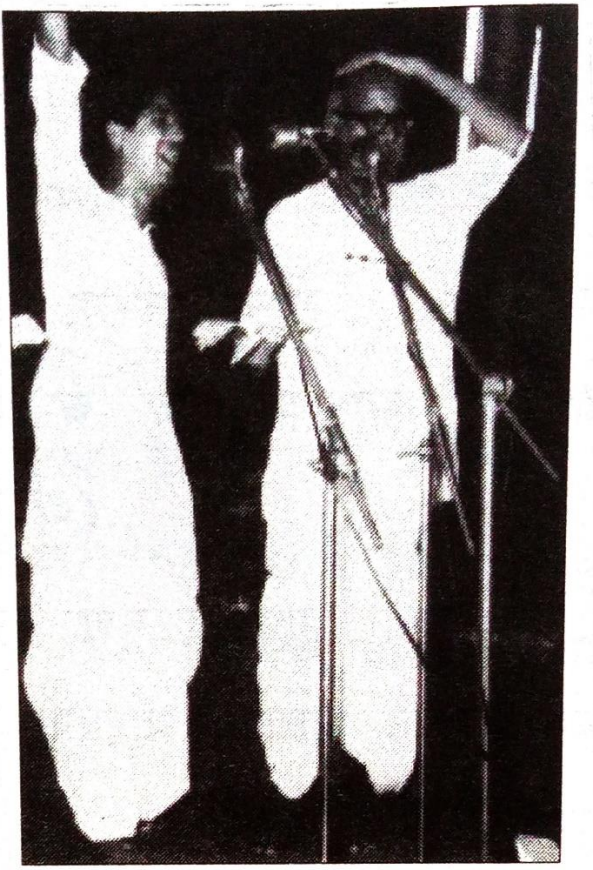

आनन्द-मद-माते गीत गावत

चाह एक किंकरी बनूँ मैं करूँ प्रिया-पद-संवाहन।

कब होगा मम ऊसर उरमें प्रेम-शस्य का बीज-वपन ?॥१४॥

वे नन्दनन्दन श्रीकृष्णकी मुरली धारण किये हुए, त्रिभंगलिलत प्रिया श्रीराधाके सहित छविका सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते, हँसते बोलते, चलते-फिरते, काम करते — सभी समय ध्यान किया करते थे। श्रीकृष्ण-नामोंकी संकीर्तन-ध्वनि करते हुए वे मत्त हो जाया करते थे। अपने इष्टदेव नन्दनन्दनका ही पूजन-अर्चन तथा नियमपूर्वक युगल-मन्त्रका जप उनकी साधनाका अंग था। उनके हृदयकी निगूढ़तम चाह यही थी कि मैं प्रिया श्रीराधाकी किंकरी बनकर कभी उनके चरण पलोटनेकी सेवा प्राप्त करूँ। आकुल हृदयसे आँखोंसे अश्रु छलकाते वे अभिलाषा करते — 'हाय ! मेरे ऊसर हृदयमें प्रेमका बीज कब बोया जायगा।'

अंग्रेजी भाषामें धार्मिक मासिकपत्र 'कल्याण-कल्पतरु' का प्रकाशन-प्रारंभ :

अंग्रेजी पढ़ भारतीयजन नास्तिक हो, तज कुल-आचार।

क्लब-सिगरेट-मद्य-सेवन से खोल रहे थे यमके द्वार॥

उन्हें जगाने, भ्रान्त विश्वका पंथ-प्रदर्शक-दीपस्तम्भ।

अंग्रेजी कल्याण-कल्पतरु मासिकपत्र किया प्रारंभ॥१५॥

कल्याण मासिक पत्रका प्रकाशन हिन्दी भाषामें होनेके कारण हिन्दी भाषासे अनभिज्ञ भारतके कई प्रान्तोंके लोग जैसे बंगाल, उड़ीसा, दक्षिण प्रदेश तथा विदेशोंमें बसे लोग आध्यात्मिक लाभसे वंचित न हों इसी पावन अभिसन्धिसे गीताप्रेससे

कल्याण–कल्पतरु नामसे अंग्रेजी आध्यात्मिक मासिकपत्रका शुभारंभ सन् १९३४ ई. से किया गया जिसका सम्पादन–दायित्व चिम्मनलालजी गोस्वामीने सम्हाला।

अंग्रेजोंके शासनकालमें विदेशी भाषामें शिक्षा ग्रहण करने वाले भारतीयजनोंने पाश्चात्य संस्कृतिका अधानुकरण करके अपनी भारतीय परम्पराओंका त्याग कर दिया था। विदेशी भाषामें ही बोलचाल, पत्रव्यवहार, नास्तिक विचारोंको ग्रहण करके प्राचीन भारतीय परंपराओंका उपहासपूर्ण खण्डन तथा क्लबोंमें अभक्ष्य आहार ग्रहण करके, अण्डे, माँस, मत्स्य (मछली) तथा मद्य (शराब) का सेवन करके, परस्त्रीसेवन आदि महापापोंका आचरण करके वे अपने लिये नरक पहुँचनेका मार्ग तैयार करने लगे थे। ऋषि–मुनियोंकी सन्तान भारतीयजनोंकी ऐसी दुर्दशा देखकर उन्हें सन्मार्गमें लानेके विशेष उद्देश्यसे ही तथा भ्रान्त विश्वमानवोंमें ऋषि–मुनियों द्वारा निर्देशित भागवती सिद्धान्तोंका प्रचार करनेके उद्देश्यकी पूर्त्तिके लिये कल्याण–कल्पतरुने बीड़ा उठाया। कल्याण–कल्पतरुका सम्पादन श्रीगोस्वामीजी जीवनकी अन्तिम घड़ीतक भगवत्–सेवा मानकर करते रहे।

पिताके दिवंगामी होनेके उपरान्त जन्मस्थलीके त्यागका अखण्डव्रत :

भाद्र शुक्ल ऋषिपंचम तिथि थी, दो हजार दो विक्रम वर्ष।
पिता गये हरिधाम, पुत्र ने अन्तिम सेवा की आदर्श॥
सजलनयन निज जन्म–धराको, बान्धवजनको किया प्रणाम।
पैतृकभूमि–त्यागका असिव्रत पालन किया कठिन अविराम॥१६॥

पिता श्रीब्रजलालजी दुर्घटनावश आहत हुए एवं उनके कूल्हेकी हड्डी टूट गई। सूचित होनेपर सत्पुत्र अपने जन्मदाताकी सेवा करने बीकानेर आ पहुँचे। भगवान्की इच्छा पिताजीको अपने पास बुला लेनेकी रही। भाद्रपद शुक्ल पंचमी—ऋषि पंचमीके

पावन पर्वमें पिताने अन्तिम साँस पुत्रके सेवारत रहते ग्रहण की । पिताजीके और्ध्वदैहिक कर्म सम्पन्न करके श्रीचिम्मनलालजीने मन–ही–मन निश्चय किया कि पिताकी सेवाका दायित्व सम्पन्न हो जानेके बाद अब मुझे जन्मभूमि, अपने पैतृक घर तथा देहके सम्बन्धीजनोंका मोहजाल काटकर पूर्णतया अपने पावन उद्देश्यकी पूर्त्तिमें ही प्रतिक्षण व्यतीत करना चाहिये। उन्होंने शेष जीवनभर जन्मभूमिकी सीमामें प्रवेश न करनेका कठोर व्रत ग्रहण कर लिया तथा इस नियमका पालन अक्षुण्णरीतिसे किया ।

परिवारजनोंपर कष्टोंकी झड़ी :

पंगु हुई माँ, फिर दो बहनें सतत रुग्ण, था जीवन भार।
रहे स्वयं सेवारत संतत, मान अनित्य, असुख संसार॥
ना कोई कुल में सहयोगी, ना अपनी कोई सन्तान।
धर्म–समर यह शूर–शिरोमणि लड़ा अकेला ही अम्लान॥१७॥

परिवारमें वंशगत रोग था कि आयुके बढ़नेके साथ–साथ ही स्त्रियोंके पैरोंमें पंगुता प्रकट होकर क्रमशः बढती जाती। पहले माता सर्वथा पंगु हो गई, फिर क्रमशः दोनों विधवा आश्रित बहनें भी पंगु होती गई। कोई–न–कोई परिवारजन रुग्ण ही रहता। जीवनमें सांसारिक सुख दर्शनको भी नहीं मिलता था। पत्नी गृहकार्यमें उलझी रहती, स्वयं जितना भी अवकाश पाते रुग्ण माता–बहनोंके उपचार एवं सेवा–सान्त्वनामें व्यतीत करते। कुलमें कोई ऐसा न था जो अटक–भीड़में किञ्चिन्मात्र सहयोग कर देता । अपनी कोई सन्तान भी न थी जिसे छोटी–मोटी सेवाके लिए ही दौड़ा देते। शूर–शिरोमणि श्रीचिम्मनलालजीने स्वयं ही कण्टकाकीर्ण मार्ग अपने लिये वरण किया था

अतः बिना किसी प्रकारकी ऊहापोहके वे निर्विकार भावसे सभी विषम परिस्थितियोंमें अडिग रहकर जूझते रहे।

चलाचलीका मेला :

पत्नी–प्रथम बाल्य जीवन में, गई जन्मते ही सन्तान।

दो बहनोई युवा चल दिये, गये पिताजी भी हरिधाम॥

माता गई, बहन–बहनोई क्रमशः सभी गये परलोक।

सबको प्रभुसे मिला, बचे खुद पत्नीसहित तटस्थ, विशोक॥१८॥

श्रीगोस्वामीजीका प्रथम विवाह बाल्यकालमें हुआ था तथा प्रथम परिणीता पत्नी बाल्यकालमें ही दिवंगत हो गयी थी। दूसरी पत्नी सतीशिरोमणि सरयूदेवीसे हुई कन्या संतान जन्मते ही गुजर गयी। युवा अवस्थामें ही दोनों कनिष्ठा बहनें–सुलोचना एवं मंगला विधवा हो गयी। पिताजी भी छोड़कर चल दिये। पूज्यनीया माता सत्पुत्रकी सेवा ग्रहण करते हुए भगवद्धामको गयीं। छोटी बहन बिमला तथा छोटे दोनों बहनोई भी अपनेसे पहले बिदा हुए। इस भाँति सम्पूर्ण आश्रित परिवारको भगवान्‌के धाममें भिजवाकर अकेले बचे — श्रीगोस्वामीजी और उनकी अर्धांगिनी श्रीमती सरयू देवी। इतने आत्मीय परिवारजनोंके विदा–संवाद मिलनेपर भी गोस्वामीजी कभी भी विचलित नहीं हुए एवं निर्विकार भावसे वे असार एवं अनित्य संसारकी इस अवश्यंभावी गतिके तटस्थ एवं मूक साक्षी बने रहे।

अपूर्व तितिक्षा :

न तो दीनता, नहीं पलायन, दृढ़प्रतिज्ञ अर्जुनकी भाँति।

पाई भी न कभी ली, थैली लिये खड़ी धनिकोंकी पाँति॥

वेतन–वृद्धि, फण्ड–बोनसके नियम अनसुने रहे समस्त।

जीवनवहन अल्पवेतन से करते रहे गृही–संन्यस्त॥१९॥

अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्

वीरवर अर्जुनकी भाँति श्रीगोस्वामीजीने अत्यन्त विषम परस्थितियोंमें जूझते हुए न तो कभी दैन्यभावका आवेश अपने द्वारा प्रदर्शित किया और न ही कभी एक क्षणके लिये भी अपने निर्धारित पथसे पलायन करनेका विचार उनके मनमें जगा।

अनेक धनिक भक्त एवं श्रद्धालुजन उनको किसी वस्तु अथवा द्रव्यकी भेंट देकर अपनेको कृतार्थ अनुभव कर सकते थे; वे अवसरकी ताक लगाते ही रहे किंतु दृढ़प्रतिज्ञ गोस्वामीजीने कभी एक पाईकी भी वस्तु किसीसे स्वीकार नहीं की।

गीताप्रेसमें नये श्रमिक कानून लागू किये गये जिससे उन्हें भी Provident Fund तथा Bonus से लाभान्वित किया जा सकता था। किंतु उनके लिये ये नियम नहीं बने हुए के समान ही रहे। उन्होंने वेतन भी अपनी निर्धारित राशिसे एक पाई भी अधिक लेना स्वीकार नहीं किया।

अभिनव रन्तिदेव :

देते त्याग दूध–फल अपना, आये अतिथि बढ़ा व्यय देख।

एक समय भोजन करके भी रखी अयाची–व्रतकी टेक॥

कुलजन, जातिबन्धु, परिचितजन करते अर्थाभाव–बखान।

अभिनव रन्तिदेव कर देते स्वल्पमात्र निज वेतन–दान॥२०॥

घरमें अतिथि आ जानेसे व्ययभार बढ़ जाता। अब बढ़े हुए खर्चकी व्यवस्था किस रीतिसे हो ? वे अपनी दैनिक भोजन सामग्रीके दूध–फल आदिमें कटौती करके ही यह बचत कर पाते। कुल–सम्बन्धी, जातिके दूरस्थ संबंधी तथा अन्य आर्त्त, अभावग्रस्त परिचितजन इनकी लोकप्रसिद्धि एवं सदाशयताकी चर्चा सुनकर आये दिन इन्हें याचनाके पत्र भिजवाते रहते। पर–दुःख–कातरताके आवेगमें ये अपना स्वल्पमात्र वेतन ही दान कर डालते, उसी भाँति जैसे श्रीरन्तिदेवजीने अतिथि–सत्कारके लिये ४९ दिनों बाद मिला हुआ आहार भी त्याग दिया था।

परम पूज्य श्रीराधाबाबासे प्रीति :

एक नवयुवा संन्यासीवर त्याग–तितिक्षा–विरति–निकेत।
श्रद्धा–प्रेम–मूर्ति गोरखपुर आ पहुँचे थे प्रभु–अभिप्रेत॥
भाईजीके प्रेम–स्पर्श ने तत्क्षण पारस–लौह–समान—
बना दिया उन वेदान्ती को 'राधाबाबा' प्रेमनिधान॥२१॥
श्रीराधाबाबा–गोस्वामीजी में उमड़ा यों प्रीति–प्रवाह।
चलने लगे कुटुम्बीजन सब बाबा ही की रुचिकी राह॥
माता, बहनें, पत्नी, खुद भी चलते बाबा की रुचि मान।
बाबा की अनुगत थी भगिनी विमला की सारी सन्तान॥२२॥

पू. श्रीराधाबाबा सन् १९३६ में जब गीतावाटिकामें एकवर्षीय अखण्ड भगवन्नाम–संकीर्तनका आयोजन हो रहा था तब सर्वप्रथम आये थे। तब उनकी आयु लगभग २२ वर्ष रही होगी। वे त्याग, तितिक्षा एवं वैराग्यकी मूर्त्तिमान् प्रतिमा ही थे।

भगवान्‌की विशेष मंगलमयी अभिसन्धिसे ही श्रीराधाबाबाका पू. श्रीभाईजीसे प्रथम मिलन संघटित हुआ । प्रेममूर्ति श्रीभाईजीने चरणस्पर्शके व्याजसे श्रीराधाबाबामें आमूलचूल परिवर्तन कर डाला । कहाँ तो वे सगुण–साकारकी सत्ताको ही मायिक स्वीकार करन वाले कट्टर वेदान्ती रहे और कहाँ वे श्रीराधा–कृष्णके प्रेम–भिखारी बनकर व्रज गोपांगनाओंकी चरण–धूलिके उपासक बन गये ।

श्रीराधाबाबा एवं गोस्वामीजीमें अपूर्व प्रेमका ऐसा नाता स्थापित हुआ जिसको व्यतीत होता क्षण–क्षण अधिकाधिक सुदृढ़ ही बनाता गया । स्वयं गोस्वामीजी ही नहीं, गोस्वामीजीको अपना मानने वाले सम्पूर्ण परिवारजन, स्नेही तथा सम्बन्धीजनोंने ही पू. राधाबाबाको अपना आत्मीय तथा सर्वस्व मान लिया था । गोस्वामीजीके परिवारमें उनकी माता, सभी अनुजा बहिनें, धर्मपत्नी, यहाँ तक कि बीकानेरमें बसी बहिन बिमलाका पूरा परिवार ही पू. श्रीराधाबाबाके स्नेहालिंगनमें आबद्ध हो गया ।

विमला जब अतिरुग्ण हो गई शैयाग्रस्त, गिन रही साँस ।
भाई थे व्रत–बद्ध, न आये जन्मभूमि में उसके पास ॥
सच्चे भाई थे भाईजी, राधाबाबा आये साथ ।
अन्तिम काल उसे सद्गति दे, उसके कुलको किया सनाथ ॥२३॥

सन् १९६३ ई. में श्रीगोस्वामीजीकी सबसे छोटी बहिन विमला बीकानेर में अतिरुग्ण होकर शय्याग्रस्त हो गयी । धीरे–धीरे उसके बचनेकी आशा न रही । श्रीगोस्वामीजी तो अपनी पैतृक भूमिमें प्रवेश न करनेका व्रत सन् १९४६ ई. से ही ले चुके थे, अतः उनके तो आनेका प्रश्न ही नहीं था । परन्तु पूज्य भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारने सच्चे भाईका दायित्व स्वयं वहन किया । वे रतनगढ़से पू. श्रीराधाबाबाको साथ लेकर बिमलाके अन्तिम क्षणोंमें उसके पास पहुँच गये ।

पू.श्रीभाईजी एवं पू. श्रीराधाबाबाके पधारनेसे विमलाकी भगवद्धाम–यात्रा तो सुनिश्चित हुई ही, उसकी मातृविरहित सारी सन्तानोंको स्नेह देनेका दायित्व स्वतः ग्रहण कर लिया पू. श्रीराधाबाबाने । अहा ! सन्तके स्नेहके सामने तो हजारों माताओंका वात्सल्यदान भी हलका ही ठहरता है। विमलाकी सन्तानें धन्य एवं कृतार्थ हो गयीं ।

शंकाराचार्य पदके लिये मनोनयन एवं पदग्रहणकी अस्वीकृति :

गौरवमय शंकराचार्य पद हेतु हुआ था मनोनयन ।

किन्तु उन्हें निज कण्टकपथ ही था वरेण्य ज्यों नन्दनवन ॥

धन–यश–पद के लघु आकर्षण कर पाते कैसे विचलन ।

दैन्य–अकिञ्चनता का धारण किये कवच थे निर्भयमन ॥२४॥

शंकराचार्य अपने जीवन कालमें ही भावी शंकराचार्य पदके लिये भारतवर्षभरके आचारनिष्ठ, त्यागपूर्ण एवं परम विद्वान् किन्हीं तीन व्यक्तियोंका मनोनयन कर जाते हैं । जगन्नाथपुरीके श्रीगोवर्धनपीठाधीश्वर शंकराचार्य पूज्यपाद स्वामीजी श्रीभारतीकृष्णतीर्थजीने अपनी 'विल' (वसीयतनामा) में शंकराचार्य पदके लिये श्रीगोस्वामीजीका नाम मनोनीत किया था । इस गौरवपूर्ण पदके लिये प्रस्ताव आने पर श्रीगोस्वामीजीने निर्णय लेनेमें तनिक भी देर नहीं की । उन्होंने प्रस्तावके प्राप्त होते ही अविलम्ब अपनी असमर्थता लिखकर भिजवा दी । उन्हें धन–यश–पदकी मृग–मरीचिकामें उलझना ही नहीं था । अपने स्वयं द्वारा चयनित कष्ट–कण्टकोंका पथ उन्हें नन्दनवनसे भी अधिक रमणीय एवं सुखद लगता था । वे सदैव दैन्य तथा अकिञ्चनताका ऐसा कवच धारण किये रहते थे जिसे लौकिक धन–सुखके आकर्षण–बाण भेद ही नहीं पाते थे ।

कृति–कीर्ति :

सम्पादन कल्याण–कल्पतरु मासिक का जीवन पर्यन्त।
उसमें कर भागवत–शास्त्र का अंग्रेजी अनुवाद स्वंतत्र॥
रामचरितमानस, गीताका आंग्लगिरा में किया प्रकाश।
युद्धकाण्ड तक रामायण–बाल्मीकि छपा, ली अन्तिम श्वास॥२५॥
रचा अनेक धर्मग्रन्थों के अंशों का अंग्रेजी रूप।
कीर्ति–केतु हिन्दू–संस्कृति का फहराया सर्वत्र अनूप॥
सम्पादन–कल्याण–कार्य में भाईजी के दक्षिण हस्त।
रहे भरत–से वे रुचिपालक, अर्पितकर अस्तित्व समस्त॥२६॥

श्रीगोस्वामीजीने अंग्रेजी धार्मिक मासिक पत्र—कल्याण–कल्पतरुका सम्पादन–दायित्व जीवनकी अन्तिम श्वास लेनेतक वहन किया। विशेषांकोंके रूपमें अन्य सभी धार्मिक विषयोंके अतिरिक्त श्रीगीता–तत्व–विवेचनी श्रीरामचरितमानस, श्रीमद्भागवत महापुराण तथा वाल्मीकि रामायणका आंग्ल भाषामें उनके द्वारा किया हुआ अनुवाद प्रकाशित हुआ। वाल्मीकि रामायणका अनुवाद श्रीगोस्वामीजी पूरा नहीं कर पाये। अंतिम रुग्णताने उन्हें बीचमें ही घेर लिया। श्रीगोस्वामीजीके सम्पादनकालमें कल्याण–कल्पतरुने भारतीय संस्कृतिकी विजय–वैजयन्ती देश–विदेशमें सर्वत्र फहरा दी।

अंग्रेजी, हिन्दी, संस्कृत के भाषा तथा व्याकरणविज्ञ।
श्रीभागवत आदि शास्त्रों के पूजक, अध्येता, मर्मज्ञ॥

तु, च, हि, वाव, उत, हवै, अव्ययों का करके सटीक शब्दार्थ।

शुक–समाधिभाषा, हरिवाङ्मय–विग्रह पूजन किया यथार्थ॥२७॥

सन् १९३४ ई. से कल्याण–कल्पतरु अंग्रेजी मासिक पत्रका गीताप्रेससे प्रकाशन प्रारंभ हुआ था। प्रारंभसे ही गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजी इसके सम्पादक रहे। इस गौरवपूर्ण मासिकपत्रमें विशेषांकोंके रूपमें श्रीमद्भागवतका अंग्रेजी भाषामें अनुवाद छपा जो अपने–आपमें एक कीर्तिमान था।

श्रीगोस्वामीजी तो वंश–परंपरा से ही श्रीमदभागवत महापुराणके सतत अध्येता, मर्मज्ञ एवं सच कहिये तो आराधक थे। उन्होंने महात्मा शुकदेवजीकी समाधिभाषा रूपमें प्रकट साक्षात् श्रीहरिके वाङ्मय स्वरूप श्रीमद्भागवतके अनुवाद करते समय इसमें प्रयुक्त 'तु', 'च', 'हि', 'वाव', 'उत', 'च हवै' आदि अव्ययोंकी भी सटीक उपादेयता अनुभव करते हुए तदनुसार ही टीका की है। श्रीगोस्वामीजीकी अंग्रेजी, हिन्दी एवं संस्कृत भाषाओंकी व्याकरणमें सूक्ष्म पैठ तथा भारतीय संस्कृत शास्त्रोंका अगाध ज्ञान इस टीका–कार्यमें सहायक बना। पू. श्रीराधाबाबा जो स्वयं अंग्रेजी, हिन्दी तथा संस्कृत भाषाओंके प्रकाण्ड पण्डित थे, वे गोस्वामीजीकृत श्रीमद्भागवतके अंग्रेजी–अनुवादके भूरि–भूरि प्रशंसक थे। श्रीगोस्वामीजीके अंग्रेजी भाषाके विद्यागुरु प्रो. श्रीजीवनशंकरजी याज्ञिक महोदय तो इस अनुवादका अनुशीलन करके मन्त्रमुग्ध हो गये थे।

करुणामय पुरुषोतम प्रभुके निज परिकर, दो अनुपम यंत्र।

धर्मप्रचार, शास्त्रसम्पादन, संकीर्तन, जप–षोडशमंत्र—

करते रहे प्रचारित जग में पाँच दशक दारुण कलिकाल।

सम्पादक–कल्याण युगल, जय श्रीभाईजी–चिम्मनलाल॥२८॥

अपूर्व नाम–प्रचारक बङ्गीय संत श्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी महाराजने अपने द्वारा गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीकृत रामचरितमानसका बंग भाषामें अनुवाद करके उसको समर्पित किया पूज्य भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार एवं श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी — 'कल्याण' मासिक पत्रके दोनों सम्पादकोंके नाम। उत्सर्ग–पत्रमें उन्होंने जो लिखा उसे अविकल रूपसे नीचे दिया जा रहा है—

॥ श्री गुरुवे नमः ॥

"अनन्त करुणा–पारावार पुरुषोत्तम श्रीभगवान् दो अलौकिक अनुपम यन्त्रोंको लेकर इस दारुण कलियुगमें सर्वत्र जो धर्म–प्रचार और शास्त्रप्रचार कर रहे हैं, इस प्रकारके प्रचारकी बात मैंने किसी इतिहासमें, पुराणमें नहीं देखी अथवा किसी धर्म–प्रचारकने इस प्रकार विश्वव्यापी धर्मप्रचार किया हो यह नहीं सुना। श्रीभगवान्‌के सुन्दर उदित दो रमणीय चन्द्र परम–प्रेम–भाजन अशेष श्रद्धास्पद कल्याण–सम्पादक श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार महाशय और श्रीयुत चिम्मनलालजी गोस्वामीके पवित्र नामपर उनके अति प्रियतम 'श्रीरामचरितमानस' का बंगानुवाद उत्सर्ग किया। — **सीतारामदास**"

जब ब्रजलीलालीन हुए श्रीभाईजी हनुमानप्रसाद।
सम्पादन–दायित्व सम्हाला दोनों पत्रोंका अविवाद॥
किये प्रकाशित विष्णु–अंक, रामांक, गणेश वार्षिक अंक।
भाईजी की यश–परंपरा का निर्वाह किया अकलंक॥२९॥

अन्ततः वह घड़ी भी आ गई जब लगभग चार दशकोंसे अविच्छिन्न रूपसे जुड़े श्रीगोस्वामीके हृदयधन श्रीभाईजी भी ब्रजलीलामें सम्मिलित होनेको इस धराधामका त्यागकर चल पड़े। असमर्थताका दैन्य–प्रकाश करनेके उपरान्त भी सभी गुरुजनोंके

प्रेमपूर्ण आग्रहको ठुकरा न पानेके कारण श्रीगोस्वामीजीको कल्याण–सम्पादनके गुरुतर दायित्वको भी वहन करना पड़ा। इनके सम्पादकत्वमें कल्याणके तीन विशेषांक — 'श्रीरामांक', 'श्रीविष्णुअंक' तथा श्रीगणेशांक प्रकाशित हुए। श्रीभाईजी द्वारा स्थापित कल्याण–सम्पादनकी यशस्वी परंपराओंको श्रीगोस्वामीजीने धूमिल नहीं होने दिया। सामग्री और सुसज्जाकी दृष्टिसे इन तीनों विशेषांकोंके प्रकाशनसे यों लगा मानो अपरोक्षरीतिसे भाईजी ही इनके द्वारा अपना कार्य करवा रहे हैं।

अन्तिम रुग्णता :

निकट आ गई वह बेला, थे बुला रहे प्रभु अपने पास।

जरा–रुग्णता बनी दूतियाँ आई ले सन्देशा खास॥

स्वागत में सोल्लास हो गये गोस्वामीजी शय्याग्रस्त।

राधाबाबाने सम्हाल की, अनुचर सेवा–निरत समस्त॥३०॥

अब तो वह बेला भी समीप आ रही थी जब ये भी अपने प्राणोपम अग्रज, बन्धु एवं परम–आत्मीय श्रीभाईजीके पास पहुँच जानेको उतावले हो उठे थे। जरावस्था तथा रुग्णता ही मानों वे दूतियाँ थी जिन्होंने उन्हें जतला दिया था कि परम करुणामय श्रीभगवान् अब अपने प्रिय सेवक श्रीगोस्वामीजीको अपने पास बुला लेंगे। ज्योंही डाक्टरोंने जाँच करके इन्हें हिलने–डुलनेकी मनाही की, ये बिना ननु–नच किये शैयाग्रस्त हो गये। इनकी सेवा–सम्हाल, चिकित्सा–पथ्य पू. राधाबाबाने स्वयं सम्हाल ली तथा उनके अनुगत भक्तगण नियमबद्धरीतिसे श्रीगोस्वामीजीकी सेवामें जुट गये

रक्त चाप बढ़ गया, किसी क्षण फट सकता है नाड़ीतन्त्र।

राधाबाबा को इंगित कर दिखलाते थे डाक्टर यन्त्र॥

बाबा कहते—'इस रोगी के सम्मुख निर्भय करें बखान'।

विगत हुए 'दो' के अभावमें भय, लज्जा, विषाद, मद, मान॥३१॥

श्रीगोस्वामीजीका रक्तचाप जाँचते समय चिकित्सकगण रक्तचापको सीमाधिक बढ़ा हुआ पाकर आशंकित रहते कि कहीं स्नायुतंत्र फट नहीं जाय। यह विषम अवस्था श्रीगोस्वामीजीसे छिपाई जाती, इस आशंकासे कि कहीं इसे जानकर रोगीपर कोई मानसिक दुष्प्रभाव न हो। अतः चिकित्सकगण पू. बाबाको यंत्र दिखलाकर इशारेसे कुछ समझाना चाहते। किन्तु पू. बाबा जानते थे कि श्रीगोस्वामीजी ऐसे भयशून्य रोगी हैं कि रोगकी भीषणता जानकर वे कभी भी बेहोश नहीं हो सकते। अतः वे मुस्कुराकर, डाक्टरोंसे स्पष्ट बता देनेको कह देते। भय तो मनकी वृत्ति है, जो उसीको हो सकती है जिसे एकमेव सर्वव्यापक परमात्माका अनुभव नहीं हुआ हो। इसी कारण कहा गया है — **'द्वितीयाद्वै भयं भवति'**, जहाँ द्वैतका बोध समाप्त हो जाता है वहाँ भय नामक अनुभव उत्पन्न नहीं हो सकता।

तनिक न हिलें, रहें शय्यागत—था चिकित्सकोंका अनुरोध।

आजीवन कट्टर आचारी ने त्यागा सब शुचिता–बोध॥

शिशुवत् करने लगे पट्टपर पूजा, पथ्य, शौचविधि, स्नान।

विगत हुए दो के अभावमें भय, लज्जा, विषाद, मद, मान॥३२॥

चिकित्सकगणोंका अनुरोध रहता कि श्रीगोस्वामीजी शैयासे बिलकुल नहीं हटें — डाक्टरोंके अनुसार उनकी किसी हलचलसे उन्हें हृदयाघात हो सकता था। श्रीगोस्वामीजी जीवनभर वैष्णवाचारकी शुद्धाशुद्धि नियमोंके कट्टर एवं कठोर

परिपालक रहे थे। प्रत्येक बार लघुशंका करनेके बाद गिनतीके कुल्ले करना, चरणोंको धोना आदि उनके नित्य नियम उनका आदत बन गये थे। पर अब तो सारे आग्रह–नियम त्यागनेकी बेला आ गई थी। चौहत्तर वर्षके वयोवृद्ध गोस्वामीजी शिशुके समान बन गये। जिस सेवककी ड्यूटी होती उसीके द्वारा लघुशंका आदि कर्म करवाये जाते। स्नानादिक कर्म, पथ्य–ग्रहण भी शैया पर ही होने लगे। वे अपनी पूजा–आराधना एवं संध्योपासनाके नियम भी मानसिक रूपसे शैयापर पड़े–पड़े ही करने लगे। सच ही कहा है — लज्जाबोध भी द्वैत–बोधका ही परिणाम है। जहाँ एक ही बचा है वहाँ कौन किससे लज्जा करे ?

कभी निकट दिखता अन्तिम क्षण, कभी दीखता हुआ सुधार।
अर्धांगिनी अधीर चीखती 'डूब रही हूँ मैं मँझधार'॥
सेवक सेवा–मध्य झगड़ते, निर्विषाद भरते मुस्कान।
विगत हुए दो के अभाव में भय, लज्जा, विषाद, मद, मान॥३३॥

यह रुग्णदशा कठिन परीक्षाकी घड़ी थी। कभी लगता कि अन्तिम क्षण आ गया है, फिर सुधार होता नजर आता। अर्धांगिनी सती सरयूदेवी चीत्कार करके कहतीं — 'हाय ! मुझे आप मँझधारमें छोड़कर कहाँ जा रहे हैं ?' गोस्वामीजी ऐसी उद्वेगजनक परिस्थितियोंमें भी निर्विकार भावसे मुसकान भरते रहते। कभी ऐसे भी अवसर आते जिसमें सेवकोंके बीच मतभेदके कारण विवाद होने लगता। यह विवाद भी होता गोस्वामीजीको अधिकाधिक सुख पहुँचानेके लिये ही, पर विवाद तो विवाद ही है। ऐसी सभी विषम परिस्थितियोंमें भी श्रीगोस्वामीजीको कभी उद्विग्न होते हुए नहीं देखा गया। वे विषादशून्य हो गये थे। विषाद भी द्वैतदर्शनका ही फल है। जहाँ 'एक' ही

सामने खड़ा हो, उसकी मुनि–मन–मोहिनी माधुरीमें मन फँसा हो, वहाँ विषाद प्रवेश कर ही कैसे सकता है ?

निज अखण्ड अपरिग्रह–व्रत कर बाबाकी रुचिपर बलिहार।

शुद्धि, वैष्णवाचार नियम सब किये समापन निरहंकार॥

भूले कुल, विद्या, पदगौरव निर्मद, निपट नगण्य–समान।

विगत हुए 'दो' के अभावमें भय, लज्जा, विषाद, मद, मान॥३४॥

श्रेष्ठ–से–श्रेष्ठ वैष्णव जन भी ज्ञान–मद, आचार–निष्ठाके मद, अपने अखण्ड अपरिग्रहव्रतके मदको त्यागनेको तैयार नहीं होते। जीवनभर गोस्वामीजीने किसीसे कुछ भी अनुग्रह स्वीकार नहीं किया था। पू. बाबाका आग्रह था कि गोस्वामीजीकी चिकित्सा कितनी ही व्ययसाध्य क्यों न हो, उसे उत्तमोत्तम रीतिसे ही करायी जाय ताकि पू. छोटी माताजी (श्रीगोस्वामीजीकी धर्मपत्नी) को असन्तोष न रहे।

श्रीगोस्वामीजी पू. बाबाकी रुचिके सामने नतमस्तक हो गये। वे अपने शुद्धाशुद्धि तथा वैष्णवोचित आग्रह तो पहले ही समर्पित कर चुके थे। अपने उच्चकुलका, विद्याका, पद–गौरवके सभी बोध भुलाकर वे निपट साधारण जनके समान व्यवहार करके अपनी निर्मदता चरितार्थ करने लगे। यह भी सत्य ही है कि द्वैतबोध न रहनेपर मदका लेश भी कैसे बचा रह सकता है ?

ग्रह–शान्त्यर्थ कराता कोई अन्न–वसन–धन–धृतका दान।

कोई करवाता विप्रों से अनुष्ठान, जप–विधि सविधान॥

कोई आ सत्संग कराता, वर्णन करता गीता–ज्ञान।

सर्वमानप्रद, आप अमानी करते सबको मान–प्रदान॥३५॥

कोई हितैषी आकर सुझाव देता कि श्रीगोस्वामीजीकी ग्रह–पीड़ाके शान्त्यर्थ अन्न–वस्त्र, धन एवं घृतादि द्रव्योंका सविधान दान करवाया जावे। किसीने विप्रोंसे विधि–सहित जप–अनुष्ठान करवाने प्रारम्भ कर दिये। कोई उनके समक्ष आकर सत्संग कराने लगता तथा गीताके श्लोकोंका निहितार्थ प्रकट करके गोस्वामीजीका अनुमोदन चाहने लगता। गोस्वामीजी जिज्ञासु बने रहकर सबके उपदेश सुनते, सबकी सुझाई हुई बात सुनकर भी उनका खण्डन नहीं करते। वे सभीको सम्मान देते रहकर स्वयं अमानी बने हुए थे।

आग्रह किया चिकित्सक दल ने कोई इन्हें रक्त दे दान।

प्रस्तुत हुए अनेक , किसी भी भाँति सके ये इसे न मान॥

बेला थी सर्वस्वदान की, प्राणों का ही ले उपहार।

ये दे देने को आतुर थे, याचक श्याम खड़े थे द्वार॥३६॥

चिकित्सकोंने सुझाव दिया कि श्रीगोस्वामीजीको रक्त चढ़ानेकी आवश्यकता हो सकती है। अनेक भक्तजनोंने अपना परम सौभाग्य अनुभव किया तथा वे सहर्ष अपना रक्तदान श्रीगोस्वामीजीके लिए देनेको प्रस्तुत हो गये। किन्तु श्रीगोस्वामीजी इस प्रस्तावको किसी भाँति भी स्वीकार करनेको प्रस्तुत न हुए। वे तो इस रुग्णतामें भी मंगलमय भगवान्‌का असीम अनुग्रह ही अनुभव कर रहे थे। उनके आराध्यदेव तो द्वारपर याचक बने खड़े थे। अकिञ्चन गोस्वामीजीके पास अपने प्राणाराध्यको दे डालनेके लिए एक ही वस्तु बची थी — उनकी अन्तिम साँसें—उनके प्राण जिन्हें दे डालनेको श्रीगोस्वामीजी आतुर हो रहे थे।

स्नेहीजन आग्रह कर कहते — "आप हमारा कहना मान —

रक्तदान लेकर निरोग हों, दें कुछ काल हमें सुखदान"॥
ये बोले गम्भीर बने यों — अब जीवन की घड़ियाँ शेष —
घोर यातनामय बीतेंगी, पल न मिलेगा अब सुखलेश॥३७॥
वह दुख देख कहोगे तुम ही — "अब माया समेट लो नाथ!"
"प्रभुका मंगलमय विधान हम स्वीकारें प्रमुदित नतमाथ"॥
स्वजनों का प्रारब्धभोग कर स्वेच्छापूर्वक अंगीकार।
वे निज-संकल्पित पथसे कैसे टल सकते थे किसी प्रकार?॥३८॥

श्रीगोस्वामीजीमें अपने जीवनकी रक्षाके लिए पूर्ण उदासीनताका आवेश देखकर स्नेही आत्मीयजनोंने दूसरा मार्ग अपनाया। वे कहने लगे — 'आप हमारा कहना मानकर रक्तदान लेना स्वीकार कर लें। आप निरोग होकर कुछ काल हमें सुख प्रदान कीजिये।' श्रीगोस्वामीजी गंभीर होकर उत्तर देने लगे — "अब मेरे जीवनकी जो भी घड़ियाँ शेष बची हैं उनमें सुखका लेश मात्र भी नहीं रहा है। अब तो जो भी समय बचा है उसमें घोर यातना-ही-यातना देखनेको मिलेगी। यदि तुम्हारे आग्रहको मानकर प्रभु मेरा जीवनकाल बढ़ा देंगे तो मेरी घोर कष्टपूर्ण देहदशा देखकर कुछ ही काल पश्चात् तुम्ही भगवान्से मनाने लगोगे कि 'अब हे नाथ! इनका दुख नहीं देखा जाता, इन्हें उठा लें।' अतः इसी बातमें हम सबका भला है कि हम प्रभुके प्रत्येक विधानको मंगलमय मानकर उसे नतमस्तक होकर स्वीकार करें।" श्रीगोस्वामीजीने तो अपने ही आत्मीयजनोंका यह प्रारब्धभोग स्वेच्छापूर्वक अंगीकार किया था, वे अपने संकल्पित मार्गसे कितना भी कष्ट क्यों न सहन करना पड़े, किसी भाँति भी टल नहीं सकते थे।

चिन्तित अर्धांगिनी पूछती—'मुझे सम्हालेगा अब कौन?'

'मेरा रक्षा-भार सौंपकर जाते किसे अचिन्तित, मौन?'

वे कहते—तुमको जो लगते हैं समर्थ, हैं सब असमर्थ।

तुम्हें सौपता हूँ उसको—जो अच्युत है, जो सर्व-समर्थ॥३९॥

श्रीगोस्वामीजीके मुखसे विदा होनेकी बातें सुनकर अर्धांगिनी श्रीमती सरयूदेवी चिन्तित होकर पूछ बैठतीं—'आप जब छोड़कर चले जानेका ही मन कर लिये हैं तो मेरे विषयमें चिन्तारहित क्यों हैं? मेरे भविष्यके लिये आप कुछ भी नहीं कह रहे, मेरी देख-रेखका दायित्व किसे सौंपकर जा रहे हैं?'

श्रीगोस्वामीजी बड़े ही प्रेमसे समझाकर कहते—"इस जगत्के किसी बड़े-से-बड़े व्यक्तिपर भरोसेके लिए आशा मत लगा बैठना—ये जो समर्थके समान तुम्हें दिख रहे हैं वे असलमें सर्वथा असमर्थ हैं। किंचित् भी भरोसा करने लायक नहीं हैं। तुम्हें तो मैं उस सर्वसमर्थ प्रभुकी शरणमें दे रहा हूँ जिसकी समर्थताकी कोई सीमा है ही नहीं तथा जो अच्युत है, भरोसा करने पर कभी चूक ही नहीं सकता।"

रात-रात भर जाग चिकित्सक पढ़कर ग्रन्थ-चिकित्साज्ञान।

उत्साहित हो आकर कहते—'है मुझको मिल गया निदान'॥

आप जरा सहयोग करें, निश्चय ही होंगे रोग-विमुक्त।

सुन लेते ये उदासीन, फिर आँख मूंद हो जाते सुप्त॥४०॥

गोरखपुर-मेडिकल-कालेजके विशेषज्ञ चिकित्सक रात-रातभर जागकर चिकित्सा-विज्ञानके विभिन्न ग्रन्थोंका अवलोकन करके श्रीगोस्वामीजीके रोगके

निर्धारण एवं निदानके लिए सम्मति बनाते। वे उत्साहित हुए श्रीगोस्वामीजीसे आकर कहते — 'मुझे आपके रोगका निदान प्राप्त हो गया है। अब आप अवश्य ही रोगमुक्त हो सकेंगे।' श्रीगोस्वामीजीको रोगमुक्तिमें अन्तर्मनसे कोई भी आस्था न होनेके कारण वे चिकित्सकोंकी बात अधूरी ही सुनते-सुनते निद्रामग्न होकर खर्राटे भरने लगते। चिकित्सकगण भी आश्चर्यचकित रहकर देखते रह जाते कि आजतक उन्हें ऐसा रोगी नहीं देखनेको मिला जिसे अपने रोग-विमुक्तिमें तनिक भी रुचि नहीं है।

'होते हैं प्रभु के दर्शन ?'—बहुबार पूछते भावुक जन।
वे हँस उत्तर देते—"मुझको होते तुम-सबके दर्शन॥"
सच है, वे विद्वान, विप्रमें तथा घोरकर्मा चाण्डाल,
गौ, हाथी, कुत्तेमें भी प्रभु-दर्शन करते थे सब काल॥४१॥

कुछ भावुक भक्तजनको विश्वास रहता कि श्रीगोस्वामीजी सरीखे भक्तको अन्तिम कालमें अवश्य ही भगवान्‌के दिव्य दर्शन, लीला एवं चमत्कारके अनुभव होते ही होंगे। पूछनेपर अवश्य ही उनसे किसी चमत्कारपूर्ण अनुभवका वर्णन सुननेको मिलेगा। वे इसी अनुमानसे इनसे प्रश्न कर बैठते कि क्या आपको कोई भगवानकी दिव्य झाँकी प्राप्त होती है ? श्रीगोस्वामीजी हँसकर उत्तर देते — "मुझे तो तुम सभीके दर्शन हो रहे हैं।" श्रीगोस्वामीके इस कथनमें उनके हृदयके सम्पूर्ण सत्यका निदर्शन है। वे सर्वत्र भगवद्दर्शनके अभ्यासी थे। उन्हें विद्वान् विप्र तथा घोर-कर्मा चाण्डालमें एक समान् ही भगवान्‌की विद्यमानता अनुभव होती थी। वे गौ, हाथी तथा कुत्तेमें भी अपने प्राणप्रिय प्रभुके दर्शन प्राप्त करके निहाल होते रहते थे।

'सम्पादन-कल्याण कार्य है प्रभुका ही'—यों कहते लोग।
आप माँग लें, निश्चय ही प्रभु देंगे आयु, शक्ति, आरोग्य॥

सब जीवों में प्रभु दर्शन हो

जीवन जगत-हितार्थ आपका, प्रभु सब पूर्ण करेंगे आस।

ये कहते—"मैं कभी न कुछ भी चाहूँ, बस, यह है अभिलाष" ॥४२॥

जगत्के लोग अपनी ही तरह सभीको देखने लगते हैं तथा सन्तोंको भी अपनी रूचिका व्यवहार करते देखना चाहते हैं। वे श्रीगोस्वामीजीको आकर तार्किकपूर्ण रीतिसे समझाते 'कल्याणका सम्पादन-कार्य जो आपके द्वारा निष्पन्न हो रहा है वह तो सर्वथा प्रभुका ही कार्य है। आप माँग करके तो देखें, निश्चय ही प्रभु आपके इस आसन्न प्रारब्धकष्टको टाल देंगे तथा आपकी आयुकी वृद्धि कर देंगे। आपका तो एक-एक क्षण प्रभुके ही कार्यमें व्यतीत हो रहा है। आप एकबार मात्र अभिलाषा कर लें, आपकी आशा अवश्य प्रभु पूर्ण करेंगे।' सुनकर श्रीगोस्वामीजी एक ही उत्तर देते — "मेरी कुछ भी अभिलाषा नहीं है। मेरी एकमात्र यही चाह है कि मैं कभी भी, कुछ भी नहीं चाहूँ।"

परम सुहृद श्रीभाईजीका चित्र लिया दृग-सम्मुख टाँग।

निज अन्तिम संस्कार-विषयमें रखी विशेष एक ही माँग॥

पावन चिता-स्थली-लेपनसे मेरा तन करके अभिषिक्त।

ले जाना, ये प्राण-विहंगम यह तन-नीड़ करें जब रिक्त॥४३॥

जिस शय्यापर श्रीगोस्वामीजी लेटे पड़े रहते थे, उनकी आँखोंके सम्मुख उनके परम सुहृद श्रीभाईजीका एक चित्र टँगा था। इसे वह हर समय देखते रहा करते थे। उन्होंने अपने अन्तिम संस्कारके विषयमें एक ही आग्रह किया था कि उनके सुहृद्वर श्रीभाईजीकी पावन चितास्थलीको जिस पीत-लेपनसे लिप्त किया जाता है उसीसे उनकी देहको भी मरणोत्तरकालमें अभिषिक्त किया जावे।

जीवन-मरण निरोग-रोग की मिटी कल्पनाएं सारी

परिक्रमा–स्थलकी, समाधिका दर्शन–नियम निभा अविराम।

सेवक–अतिथि सभी से कहते — "मुझे सुनाओ भगवन्नाम" ॥

पदगायन, सत्संग, नामजप करते सब होकर एकत्र।

लम्बी अवधि रुग्णता की यों बनी सत्य ही साधन–सत्र ॥४४॥

श्रीगोस्वामीजी शैया पर लेटे–लेटे ही परिक्रमा–स्थल एवं श्रीभाईजीकी पावन समाधिस्थलीके दर्शन–नियमको अविच्छिन्न रूपसे निभा रहे थे । जो सेवकगण सेवाकार्यसे उनके समीप रहते या अतिथिगण उनके दर्शनार्थ आते उन सभीसे श्रीगोस्वामीजीका एक ही आग्रह रहता कि वे उन्हें श्रीभगवन्नाम–ध्वनि सुनाते रहें । कुछ साधकगण सेवाकार्य करते समय मुखस भगवन्नामजप भी किया करते, कुछ लोग पुस्तकोंसे सत्संगके उद्धरण तथा भक्तचरित्र पढ़कर सुनाते या कुछ लोग ब्रजके लीलाके पदोंका सुमधुर गायन करते । इस भाँति श्रीगोस्वामीजीकी लम्बी रुग्णतावधि एक साधनसत्रके रूपमें परिणत हो गयी थी।

'कनकलता' कुल की कन्या का आयोजित हो गया विवाह।

ज्ञाति–कुटुम्बी–बाराती जन आये ले दर्शन–उत्साह ॥

देहदशा बिगड़ी थी, लगता विदा–घड़ी है अति निकटस्थ।

सब चिन्तित थे—शुभ आयोजन होवे कहीं न बाधा–ग्रस्त ॥४५॥

कहा सन्त–चरणोंमें जाकर सबने शंकित–मन, नत–माथ—

"इनकी आशिष से वंचित रह जायँ न दम्पतिगण, हे नाथ ॥"

कैसे रहती विनय अनसुनी, ठहरी रही मृत्यु आसन्न।

नवदम्पति आशीस–विदा ले पहुँचे निज गन्तव्य प्रसन्न ॥४६॥

गोस्वामीकुलकी कन्या कुमारी कनकलता बाल्यकालसे ही गीतावाटिकाकी अन्तेवासिनी थी । उसके अभिभावकोंको त्वरा लगी थी कि गोस्वामीजीके वर्तमान रहते ही वह विवाहसूत्रमें आबद्ध हो जाये ताकि श्रीगोस्वामीजीका अमोघ आशीर्वाद दम्पतिको प्राप्त हो सके । विवाहकी तिथि निश्चित हो गयी । बीकानेरसे वरपक्षके लोग भी एक विशेष लाभको दृष्टिगत करके अधिकाधिक संख्यामें आये थे कि उन्हें श्रीगोस्वामीजीके दुर्लभ दर्शन प्राप्त हो सकें । इधर श्रीगोस्वामीजीकी देहदशा बिगड़ती जा रही थी । सभी लोग आशंकित हो उठे कि कहीं इस मंगल–आयोजनमें श्रीगोस्वामीजीकी असमय विदासे बाधा नहीं पड़ जाय ।

सभी घराती–बरातीजन बाबाकी सेवामें उपस्थित होकर विनय करने लगे । सभीकी एक ही अभिलाषा थी कि विवाह–सम्पन्न होनेपर दम्पतिको श्रीगोस्वामीजीके हाथोंसे मंगल–फल एवं आशीष अवश्य मिल जानी चाहिये । संतोंके सामने की गई सदिच्छा क्या कहीं अनसुनी रहती है ? जबतक विवाह कार्य सम्पन्न न हो गया श्रीगोस्वामीजीकी दशा भले ही बिगड़ी रही परन्तु उन्हें कोई क्षति न हुई । दम्पति जब मंगलाशिष प्राप्त करने उनके पास पहुँचे तो श्रीगोस्वामीजीमें चेतना जाग उठी । अपनी शैय्यापर उठकर बैठ गये । हाथ उठाकर उन्होंने आशीर्वाद–फल तथा अमोघ आशीष भी प्रदान की । बारात विदा होकर सकुशल अपने स्थानपर पहुँच गई तथा उसके सकुशल पहुँच जानेका संवाद तार द्वारा प्राप्त भी हो गया ।

परमधाम–गमन :

चतुर्दशी वैशाख–शुक्लकी तिथि नरसिंह–जयन्ती घोर ।

दो हजार इकतीस विक्रमी सन्त–अदर्शन घड़ी कठोर ॥

बाबा ने दी विदा परस्पर चरण–मिला, ज्यों बाहें डाल।

ले जाने निज धाम स्वयं थे प्रिया–सहित आये नंदलाल॥४७॥

अगले दिन वैशाख शुक्ल चतुर्दशी सं. २०३१ वि. नृसिंह जयन्ती थी। प्रातःकालकी बेला ही वह घोर बेला थी जब इन महासंतसे जगतीतलको वंचित हो जाना था। पू. श्रीराधाबाबा संवाद मिलते ही श्रीगोस्वामीजीके पास चले आये। श्रीगोस्वामीजीने पू. श्रीबाबासे अपनी हार्दिक अभिलाषा जताई थी कि उनके देहत्यागके समय पू. श्रीराधाबाबा उनकी देहको संस्पर्श–दान करें। श्रीगोस्वामीजीकी इसी अभिलाषाकी पूर्तिके लिये पू. श्रीराधाबाबाने श्रीगोस्वामीजीके चरणतलोंसे अपने चरणांगुष्ठोंको सटा दिया। श्रीगोस्वामीजी के प्राण–पक्षी मानो इसीकी प्रतीक्षा कर रहे थे। वे देह–नीड़को त्यागकर वहीं उड़ चले जहाँ ले जानेको स्वयं श्रीश्यामसुन्दर एवं उनकी प्रिया श्रीराधा उस समय वहाँ पधारे थे।

उधर पूर्वमें भानु उगा था, ढला इधर विद्या का भानु।

शास्त्र–ज्ञान, भजन–निष्ठामें, त्याग–तपस्यामें असमान॥

गीता–उपवनका अमृत–फल, गोरखपुरका गौरव–केतु।

चिर सपूत भारतमाताका, जगती का सौभाग्य–निकेत॥४८॥

पूर्व दिशामें इस समय भगवान् भास्करका उदय हो रहा था। इधर एक ऐसा सूर्य अस्तंगत हो गया था जो विद्याका सूर्य था। यह व्यक्तित्व शास्त्रज्ञान, भजन–निष्ठा एवं त्याग–तपस्यामें अनन्त, अपरिमित गगनके समान था। श्रीगोस्वामीजी गीतावाटिका, गोरखपुरके अमृतफल थे, गोरखपुर नगरके गौरव–स्तम्भ थे, भारतमाताके अमर सपूत थे तथा अखिल विश्वके सौभाग्य–निकेतन थे।

दुख–सुखकी हर धूप–छाँवमें जो सहगामिनि रही सदैव।
अर्धांगिनी सती सरयू रह गयी अकेली हा! दुर्दैव॥
किन्तु हृदयमन्दिरमें था, प्राणोपम पति–चरणों का वास।
स्मृतिमें मग्न रही अनुदिन, जा पहुँची शीघ्र उन्हीं के पास॥४९॥

श्रीगोस्वामीजी तो चले गये, अब एकाकिनी रह गयीं वे तपस्विनी, उनकी अर्धांगिनी श्रीमती सरयूदेवी जो दुख–सुखकी हर धूप–छाँवमें उनकी सहगामिनी रही थीं। कितना ही कष्टपूर्ण जीवन रहा, उन्होंने कभी मन मैला नहीं किया। एकाकिनी उन सतीपर दुर्दैवने कैसा वज्राघात किया था! परन्तु उनके हृदयमन्दिरमें उनके प्राणोपम पतिके चरणोंके दीपक अखण्ड रूपसे जल रहे थे। उन्हींके प्रकाशमें अनुदिन अपने प्राणपतिके प्रेमका स्मरण करतीं वह दो वर्षोंकी लघु अवधिमें ही अपने पतिके सान्निध्यको प्राप्त कर गईं।

"जैसा भाव स्मरण करते तजता है प्राणी निज तन–गेह,
उसी भाव में भावित हो, पाता है वही भावमय देह॥"
यह गीतोक्ति साक्ष्य है अन्तिम समय आप हरि–स्मृति–संलग्न।
नित्य निकुञ्जधाम में पहुँचे, हो ब्रजकेलि–रसार्णव–मग्न॥५०॥

यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजन्त्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेयस्तदा तद्भाव भावितः॥

(श्रीमद्भगवद्गीता)

"प्राणी जिन भावोंके स्मरणमें मग्न हुआ अपना देह त्याग करता है उन्हींमें भावित हुआ वह तदनुरूप देह प्राप्त करता है" — श्रीमद्भगवद्गीताके इन वचनोंके अनुसार श्रीगोस्वामीजी भगवान् श्रीराधाकृष्णके नित्य–निकुञ्जधाममें प्रवेश पाकर ब्रजलीला–महासिन्धुमें मग्न हो गये क्योंकि जीवनके अन्तिम क्षणोंमें आप श्रीकृष्ण–स्मृतिमें तल्लीन थे।

वाणी हरिगुण–कीर्तनरत थी, श्रवण रहे हरि–कथा–निमग्न।
हाथ रहे प्रभु सेवा–तत्पर, मन–प्रभु पाद–पद्म–संलग्न॥
मान जगत् को प्रभु का मन्दिर करते थे नत–शीश प्रणाम।
दृष्टि लगी थी संतजनों पर प्रभु के चल–विग्रह सुखधाम॥५१॥

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।
स्मृत्यां शिरस्तव निवास जगत्प्रणामे दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम॥

(श्रीमद्भागवत्)

श्रीहरिके दिव्य गुणोंका कीर्त्तन ही आपकी वाणीका श्रृंगार था आपकी कर्णेन्द्रियाँ श्रीकृष्ण–कथाओंके श्रवणमें निमग्न रहती थीं। आपके दोनों हाथ प्रभुके कार्यमें ही संलग्न रहते तथा मनमें श्रीभगवानके चरणकमलोंका ही ध्यान बना रहता था। आप इस जगत्को परमात्माका निवासस्थल मानकर नतशिर होकर श्रद्धापूर्वक प्रणाम करते थे। आपकी दृष्टि भगवान्के चल विग्रह, आनन्दके धाम सन्तजनोंपर ही टिकी रहती थी।

रहे आप श्रीकृष्ण–प्रीति–रत, श्रीहरि–स्मरण–मग्न सब काल।

स्मरण–मग्न था शयन आपका, स्मरण–निमग्न जागरणकाल॥

यों सब काल कृष्ण में रत रह सहज हुआ जब तनका त्याग।

कृष्ण–प्रीति बन गये यथा आहुति बन जाती हविकी आग॥५२॥

कृष्णे रताः कृष्णमनुस्मरन्ति रात्रौ च कृष्णं पुनरुत्थिता ये।

ते भिन्नदेहाः प्रविशन्ति कृष्णं हविर्यथा मन्त्रहुतं हुताशम्॥

(ब्रह्मपुराण)

आपका जीवन श्रीकृष्ण–प्रीतिमग्न रहा। आप सभी काल श्रीहरि–स्मरण–मग्न रहते थे। सोते–जागते भी आप भगवान्‌का स्मरण ही करते रहते थे। इस भाँति सभी काल प्रभुमें ही व्यतीत होनेके कारण जब सहज ही आपने देहका त्याग किया तो आप उसी भाँति कृष्ण–प्रीतिमें ही रूपान्तरित हो गये जैसे आहुति यज्ञाग्निमें पड़कर हवनकी अग्निका स्वरूप धारण कर लेती है।

सतत प्रवहमाना सरिता हो जाती भले, सिन्धु में लीन।

किन्तु प्रवर्तित करनी उसकी रहती वैसी ही अक्षीण॥

कृष्ण–प्रीतिरसमग्न आप बन गये भले ही प्रीति सदेह।

किन्तु बिमल कृति–कीर्ति रहेगी अजर–अमर ही निस्सन्देह॥५३॥

हिमालयकी गोदसे निकली सुरसरिता सतत प्रवाहशील हुई अन्ततः नील–सागरमें विलीन हो जाती है, किन्तु उसके द्वारा सतत प्रवर्तित अशेष जीवोंके पाप–ताप–नाशकी प्रक्रिया चलती रहती है। इसी भाँति सर्वत्र एवं सर्वकाल श्रीकृष्ण–प्रीतिनिमग्न

रहते हुए आप भले ही साक्षात् श्रीकृष्णके भक्तिरूपमें ही रूपान्तरित हो गये, लेकिन आपके द्वारा प्रवर्तित कृति–कीर्ति निस्सन्देह अजर–अमर बनी रहेगी।

निर्धन भक्त धन्य वे जिनके उर में सदा भक्ति का वास।
प्रेमबद्ध हरि धाम त्याग निज दौड़े आते जिनके पास॥
समदर्शी, निर्वैर, शान्त, मुनि, ध्यानमग्न, निष्काम–चरित्र।
जिनके हरि रहते अनुगत पदरज से होने स्वयं पवित्र॥५४॥

सकल भुवनमध्ये निर्धनास्तेऽपि धन्या
निवसति हरि येषां श्रीहरेर्भक्तिरेका
हरिरपि निज लोकं सर्वथातो विहाय
प्रविशति हृदि येषां भक्तिसूत्रोपनद्धः

(पद्मपुराण)

निरपेक्षं मुनि शान्तं निर्वैरं समदर्शिनः।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यंघ्रिरेणुभिः॥

(श्रीमद्भागवत्)

धन्य हैं वे भक्तगण जो लोककी दृष्टिमें भले ही निर्धन हों किन्तु जिनके हृदयमें परम धनरूपा श्रीहरिकी भक्ति संचित रहती है। उनकी प्रीतिरज्जुसे बँधे श्रीहरि अपना गोलोकधाम त्यागकर उनके पास दौड़े चले आते हैं। श्रीभगवान् अपने श्रीमुखसे कहते हैं — "मेरे कामनाशून्य, मननशील, शान्त, प्राणिमात्रसे अद्रोह रखने वाले तथा

समदर्शी भक्तोंके पीछे–पीछे तो मैं स्वयं इस लोभसे डोलता रहता हूँ कि कहीं उनकी चरणरज मुझपर पड़ जाय तो मैं पवित्र हो जाऊँ।"

संत कृपा अनवरत बरसती सदा अमोघ, असीम, अबाध।

संताश्रय से हम जीवन का चरम लक्ष्य लेते हैं साध॥

संतों की करुणा से जन की रहती है जीवन की टेक।

अतः संत ही हैं परमाश्रय, जगरक्षक, अवलम्बन एक॥५५॥

न च प्रसादः सत्पुरुषेषु मोघो

न चाप्यर्थो नश्यति नापि मानः

यस्मादेतन्नियतं सत्सु नित्यं

तस्मात् सन्तो रक्षितारो भवन्ति

(महाभारत, वनपर्व)

भगवान् अनन्त करुणामय हैं। जगत्के जीवोंपर कृपा करनेके लिए समय–समयपर प्रत्येक स्थलमें संतजनोंका अवतरण होता रहता है। संतोंकी कृपा अमोघ होती है, कभी निष्फल नहीं होती, वह सीमारहित होती है तथा उसे कोई रोक नहीं सकता। हमें अपने चरम लक्ष्य — भगवत्प्राप्ति अथवा भगवत्प्रेमकी प्राप्ति संतोंके आश्रय द्वारा ही हो सकती है। सन्तोंके आश्रित जन जिस बातका आग्रह कर लेते है संतोंकी कृपाके बलपर ही वह पूरा हो पाता है। अतः जीवमात्रके लिये संत ही आश्रय लेने योग्य हैं, संसारकी रक्षा करने वाले हैं तथा हमारे एक मात्र अवलम्बन हैं।

बहु जन्मार्जित पुण्योदय से संतसंग जब होता प्राप्त।

तब हटता अज्ञानजनित मद, मोह–तिमिर अन्तरमें व्याप्त ॥

नवजीवन प्रभात होता है, उगता है विवेक का भानु।

करे सन्तजन–कृपा हमारे जीवन में नव स्वर्ण–विहान ॥५६॥

भाग्योदयेन बहु जन्म समार्जितेन

सत्संगमं च लभते पुरुषो यदा वै।

अज्ञान हेतु कृत मोहमदान्धकार

नाशं विधाय च सदोदयते विवेकः ॥

(पद्मपुराण)

अनेक जन्मोंके पुण्योदयसे ही जीवको संतोंका सान्निध्य प्राप्त होता है। संतोंके संगसे जीवका अज्ञानजनित अभिमान दूर हो जाता है तथा अन्तरमें व्याप्त मोहका अँधेरा हट जाता है। संतोंके मिलनके पश्चात् जीवनका नवीन रूपसे शुभ प्रारंभ होता है तथा विवेकका सूर्य जगमगाने लगता है। हमारी अभिलाषा है कि सन्तजनोंकी कृपा हमारे जीवनमें नवीन स्वर्णिम सूर्योदय बनकर अवरित हो।

भरत सरिस को राम सनेही

(डॉ० श्रीमती राधा भालोटियाजी)

राम पेम भाजन भरतु बड़े न एहिं करतूति।

चातक हंस सराहियत टेक विवेक विभूति॥

आनुगत्यका उद्भव सम्भव है — स्वातन्त्र्य, स्वेच्छा, निज–सुख–लालसा एवं अहंता–बोध तिरोधानके बिन्दुपर ही। सकल कल्मषनाशिनी प्रवाहिणी प्रवहमान होती ही हैं औढरदानी आशुतोषके जटाजूटसे — जहाँ अशिवको स्थान नहीं ! अखिलभुवनसमर्थ जगदाधारके पाद–किंजल्कसे — जहाँ कामना–कलंकका प्रवेश नहीं !! अनुसरण–अनुगमन–अनुशीलनकी इस त्रिपथगाका कल–कलरव भी सुन पड़ता है सर्वात्म–समर्पणकी सीमारेखापर; अनुभूत होता है इसका शैत्य अहंके ध्वंसपर !!! कदाचित् कोई बड़भागी बह चले उन ऊर्मियोंके साथ प्रवाहकी दिशामें संतरणके लिये नहीं, डूबनेके लिये नहीं। अपितु अठखेलियाँ करते हुए केवल लहरोंके साथ–साथ, पीछे–पीछे रहनेके लिए; उसे गन्तव्य तक पहुँचानेका दायित्व स्वीकार कर लेती हैं पुण्यसलिला जाह्नवी स्वयं.....। अपनी रुचिके अनुसार कभी कूलके जलमें, कभी मध्यमें, कभी तटपर, कभी भँवरमें, कभी डुबाते, कभी उतराते ले चलती हैं वे उसे अपने अंकमें समेटे निर्बाध–निरवधि। जलनिधिसे मिलन है सरिताका सहज स्वभाव और नील रसोदधिमें निमग्न होना है भागवत–जीवनकी एकमात्र आकांक्षा .....। दो प्रखर धाराओंका यह समीकरण — प्रेष्ठ–मिलनकी प्रबल–प्रबलतम अभिलाषा मार्गमें आये पाषाण–प्रस्तरोंको, गिरि–उपत्यकाओंको, वन–मरुधराको नहीं देखती — उसे तो बहते रहना है। यही है उसकी नियति, उसकी निष्ठा। सागर तो नित्य प्रतीक्षारत है ही.....।

आनुगत्यके ऐसे अप्रतिम मूर्तिमंत स्वरूपके दर्शन किये है मैंने जिसकी अमिट छाप मेरे मनपर अंकित है। उस क्षण सहज भाव उत्थित होता — “तुम सम केवल

मूर्तिमंत आनुगत्य पूज्य श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी (अन्तिम रुग्णताके समयका चित्र)

तुम्हीं एक हो" सत्य ही तो है — किसकी सामर्थ्य है भगीरथके अतिरिक्त जो उतार लाये माँ भागीरथीको इस धरित्री पर.....? वह तो कोई विरला ही होता है।

पूज्य नानाजी–बाबाकी कर्म एवं साधनाकी शुभदा–वरदा स्थलीके इतिहासकी जिल्दमें ऐसा स्वर्णिम पृष्ठ है — परमभागवत श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी, जिनका मूल्यांकन शब्दोंसे सम्भव नहीं।

सन् १९२८ के प्रारम्भमें आपने बीकानेरमें पूज्य नानाजी (परम पूज्य भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)–के प्रथम दर्शन किये और उस प्रथम समागमने ही उनके मनपर ऐसा गहरा प्रभाव डाला कि उत्तरोत्तर उनके निकट सम्पर्कमें रहनेकी उनकी लालसा प्रबल–प्रबलतर होती चली गयी और कुछ ही दिनोंकी ऊहापोहके बाद आपने यह निर्णय ले लिया कि सबकुछ छोड़कर शेष जीवन इनकी छत्रछायामें बिताना ही जीवनकी कृतार्थता है। जागतिक सम्पूर्ण उत्तरदायित्वोंकी समीचीन व्यवस्था करके सर्वत्यागकी पृष्ठभूमिपर सदा–सर्वदाके लिये गोरखपुर आकर पूज्य नानाजीके सामीप्य–लाभका यह मनोरथ पूर्ण हो सका सन् १९३३ में।

मोहकी सम्पूर्ण बेड़ियोंको काटकर उस विश्वरूपने कर दिया गृहत्याग और आ पहुँचा उन श्रीचरणोंमें जो थी उसकी नित्य निवास–स्थली। स्वगृही बन गये सारे ग्रह–नक्षत्र.....। पुलक छा गई अंग–संस्थानोंमे, आनन्दरसोदधिमें निमग्न हो गया मानस। पतिके रंगमें ही रंगी हुई थी आदर्श सहगामिनी, सहधर्मिणी सती सरयू देवी देवी.....। ....पतिके मुखकी उत्फुल्लता आनन्द–मग्न कर रही थी उसके हत्तलको।

असुविधा, काठिन्य, संघर्ष, अर्थाभाव, विपत्ति, जैसे दुर्ग धराशायी हो गये क्षणार्धमें आनन्दकी उन उत्तुंग ऊर्मियोंके स्पर्शसे। वरेण्य रह गया केवल प्रेष्ठका सामीप्य, सीमाबद्ध हो गया सम्पूर्ण क्रिया–कलाप प्रेमास्पदके सुख–सम्पादनमें।

राजकीय सेवासे, सुखके सम्पूर्ण उपकरणोंसे, सुखद अर्थव्यवस्थासे स्वयंको वियुक्तकर, जीर्ण–शीर्ण गोबर–माटीके भित्ति–वृत्तमें निर्माण करने लगे गोस्वामी–दम्पत्ति अपना नवीन नीड़, जहाँ भौतिक वैभव, सुख–विलास था सर्वथा सर्वांशमें हेय.....। अवश्य ही उस नीड़–निर्मितिमें नीवका पत्थर था भाव–बाहुल्यका वैभव जिसका स्वामी होनेपर शेष नहीं रह जाता कुछ भी पाना !

पूज्य नानाजीको अग्रज एवं पूज्या नानीको भाभीजीके रूपमें स्वीकार कर लिया दम्पतिने अपनी सम्पूर्ण सत्ताके साथ। परिवारकी परिधि बन गया यह सम्बन्ध मात्र ! अवश्य ही, रक्त–सम्बन्धियोंके प्रति अपने उत्तरदायित्वके निर्वाहमें कहीं शिथिलता नहीं आई। चलने–फिरनेमें असमर्थ माता एवं दो विधवा बहिनोंकी सेवामें कोई कसर उठा नहीं रखी उन्होंने। गोदमें उठाकर, मल–मूत्र त्याग कराने जैसे कार्योंमें भी कभी अरुचि नहीं आई उनके मनमें।

जागतिक यह सेवा तो स्पष्ट थी ही, परमार्थके राजमार्गका पथ भी प्रशस्त कर दिया उन सबके लिये अपनी इस सेवा–सुश्रूषा तथा समर्पणके माध्यमसे..। चरितार्थ कर दिया गोस्वामी तुलसीदासकी उक्तिको —

सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत।

श्री रघुबीर परायण–जेहि कुल उपज विनीत।।

नानाजीके परिवारके साथ उत्तरोत्तर यह स्नेह–बंधन दृढ़–दृढ़तर होता चला गया।

निःसंतान दम्पतिने नानाजीकी एकमात्र पुत्रीको ग्रहण कर लिया अपनी पुत्रीकी भाँति ही। उनके स्नेह–रज्जुमें बालिका (सावित्री बाई — मेरी माँ) भी आबद्ध हो गयी पूर्णरूपेण। चाचोजी और चाचीकी क्रोडमें क्रीड़ा करनेमें उसे कोई संकोच न रहा

पूज्य श्रीगोस्वामीजीकी माताजी श्रीमती चन्द्रकला देवीजीकी सेवामें तत्पर श्रीमती राधा भालोटियाजी

पूज्या श्रीमती सावित्रीबाई फोगला बाल्यावस्थामें

। वे दोनों भी उसकी रुचिका अनुमोदन करते, उसके बालसुलभ चांचल्यको देखकर आनन्दित होते । क्रमशः यह प्रगाढ़ता बढ़ती चली गयी और बालिकाने चाचीको कहना प्रारम्भ कर दिया — "दिनकी माँ"। रात्रिमें 'माँ' नानी और दिनमें 'माँ' गोस्वामीजीकी पत्नी 'छोटी नानी' ।

कल्याण–सम्पादनके नानाजीके कार्यमें साथ अविराम योगदान करने लगे गोस्वामीजी। अंग्रजी, हिन्दी और संस्कृतका ऐसा उद्भट विद्वान उनके अतिरिक्त दूसरा नहीं था गीतावाटिकामें । १९३४ में अंग्रेजी मासिक — कल्याण–कल्पतरुका प्रकाशन आरम्भ हो गया । नानाजीकी रुचिके अनुरूप अन्य भी विभिन्न ग्रन्थोंका आपने अंग्रेजीमें अनुवाद किया जिनमें श्रीमद्भागवत, बाल्मीकि रामायण एवं षोडशगीत प्रमुख हैं।

नानाजीकी रुचिको अनुसरण करनेकी जैसी अदभुत दक्षता गोस्वामीजीको प्राप्त थी वैसी अन्यत्र देखनेको नहीं मिली । नानाजीने समर्पणको परिभाषित किया है इन शब्दोंमें —

"समर्पण है तो बहुत ऊँचे दर्जेकी चीज पर है जरा कठिन । इसमें सबसे बड़ी कठिनाई है अपना अलगपन रखना।"

"पूर्ण समर्पणसे पहले तीन चीज और होती हैं — आज्ञापालन, संकेतके अनुसार चलना और रुचिके अनुसार करना । पहले तो आज्ञापालन भी नहीं होता । फिर आज्ञापालनमें तीन बातें हैं — संकोचसे, लाभ–दृष्टिसे, कर्तव्य समझकर। संकोचसे पालन करनेमें एक मजबूरी होती है, तबतक तो समर्पण कुछ हुआ ही नहीं । फिर लाभकी दृष्टिसे की जाती है, उसके बाद फिर कर्तव्य समझकर। इससे जब आगे बढ़ते हैं तो स्पष्ट आज्ञाकी जरूरत नहीं, संकेतके अनुसार चलने लगते हैं। उसमें संकोच–मजबूरीका प्रश्न ही नहीं है। उसके बाद उनकी रुचि मालुम होने लगती है और सब

कुछ उसके अनुरूप होने लगता है। इन सबके फलस्वरूप फिर स्वभाव ही वैसा बन जाता है। फिर भगवान्‌के मनकी बात स्वतः पता लगने लगती है। इससे पहलेतक जीवन भगवान्‌के अनुकूल तो बन जाता है पर भगवान्‌का नहीं बनता। इसके बाद तो भगवान्‌का मन ही उसका मन बन जाता है। यही है राधाभाव जिसे कोई भी प्राप्त कर सकता है।"

छोटे नानाजी (पूज्य श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी)–के जीवनमें यह स्थिति प्रत्यक्ष थी। होश सँभालनेके बादसे मैंने नानाजी और छोटे नानाजीका यही सम्बन्ध सदा पाया। कभी हलकी–सी भी अन्यमनस्कता किसी समय–परिस्थितिमें नहीं देखी नानाजीके मुखपर छोटे नानाजीके लिये। अपने प्रवचनोंमें वे उनकी प्रशंसा करते नहीं अघाते थे। नानाजीने स्वयं इसे स्वीकार किया है — "जैसा समर्पण गोस्वामीजीका मेरे प्रति है, दूसरे किसीका नहीं है।"

जागतिक प्रपंचोंसे सर्वथा दूर रहकर "स्वकर्मणातमभ्यर्च्य" की जीवनशैलीको अपनाकर भगवान्‌का भजन–चिंतन–स्मरण–संकीर्तन तथा नाम–जपमें शेष समयका विनियोग ही रुचि थी उनकी । ऐसे साधकका समाचार–पत्रोंसे, देश–विदेशकी खबरोंसे क्या वास्ता ? छोटे नानाजी कभी अखबार नहीं पढ़ते — यह बात नानाजीने अनेकों बार अपने सत्संगमें मुदित–कण्ठसे दुहराई। शिखा–सूत्रसम्पन्न, खादीधारी, बल्लभसम्प्रदायकी मर्यादाका पालक, धीर–गंभीर वह निज परिकर वास्तवमें 'अमानिनामानदेन' था। 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' उसके जीवनका मूलमंत्र था। 'तत्सुखेसुखित्वं' प्राणवायु था और 'अद्वेष्टासर्वभूतानां' था अप्रतिम व्यक्तित्व। 'सम्मानं कलयाति घोर गरलं' यह श्रीचैतन्यदेवका साधनसूत्र था उसका पथ। सहज चंचलाके उपासकोंकी गीतावाटिकामें आने वाली भीड़में वह उज्ज्वल व्यक्तित्व सदा–सर्वदा अलग ही दीख पड़ता था। लक्ष्मीप्रियसे नहीं थी उनकी प्रीति,

उन्हें तो प्यारे थे वे सभी प्राणि–पदार्थ जो प्रिय थे उनके अग्रज (परम पूज्य श्रीभाईजी)–को। बस, इससे अधिक कुछ नहीं, इससे आगे कुछ नहीं ! भागवतमें लिखा है — 'विना महत्पादरजोभिषेकम्' — महात्माओंकी चरणधूलिको मस्तकपर छिड़के बिना कल्याण नहीं होता। गोस्वामीजीने इसे ज्यों–का–त्यों हृदयंगम कर लिया था। आपने अपना उपनाम ही स्वीकार कर लिया था — 'भक्तोंकी चरण–रज'।

सरस्वतीके इस वरदपुत्रकी लेखनीमें जो बल था, शास्त्र–ज्ञानकी जो गरिमा थी, भाषाओं, व्याकरणपर जैसा विशिष्ट अधिकार था और हृदयमें जैसी मधुरता थी उसीके समानान्तर था मधुर कण्ठ। नयन मूँदकर, भुजा उठाकर जब वे संकीर्तन अथवा पदगायनमें आलाप लेते, श्रोता मंत्रमुग्ध हो जाते। वातावरण माधुर्यसे ओत–प्रोत हो उठता..... वस्तुतः कण्ठ तो सुमिष्ट था ही — परन्तु गायन करते थे वे हृदयकी तन्मयतासे, सर्वथा–सर्वांशमें डूबकर रसमें और क्षरण होने लगता था मधुका।

गोस्वामीजीके गोरखपुर आनेके ३ वर्ष बाद आगमन हुआ श्रीराधाबाबाका। पूज्य नानाजीके स्पर्शके विस्मयकारी प्रभावने 'सोऽहं' के साधकका चोला बदलकर प्रतिष्ठित कर दिया उन्हें योगीन्द्र–मुनीन्द्र–दुर्लभ व्रजभावके पुरोधाके रूपमें। स्वयं चतुर्मुख, उद्धवादि जिस व्रजमें 'लतागुल्मौषधि' बननेकी लालसा सँजोये रहते हैं उस व्रजभावके अक्षय अतुल कोषकी — 'स्वामिनी' बना दिया राधाभावित–मति उस गैरिकवसन युवक संयासीको स्वयं व्रजेन्द्रनन्दनस्वरूप पोद्दारजीने। उन्मुक्त भावसे उसका वितरण किया उस वीतरागने — "अधिकारी–अनधिकारीका चयन नहीं है यहाँ — जिसकी झोलीमें जो समाये ले जाय — यहाँ दानमें कार्पण्य नहीं, अपनी ग्रहणकी क्षमता तौल लो।" इन्हीं तराजू–बटखरोंपर तुला करता था इस प्रदेशमें व्रजभाव; जिसकी अन्यत्र कल्पना करना भी सम्भव नहीं 'न भूतो न भविष्यति'।

अब राधा–बाबाके जीवनका सम्पूर्ण सार–सर्वस्व बन गये थे पूज्य नानाजी। उनका सामीप्य, उनका दर्शन, उनकी वाणी–श्रवण, उनकी रुचिसम्पादन ही बन गयी थी बाबाकी साधना, तपस्या। पूज्य नानाजीकी पार्थिव स्थूलदेहमें नित्य प्रतिष्ठित अपने व्रजेन्द्रनन्दन प्रभुके दर्शन अनवरत होते रहते थे और अपने प्रेष्ठके प्रति उत्तरोत्तर वर्द्धमान प्रगाढ़ तन्मयता अभिभूत किये रहती थी उनको। गोस्वामीजी नानाजीके अभिन्न सहयोगी थे अतः वे भी निकट–निकटतर होते चले गये राधा–बाबाके। शनैः–शनैः नानाजी–बाबाके अविच्छिन्न ऐक्यने गोस्वामीजीको प्रबल अनुयायी बना दिया बाबाका। सहज गम्भीर नानाजीने भी अपने परिवारतककी दैनिक समस्याओंके समाधानका दायित्व डाल दिया था बाबाके कंधोंपर—। गोस्वामीजी भी उससे अछूते नहीं रहे। वे भी व्यवधानरहित मानससे परिवारकी, स्वजनोंकी सारी व्यवस्थाके सम्बन्धमें परामर्श ग्रहण करने लगे बाबासे।

कालान्तरमें यह स्थिति ऐसी बन गयी कि वयका संकोच समाप्त हो गया। प्रौढ़ मनीषी गोस्वामीजी और उद्भट विद्वान् युवक संयासी मित्रवत विनोदका आचरण करने लगे। ज्ञानाकाशके दो जाज्वल्यमान नक्षत्र जब ज्ञान–साहित्यपर विमर्ष करते तब स्तम्भित हो उठती थीं दिशाएँ। दोनों योद्धाओंमें पराजित होना नहीं जानता था कोई भी। अतः सत्य सिद्धान्तका स्थापन करके ही विश्राम लेते थे दोनों, और उस दोहनसे प्राप्त नवनीत अप्रतिम–निधि है परमार्थ–पथके पथिकोंकी।

बाबा विनोदमें कहा करते थे — "गोस्वामी प्रभु बूढ़ा बैल हैं — पुस्तकोंके, ज्ञानके भारसे दबे रहते हैं।" बाबाकी इस उक्तिको सुनते ही गोस्वामीजीके उन्मुक्त–हास्यसे वातावरणमें आनन्दकी गूँज व्याप्त हो जाती थी। विस्मय, मौग्ध्य और हर्षानुभूतिसे भर उठते थे आस–पास उपस्थित सभी प्राण।

वीणापाणिकी सहज कृपा थी बाबापर। अप्रतिम प्रतिभाके धनी थे वे, अदभुत प्रभावोत्पादक थी उनकी लेखनी और वक्तृता। संगीत, साहित्य और कलामें नैसर्गिक रुचि थी उनकी। घंटों साहित्य–शास्त्र–चर्चा होती रहती थी और परस्पर विचार–विनिमयसे बिखरी ज्ञान–मणि–मुक्ताओंसे नित्य उर्वरा रहती थी साहित्य–भूमि।

बाबा प्रायः मुझसे कुछ–न–कुछ लिखवाया करते थे। वे अपने विचारोंको व्यक्त कर देते और उसे लिपिबद्ध मुझसे करवाते। उनके द्वारा मेरे मानसमें अपने विचारोंके वपनका ही अमोघ प्रभाव यह था अथवा थी उनकी मेरे प्रति आत्यन्तिक ममता ..... मेरा प्रयास सदा ही उन्हें प्रिय, मनभावन लगता। मुक्त कंठसे सराहना करते वे उसकी, जबकि सत्य यह था, है —

"ह्वै समर्थ मोहि दीनि बड़ाई, राधे कृपा तुम्हारी"

ऐसा ही था अप्रतिम बाबाका स्नेह। मेरे द्वारा लिखे उस आलेखमें विराम चिह्नोंकी यथास्थान संयुक्तिका भार बाबा डालते थे छोटे नानाजीपर। विराम–चिह्नादिकी सांगोपांग व्यवस्था लेखनमें अनिवार्य मानते थे बाबा। गोस्वामीजी सुदक्ष थे उस कलामें। बाबा कहते — "गोस्वामीजी महाराज ! इसमें 'पंक्चुएशन' ठीक कर दीजिये, संपादन मत कीजियेगा।" उसी खनखनाहट भरी हँसीके साथ स्वीकृतिकी मुद्रामें ग्रीवाको हिलाकर वे आरम्भ कर देते थे अपना काम। मैं भी वहीं उपस्थित देखती रहती थी .....। एक बार उन्होंने मुझसे कहा — 'बेटी ! यहाँ तुमने प्रत्यय तो लगाया ही नहीं ?' न जाने किस रौ मे मैं कह बैठी — "छोटे नानाजी ! सब बातें लिखी थोड़े ही जाती हैं, कुछ पढ़ी भी जाती हैं", लेखनी भूमिपर रखकर ऐसा खिलखिलाकर हँसना उन्होंने प्रारम्भ किया कि कुछ क्षणों तक हँसते ही चले गये फिर बाबाको आकर बोले — "बाबा ! बेटी राधा कहती है — सारी बातें लिखी थोड़े

ही जाती हैं, कुछ पढ़नी भी पड़ती हैं।" बाबा भी जोरसे हँस पड़े .....। बाल-सुलभ-चपलताके उन क्षणोंको ऐसे निरुपम स्नेहसे सिंचन करने वाले अब कहाँ ? निधिके रूपमें रह गई हैं अब तो वे स्मृतियाँ मात्र।

नानाजीके सभी कार्योंमें सदा सहयोगी रहते थे छोटे नानाजी। सन् १९५६ में तीन महीनेके लिये तीर्थयात्रा स्पेशल ट्रेन लेकर लगभग ६०० व्यक्तियोंके साथ नानाजीने ३ महीनोंके लिये भारतके अधिकांश तीर्थोंमें भ्रमण किया, दर्शन किये। गोस्वामीजी भी साथ थे ही। यथासमय ट्रेनके स्टेशनपर रुकते ही प्लेटफार्मपर उतरकर गोस्वामीजी अपने सुमधुर कण्ठसे विश्वरूप प्रभुका वन्दन करते-प्रणाम करते उन्हें —

कर प्रणाम तेरे चरणोंमें लगता हूँ अब तेरे काज,

पालन करनेको आज्ञा तव मैं नियुक्त होता हूँ आज।

अन्तरमें स्थित रहकर मेरी बागडोर पकड़े रहना,

निपट निरंकुश चंचल मनको सावधान करते रहना.....।

सम्पूर्ण तीर्थयात्री स्टेशनसे बाहर निकलते थे उस उद्बोधनके उपरान्त ही। करणीयकी सम्पूर्ण सीमा, उसका क्षेत्र निर्धारित कर देते थे नानाजीके इस पद द्वारा गोस्वामीजी—जिससे कोई भूल न जाय राह, हो न जाय कोई पथ-भ्रष्ट — दिशा दिखला देते थे वे हाँ, जीवगत वैयक्तिक स्वातन्त्र्यका स्वामी तो प्रत्येक प्राणी स्वयं ही है। उन्होंने अपने कर्ममें कहीं शिथिलता नहीं आने दी। शेष जानें सुननेवाले — करने वाले।

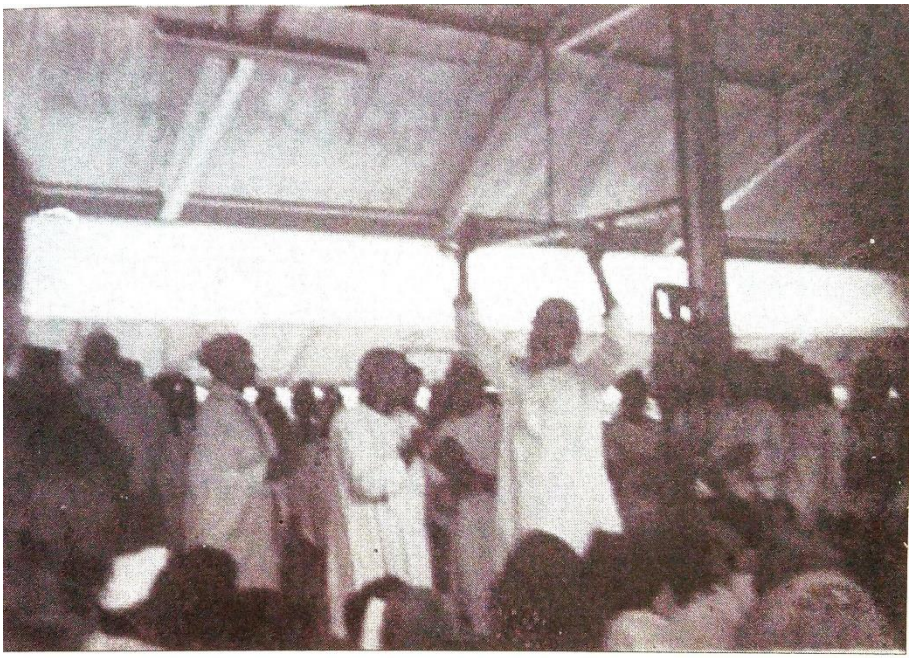

तीर्थयात्रा ट्रेनमें स्टेशन पर

विभिन्न स्थान, नगर–वीथियाँ तुमुल हरिनाम–ध्वनिसे उद्घोषित हो उठती थीं। कार, जीप आदिमें नानाजीके पार्श्वमें खड़े आँखें मूँदे गोस्वामीजी संकीर्तन करते रहते थे, भवन–अटारियोंसे पुष्पवृष्टि होती — पर उस निर्विकारकी इन्द्रियाँ तन्मय रहती नाम–गायनमें। वृत्तियाँ लगी रहतीं कलिकालके अभिनव–चैतन्य अग्रज भाईजीकी सामीप्य–सुखानुभूतिमें। उनका बाहरी परिवेशसे क्या वास्ता ? भाईजीकी नाम–प्रचारकी रुचि है, और मुझे यन्त्र रूपमें स्वीकार किया है — इत्यलम्। इससे आगे–पीछे कुछ भी सुनने–समझनेकी स्पृहा संस्पर्शित नहीं करती थी उन्हें। उनकी निष्ठा थी — नामगायन–प्रेरककी रुचिमें, प्रपंचका, आत्मश्लाघाका प्रवेश नहीं था उस क्षेत्रमें।

नानाजीद्वारा प्रवर्तित सभी उत्सवोंमें सदा इसी भाँति सम्मिलित होते थे वे। पूजन–समर्हण, गायन–संकीर्तन — जहाँ जब जैसी आवश्यकता होती, तत्पर हो जाते उसीमें —

"तुम करवाओ कहलाओ मुझे नचाओ निज इच्छानुसार।"

— था चिम्मनलालजीका पर्याय।

राधाष्टमी–महामहोत्सवमें दधिकाँदोंके दिन जब ढाढ़ी भानुराय श्रीवृषभानुजी और मैया कीर्तिदाके द्वारपर गुहार लगाते। नट–नटी अपनी विभिन्न वेषभूषाओंमें नाचते–गाते। गोस्वामीपादके केशविहीन दीर्घशिखाशोभित शीशपर भी कोई चुनरी डाल देता और कह भर देता — "चलो वृषभानु गोप के द्वार" — हाथोंसे उस चुनरीको थाम, घूघट निकालकर हो लेते वे उसीके साथ अपने वार्धक्यको भूलकर नाचते–गाते ! कीर्ति, सम्मान, वैदुष्य, वय सबकी तथाकथित शालीनता अर्थहीन हो जाती थी उनकी दृष्टिमें ....। वृषभानुगोपके द्वारपर जानेके लिये ही तो आये थे वे, इसीलिये बाबाने सँभला दी थी उन्हें "ब्रजभावकी कुञ्जी" जिसका समर्थन कर दिया था नानाजीने।

श्रीराधाष्टमीमें श्रीराधाकृष्ण–स्वरूपकी आरती करते पूज्य श्रीगोस्वामीजी (श्रीराधा–स्वरूप — श्रीमती ललिता गोस्वामीजी, श्रीकृष्ण–स्वरूप — श्रीमती कनकलता गोस्वामीजी)

श्रीराधाष्टमीमें दधिकर्दमोत्सवके अवसरपर पदगायन करते पूज्य श्रीगोस्वामीजी

श्रीराधाष्टमीमें दधिकर्दमोत्सवके अवसरपर पदगायन करते पूज्य श्रीगोस्वामीजी

दधिकर्दमोत्सवका चित्र

कट्टर वल्लभकुलकी सम्पूर्ण मर्यादाओंका अक्षुण्ण पालन करने वाला वह वल्लभसम्प्रदायी नामके लिये सम्प्रदायमें दीक्षित नहीं था। उसका अन्तर लालायित था अपने प्राणवल्लभसे मिलनेको ! लक्ष्य स्थिर था उसका केवल उसी बिन्दुपर जहाँ इतिश्री हो जाती है सम्पूर्ण विवेकाविवेककी, आर्यपथकी।

'एकै साधे सब सधै सब साधै सब जाय।'

गोस्वामीजीकी सारी कुलपरम्पराके धर्म, कर्मकाण्ड, शौचाशौचके आचार-व्यवहार पर्यवसित हो चुके थे नानाजी-बाबाकी रुचिमें .....

तावद् रागादयः स्तेनास्तावद् कारागृहं गृहं ।

तावन्मोहोङ्घ्रिनिगड़ो यावत् कृष्ण न ते जनाः ॥

'कृष्ण ते जनाः' होनेकी स्थितिके पूर्व ही तो आचार-विचारकी उपस्थिति सम्भाव्य है।

गोस्वामीजी थे उसी श्रेणीके व्यक्ति। व्रजेन्द्रनन्दन स्वयं उनके अपने हो चुके थे — अतएव सहज ही समग्र व्रजप्रदेश उनका अपना, व्रजपुरवासी उनके अपने, व्रजके बालक अपने, व्रजके विहंगम-चतुष्पद उनके अपने .....। अब अलगाव-विलगाव रहा कहाँ ? नानाजीके परिवारके साथ भी वैसी ही घनिष्ठता थी दम्पतिकी।

नानी शीलका एक झीना पर्दा, हलका-सा घूँघट रखती थीं गोस्वामीजीसे उनके आगमनका समाचार पानेपर अस्तव्यस्तताके स्थानपर तनिक संयतता अभिप्रेत रहती थी उन्हें । गोस्वामीजी भी उसी परिधानसे अवगुंठित रहकर आकर बैठ जाते कुशलक्षेमका आदान-प्रदान होनेके बाद ही सहज देवर-भाभीकी अनुराग-जन्य मधुरिमा प्रतिभासित होने लगती।

बालिका सावित्री माँ और चाचाजीके बीच बैठकर अपने विशेषाधिकारसे गोस्वामीजीके साथ चपलता करने लगती, तब नानी उसे कभी डाँट देती — "मान कोनी के ? क्यूँ तंग कर चाचोजी न।"

बालिकाका मुख म्लान हो उठता, उसके आनन्दमें व्यवधान आ जाता। अविलम्ब गोदमें उठा लेते उसके परमप्रिय चाचाजी और तनिक रोषकी मुद्रामें उसका पक्ष लेकर कहते नानीसे — "भाभीजी, क्यूँ लड़ो बड़े थे छोरी न, टाबर है।" मुस्कराकर घूँघटमें ढँकी स्नेहपूर्ण आँखोंसे देखती नानी अपने देवरकी ओर फिर उपालम्भ देती मीठे स्वरमें — "थे दोनें भाई — बाप और चाचो ही तो बिगाड़ो ईन। पढ़ावो क्यूँ कोनी थोड़ी-भोत। सारै दिन सिरपर चढ़ाई राखो।"

मुस्कुराकर अपनी छोरीके सिरपर हाथ रख देते गोस्वामीजी और कहते — "थान बेरो कोनी भाभीजी। या भोत स्याणी है — पढ़ भी है — थे चिन्ता मत करो, सौ क्यूँ पढ़ लेसी।"

वातावरण पुनः आनन्दसे भर उठता बालिका हँस पड़ती अपनी गौरवगाथा सुनकर और साथ ही मुस्कुराने लगते देवर-भाभी भी। नानाजीसे भी कोई बात कहनी होती तो यदा-कदा नानी छोटे नानाजीसे ही कहती — "कह दियो थार भाईजी न — थे जाणो और ब जाण।" कभी नानाजी उपस्थित भी रहते तो सुनकर स्मित व्यक्त हो उठता उनके मुखपर।

उस क्षण सहज ही मानसमें उदय हो उठता अयोध्याकांडका वह प्रसंग जहाँ ग्राम-बधुएँ पूछती हैं जगदम्बा सीताको —

राजकुँअर दोउ सहज सलोने ...।

सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे ?

सकुच–प्रेम–संयुक्त मधुर स्वरमें उत्तर देती जगज्जननी जानकी —

सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नाम, लखन, लघु देवर मोरे॥

बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितई भौंह करि बाँकी॥

खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सियँ सयननि॥

लम्बे घूँघटमें अपना मुख छिपाये निकट ही सकुचाई–सी खड़ी अनुज–वधू सरयू देवी अपने आनन्दको अपनेमें ही समेटे मौन–पुलकित होती रहतीं .... अनुपम थे वे क्षण ...। इस स्थितिको सहज बना देती बालिका सावित्री ! दौड़कर लिपट जाती चाची–चाची कहते हुए अपनी चाचीसे और झुककर उसे कण्ठसे लगाकर निहाल हो जाती चाची।

बाबूजी और चाचाजीकी परम प्रिय एकमात्र पुत्री सावित्रीका शुभ विवाह निर्धारित हुआ रतनगढ़में। नानाजीके बृहत् साहित्य, धर्म–प्रवर्तन, समाज–सेवाके परिवारसे भी विभिन्न स्थानोंसे अनेक महानुभाव पधारे। नानाजी और उनके अनुयायी अनुजकी व्यस्तता देखते ही बनती थी। इधर महिलाओंमें आनन्दातिरेकमें डूबी उलझी रहती थी नानी और छोटी नानी। नेग–रीति, लेन–देन, रंधन, भोजनके सारे व्यवहारोंमें, दाई–नाई, परिजन–पुरजनकी भीड़में, मंगलगीतोंकी लयमें, ज्योनारकी तैयारीमें ! सभी कुछ तो सँभालना था —

हिमवंत जिमि गिरिजा महेसहि हरिहि श्री सागर दई।

तिमि जनक रामहि सिय समरपी बिस्व कल कीरति नई॥

—के दृश्यकी ही तो पुनरावृत्ति थी वहाँ ..... पुत्रीकी विदाईके समय विदेहराज अपने स्वरूपको विस्मृत कर गये थे।

लीन्हि राय उर लाइ जानकी। मिटी महा मरजाद ग्यानकी॥

यहाँ नानाजीकी रोते-रोते हिचकियाँ बँध गयी थीं। तनिक प्रकृतिस्थसे होकर छोटे नानाजीने जामाताके कानमें मंत्र फूक दिया — 'परिवार पुरजन मोहि राजहि। प्रानप्रिय सिय जानबी॥'

झरती बूँदोंसे सिक्त कण्ठसे लगाकर फूट-फूटकर रोती अपनी दुहिताका हाथ थमा दिया जामाताके हाथमें। अवश्य ही आँखे बरस रही थीं और होठोंपर थी मुस्कानकी बाध्यता .....। दिनकी माँ और रातकी माँका मानो कलेजा निकालकर कोई ले जा रहा हो, दोनोंकी स्थिति थी —

'बिकल मीन गन जिमि लघु पानी।'

बारंबार पुत्रीको हृदयसे लगाती और अंचल-छोरसे आँसू पोंछते हुए आशीषोंकी बौछार करने लगी — 'चिर अहिबात असीस हमारी' ! जागतिक जीवनसे अनभिज्ञ सदा पिता-चाचा, माँ-चाचीकी अतिशय लाडिली बालिका भी भीत-सी हुई बार-बार आकर कभी माँ और कभी चाचीके कण्ठसे लगकर रो पड़ती .....। परन्तु कन्याको पिताके घरका त्याग करना ही पड़ता है। उसपर उत्तरदायित्व है दो कुलोंके पवित्रीकरणका — 'पुत्रि पवित्र किये कुल दोऊ।' विवाह सम्पन्न हुआ। बेटी श्वसुरालय चली गयी। दोनों आवासोंमें सूनापन-सा छा गया। भरी-भरी-सी रहने लगी दोनों दम्पतिकी आँखें। जो अंतरंग व्यक्ति इस विवाहमें सम्मिलित हुए होंगे और जिन्होंने इन दृश्योंको अपनी आँखोंसे देखा होगा इसकी गरिमाका निरूपण वे ही कर

सकते हैं। मैं तो लोगोंसे, अपनी नानी, छोटी नानीसे सुनी बातोंको अपनी जननीके विवाहके प्रसंगोंको यथावत् चित्रित करनेका प्रयत्न मात्र कर रही हूँ।

मेरी माँके हम सब बच्चे उनको बड़े प्रिय थे। हम भी उनसे विनोद करते, उन्हें खिजाते, कभी हँसाते, कभी रोषकी स्थिति उत्पन्न करते। वे कभी लड़ाते, कभी खीजते, कभी पुचकारते हुए हमें अपने अंकसे लगाये रखते। हम लोग ही नहीं, मेरी दोनों संतति वनचन्द्र-श्यामला और पुष्पाके पुत्र-द्वय नीलमणि-उज्जवलमणि तथा सूर्यकान्तकी बड़ी पुत्री-शैवलिनीने भी गोस्वामी-दम्पतिकी उस वात्सल्य-सुधा-धारामें अवगाहन किया है।

परिवारके प्रत्येक पर्व-त्यौहारमें छायाकी भाँति अनुसरण करते दोनों नानाजी-नानीका। हम लोगोंके विवाहके समय प्रत्येक रीति-परम्परा, नेगचारमें नानाजीके साथ छोटे नानाजी और नानीके पीछे छोटी नानीकी तत्परता देखते ही बनती थी। अपने जामाता — मेरे पिताजी परमेश्वरप्रसादजी फोगलाके प्रति उनका स्नेह-सम्मान भी अतुल था। 'कँवरजी' के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बोधन कभी निकला ही नहीं उनके मुखसे .....। दौहित्री-जामाता एवं दौहित्र-वधू भी उनके अत्यन्त स्नेहभाजन थे। उन्हें भी यथोचित स्नेह एवं सत्प्रेरणा वे सदा देते रहते थे। नानाजीकी सशरीर अनुपस्थितिके कारण चन्द्रकान्तके विवाहमें तो प्रमुख ही थे छोटे नानाजी।

वात्सल्य वशीभूत उन्होंने सूर्यकान्तका यज्ञोपवीत संस्कार स्वयं करवाया। और अन्तिम रुग्णताके समय उसके द्वारा की गयी सेवा ही मानो स्वीकार की गुरु-दक्षिणाके रूपमें।

कलकत्तेमें मुझे उनका स्नेह पत्रों द्वारा सदा प्राप्त होता रहता था। बस, इतना ही था यह छोटा-सा परिवार जिसमें यत्र-तत्र स्नेह, ममता, वात्सल्य, समर्पण, आदरके निर्झर प्रसरित थे, जिनके प्रपातकी सुमंगली सुमधुर ध्वनि सहज आकर्षित कर लेती

थी उस पथगामीको और निकट आनेपर अपूर्व शान्तिका अनुभव करता था आगन्तुक ।

बाबाके प्रति आत्यन्तिक प्रीति और श्रद्धा थी छोटी नानीकी । बाबा उन्हें सदा 'मैया' ही कहते थे । गोस्वामीजीसे उनका जो भी सम्बन्ध रहा हो — 'छोटी नानी' उनकी मैया थी । मैयाका भी पुत्रवत अनुराग था बाबाके प्रति । अनेक बार वे बाबाके लिये भिक्षा बनाकर भेजती और बाबा बड़े स्नेहसे, रुचिपूर्वक उसे ग्रहण करते ।

नानाजीसे वे प्रायः सम्भाषण नहीं करती थीं । पतिके अग्रज अपने जेठके प्रति आदरसहित नमन ही था उनका भावार्चन । नानाजीका सत्संग सुननेमें विशेष रुचि थी उनकी । महिलाओंकी भीड़में छिपी–सी रहकर, सलज्ज तनिक घूँघट उठाकर दर्शन कर लेती वे नानाजीके और मनसा–वाचा–कर्मणा अपनी प्रणति ज्ञापन कर देती उन झुकी–झुकी आँखोंसे ही —

'पूजा सदा छिपाऊँ यातै, छिप–छिप छवि निरखू अभिराम ।'

नानाजीके दृष्टिपथमें एक बार आनेपर उसकी गतिविधि, क्रियाकलाप उनसे गोपन रह सके यह तो संभव ही नहीं हो सकता । इस गूढ़ भावसे पूर्ण परिचित थे ही वे, मूक दृष्टिपात द्वारा ही अपना संदेश प्रेषित कर देते थे उस श्रद्धापूत हृदयको !

छोटी नानी थी सच्चे अर्थमें अनुगामिनी — पतिकी सत्ता–समर्पणवृत्तिकी । गौर वर्णा, स्थूलताकी ओर अग्रसर सुडौल देह, स्वच्छ सुरंग परिधान, भालपर सिन्दूरका लाल बिन्दु, सिन्दूरपूरित सीमन्तरेखा, पानसे रचे होंठ और अनुरागरंजित हृदय । प्रायः मध्याह्नमें अपने घरका कार्य सम्पन्न होनेपर वे आकर नानीके पास बैठतीं । उनके साथ उनके कार्योंमें हाथ बँटाती वे । गृहकार्यमें उनकी निपुणता सराहनीय थी ।

पूज्य श्रीगोस्वामीजीके साथ सुश्री शैवालिनी फोगलाजी (श्रीसूर्यकान्त फोगलाजीकी सुपुत्री)

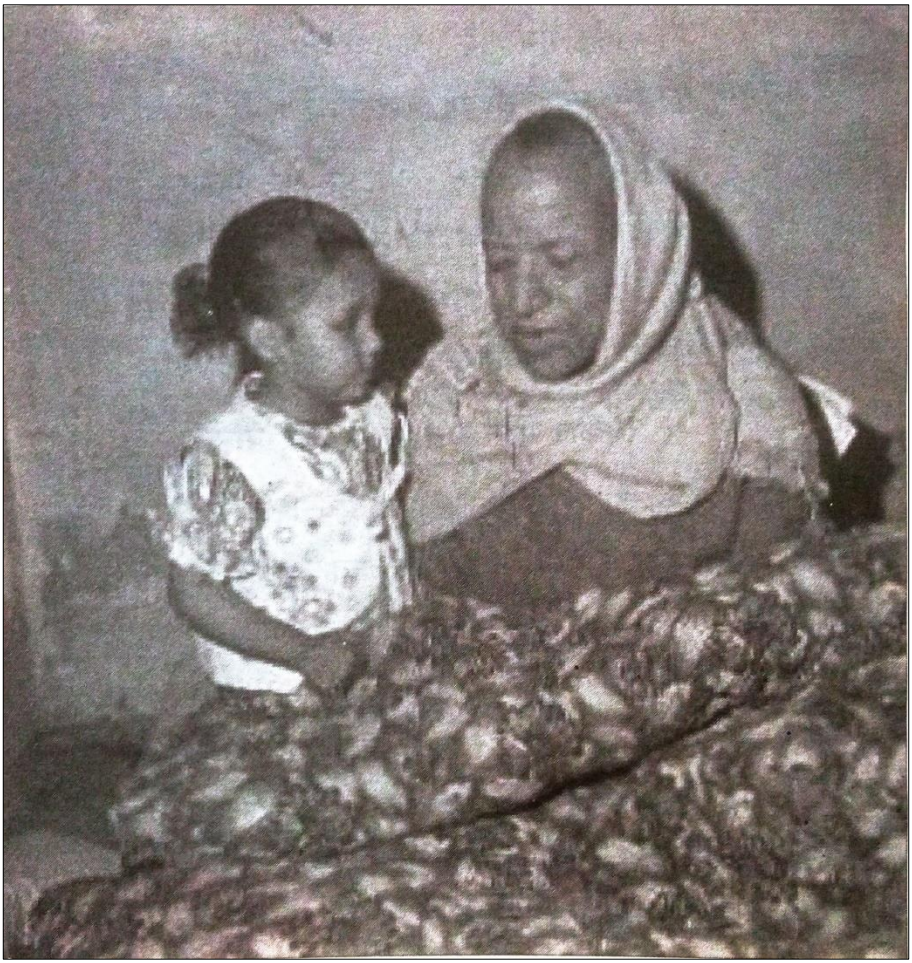

पूज्य श्रीगोस्वामीजीके साथ सुश्री शैवालिनी फोगलाजी (श्रीसूर्यकान्त फोगलाजीकी सुपुत्री)

अपने बच्चोंके विवाहमें पूज्य श्रीगोस्वामीजीको भात न्यौतते हुए पूज्या श्रीमती सावित्रीबाई

श्रीमती राधा भालोटियाजीके विवाहमें तेलबान चढ़ाते हुए पूज्य श्रीगोस्वामीजी

श्रीसूर्यकान्त फोगलाजीके विवाहमें नेगचार करती हुई छोटी मैया (श्रीगोस्वामीजीकी धर्मपत्नी) एवं श्रीमती सावित्रीबाई (श्रीभाईजीकी सुपुत्री)

परम पूज्य भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, श्रीसूर्यकान्तजीके श्वसुर श्रीमुरलीधरजी कानोड़िया, पूज्य श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी एवं श्रीभाईजीके जामाता श्रीपरमेश्वरप्रसादजी फोगला

श्रीमती पुष्पा भरतियाजीके विवाहमें हलदातका नेग करती हुई मैया, छोटी मैया एवं श्रीमती सावित्रीबाई

श्रीचन्द्रकान्त फोगलाजीके विवाहमें मुखियाका तिलक करवाते हुए पूज्य श्रीगोस्वामीजी

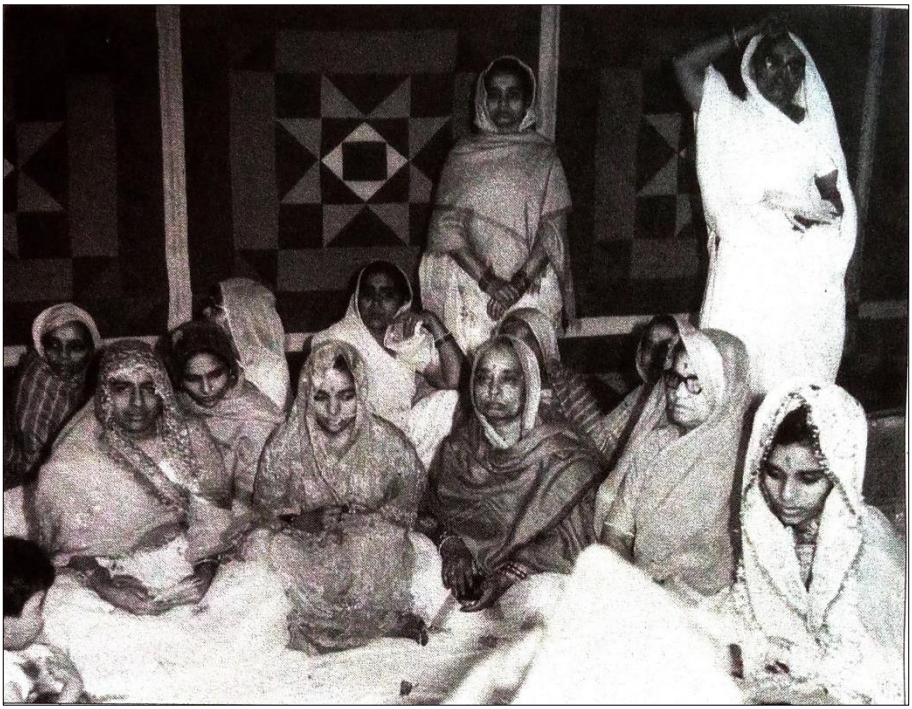

किसी सामाजिक समारोहमें पूज्या मैया एवं छोटी मैया

पूज्या मैया एवं छोटी मैया

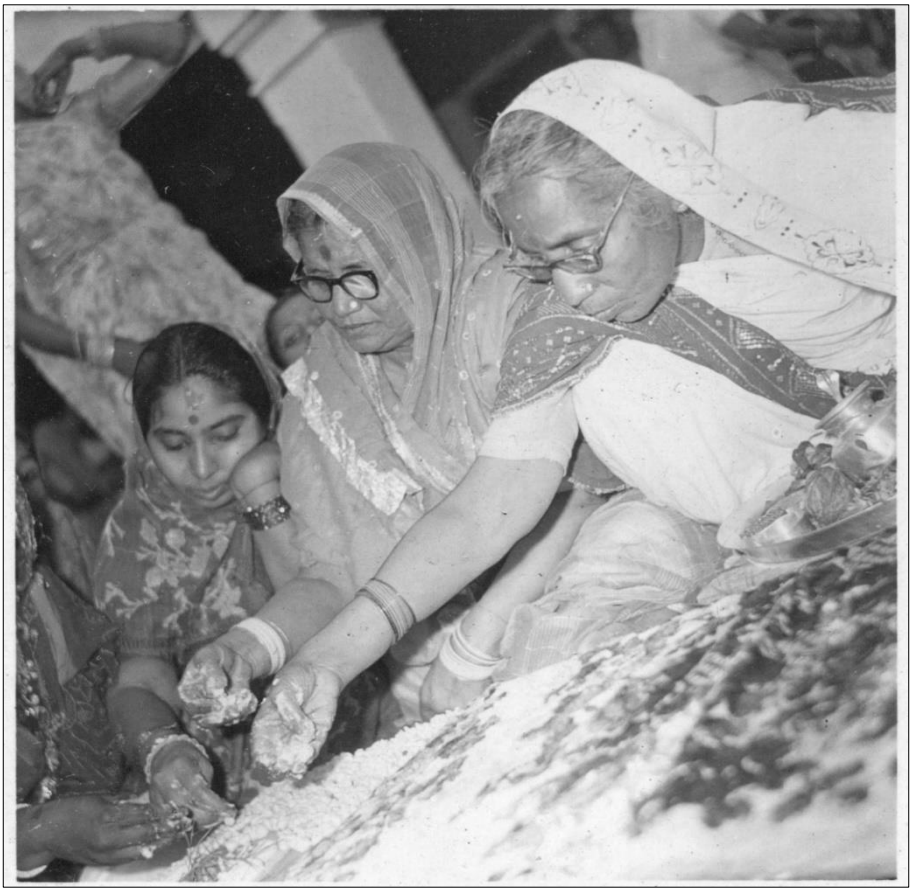

पूज्या छोटी मैया

अपने कार्यमें, दिनचर्यामें निरन्तर व्यस्त रहनेके समय भी छोटीनानी अपने नाम — लीला–गायनके क्रममें कोई त्रुटि स्वीकार नहीं करती थीं।

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप –

प्रेंखेंखनाभरुदितोक्षणमार्जनादौ ।

गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो

धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥

श्रीमद्भागवत–कथित व्रजपुररामाओंके सहज स्वभावकी छाया कहीं–न–कहीं उनके मानसपर थी अवश्य। भोजन बनाते, बुहारी निकालते, अनाज बीनते, कपड़े धोते गुनगुनाती रहती वे अपने कण्ठस्थ पदोंको। राधा–नाम–गायन भी उन्हें बड़ा प्रिय था। गला बड़ा सरस था ही। राधा–राधाका संकीर्त्तन उनकी प्रत्येक क्रियाके साथ नित्य सन्नद्ध रहता। नवरात्रमें कई बार मेरी माँके नेतृत्वमें हम लोगोंने रामायणका सस्वर नवाह्नपरायण किया श्रीराधाष्टमी–पण्डालमें। छोटी नानीका नाम उत्साही भक्तोंमें अग्रगण्य रहता। अपने दैनिक कार्योंसे निवृत्त हो वे यथासमय आकर अपना आसन ग्रहण कर लेतीं और पाठकी समाप्तिके बाद ही पुनः जाकर अपने शेष कार्योंको सम्पादित करतीं। ऊपर अपने कक्षसे उस पाठको सुनकर मुदित होते रहते थे नानाजी।

कभी–कभी छोटी नानीके मीठे कण्ठको सुननेकी हम बालक हठ कर बैठते, तब वे हम सबको बैठाकर साँझी आदि कृष्णलीलाके विभिन्न पद सुनातीं। कभी अपने कन्हैयाकी कोई कथा सुना देतीं, कभी आदेश देतीं — "सुनो, तुम सब लोग कीर्तन करो। मैं आगे बोलती हूँ, तुम पीछे बोलना।" वे आँख मूँदकर तन्मय हो कीर्तन करातीं और हम सब दो–चार बार तो साथ बोलते, फिर धीरेसे खिसक जाते.....।

कुछ क्षण तो वे अपनी तल्लीनतामें गाती रहती, फिर पीछे बोलनेवालोंका स्वर न सुननेपर आँखें खोलकर देखतीं। तब उन्हें ज्ञात होता कि मैदान साफ है — सारे छोरा–छोरी भाग गये। मुस्कुराकर अपने कार्यमें लग जाती वे।

गोस्वामी तुलसीदासजीने अपने महाकाव्यमें कीर्तिगान किया है केवल भरत का .....। उन्होंने कहीं माण्डवीकी विशिष्टताका उल्लेख नहीं किया। लक्ष्मणके प्रसंगमें उर्मिलाका भी कहीं कोई सन्दर्भ नहीं है। परन्तु कविहृदय श्रीमैथलीशरण गुप्तका भावुक संवेदनशील मन इसे स्वीकार नहीं कर सका और रचना हो गई "साकेत" महाकाव्यकी जिसमें चित्रण हुआ उर्मिलाका —

वनमें श्रीरघुनन्दनके चरणोंमें अपना मस्तक रखकर, माता कैकेयीके अपराधोंकी क्षमायाचना करते हुए उन्हें मनाकर साग्रह अयोध्या वापस ले जानेकी शुभेच्छा लेकर भरत जननी–त्रय, कुलगुरु वशिष्ठ एवं अन्यान्य पुरजनों सहित चित्रकूट पधारे। साथ ही थीं लक्ष्मण–प्रिया उर्मिला। भगिनीकी पर्णकुटीके एकान्त निर्वापित स्थलमें छिपी उर्मिलाके पास पत्र–पात्र लेनेके मिस प्रेषित किया वैदेहीने लक्ष्मणको। माँ जानकीकी सेवा हेतु नित्य तत्पर लखनलालने कुटीमें प्रवेश करते ही दर्शन किये महातपस्विनी कृशकाया, नृपकुलवधू उर्मिलाके। उसीका चित्रण है गुप्तजीके शब्दोंमें। उर्मिलाके त्यागकी, उसकी तपस्याकी महनीयता हेय बना दे रही थी लक्ष्मणको स्वयंकी दृष्टिमें और अनायास मुखसे निकल पड़ा लक्ष्मणके —

"वन में तनिक तपस्या करके
बनने दो मुझको निज योग्य।
भाभी की भगिनी, तुम मेरे
अर्थ नहीं केवल उपभोग्य॥"

उर्मिला न सुन सकी इन शब्दोंको। उसके लिये तो प्रियतमका सुख ही अपना सुख था —

हा स्वामी ! कहना था क्या–क्या, कह न सकी, कर्मोंका दोष।
पर जिसमें सन्तोष तुम्हें हो, मुझे उसीमें है सन्तोष॥

इधर अयोध्यापुरीके राजभवनमें निर्मित पर्णकुटीरके मध्य स्वर्णमन्दिर में मणिमय पादपीठपर विराजित चरण–पादुकाओंके निकट भूमिपर विराजित पतिप्राणा माण्डवीके अपने प्राणनाथको सान्त्वना देते शब्दोंकी मार्मिकता हत्तन्त्रीके सम्पूर्ण तारोंको झंकृत कर देती है। उस महामहिमामयीके उत्सर्गके समक्ष बौना प्रतीत होने लगता है भरतको अपना व्यक्तित्व, अपनी सत्ता, अपना सर्वत्याग ! मुखर होता है कविका माण्डवी–पद–तल–नत मानस इन शब्दोंमें —

नाथ न तुम होते तो यह ब्रत कौन निभाता, तुम्हीं कहो।
उसे राज्य से भी महार्ह धन देता आकर कौन, अहो !
मनुष्यत्वका सत्य–तत्व यों किसने समझा–बूझा है।
सुखको लात मारकर, तुम–सा कौन दुःखसे जूझा है ?
मेरे नाथ, जहाँ तुम होते, दासी वहीं सुखी होती,
किन्तु विश्वकी भ्रातृभावना यहाँ निराश्रित ही रोती॥
रह जाता नरलोक अबुध ही ऐसे उन्नत भावोंसे,
घर–घर स्वर्ग उतर सकता है प्रिय, जिनके प्रस्तावों से॥
जीवन में सुख–दुःख निरन्तर आते–जाते रहते हैं,

सुख तो सभी भोग लेते हैं, दुःख धीर ही सहते हैं॥

मनुज दुग्धसे, दनुज रुधिरसे, अमर सुधासे जीते हैं,

किन्तु हलाहल भव–सागरका शिव–शंकर ही पीते है॥

धन्य हुए हम सब स्वधर्मकी जिस इस नई प्रतिष्ठा से,

समुत्तीर्ण होंगे कितने कुल इसी अतुलकी निष्ठा से॥

अर्धांगिनीके अनुपमेय गौरवकी प्रतिष्ठा भारतकी आर्यललनाओंकी पहचान है। वे ही आधारशिला हैं प्राणसहचरकी विजयके चन्द्रचुम्बी प्रासादोंकी। कल्पनालोकमें विचरण करता कवि यहाँ आकर ठिठककर खड़ा हो जाता है — पतिप्राणाकी चरणधूलिके संस्पर्श हेतु ....। ऐसा ही पतिमय चरित्र रहा है रमणीरत्न सरयूदेवीका।

जगन्नाथपुरीके श्रीगोवर्धनपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीभारतीकृष्ण–तीर्थजीने अपने उत्तराधिकारीके रूपमें कुल, विद्या, दैवी–सद्गुण–विभूषित, अप्रतिम प्रतिभा एवं विद्वत्ताकी मूर्ति गोस्वामीजीका नाम चयन किया। इस पद–ग्रहणकी ललक प्रायः सभी मठाधीशों, महन्तों, धर्माचार्योंमें रहती है। परन्तु गोस्वामीजी थे — "निज जननीके एक कुमारा" सबसे अलग, सबसे निराले। अविलम्ब अस्वीकार कर दिया उन्होंने। वे तो थे उस पथके पथिक जहाँ —

कृष्ण भोग, कृष्ण त्याग, कृष्ण तत्व ज्ञान है।

कृष्ण भक्ति, कृष्ण प्रेम, कृष्ण ही विज्ञान है।

कृष्ण स्वर्ग, कृष्ण मोक्ष, कृष्ण परम साध्य है।

कृष्ण जीव, कृष्ण ब्रह्म, कृष्ण ही आराध्य है॥

इस पथमें भुक्ति–मुक्तिकी भी गणना होती है पिशाची स्पृहाके रूप में —

"भुक्ति–मुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्त्तते।"

गोस्वामीजीको इस गौरवपूर्ण शंकराचार्य पदके प्रति कोई प्रियताकी प्रतीति होनेका तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इस पथके पथिक तो होते हैं प्रभुके प्रिय पात्र और उनकी प्रियताकी परिधि सीमित रहती है मात्र प्रभुमें —

सुनहु भरत रघुबर मन माहीं। प्रेम पात्र तुम्ह सम कोउ नाहीं॥

वस्तुतः यही स्थान था नानाजीके मनमें गोस्वामीजीका; फिर कैसे आकर्षित करती उन्हें 'जगद्गुरु' की पदवी? साधारण प्राणी जिस कार्यको असंभव मानता है उसे सहजमें कर डालनेवाला कहलाता है निष्णात और निष्णात जिसे असाध्य स्वीकार करता है उसे सहज साध्य बना देने वालेका नाम है विभूति। गोस्वामीजी थे ऐसी ही विभूति।

२८.३.३९ को नानाजीद्वारा गोस्वामीजीको बांकुड़ासे लिखे पत्रकी पक्तियाँ स्वंयमें सशक्त उदाहरण हैं उनके परस्पर सम्बन्धोंकी —

"सम्मान्य श्रीगोस्वामीजी,

सादर सप्रेम यथायोग्य। आपका कृपापत्र मिला। मैंने उसको दो–तीन बार पढ़ा। आपकी मानसिक स्थितिका मैं कुछ अनुमान लगा सकता हूँ। श्रीवाजपेयीजीके पत्रसे आपके मनकी अव्यक्त भावना व्यक्त हो गयी। आपने अपने पत्रमें जो कुछ लिखा है, आपकी अपनी मान्यता, विनयशीलता तथा पत्र लिखते समय चित्तकी जो स्थिति थी, उसके अनुसार सब ठीक ही है। परन्तु मेरी दृष्टिसे जब मैं देखता हूँ तो मुझे कई बातें असंगत मालूम होती हैं, उन्हें अयथार्थ कहूँ तो भी अत्युक्ति न होगी। कल्याण सम्पादनका भार स्वीकार करने तथा मेरी अनुपस्थितिमें भी गोरखपुर रहना मंजूर करने में आपका न अविवेक था और न थी हृदयहीनता, अकृतज्ञता, पैसेकी गुलामी और

अभिमानकी भावना ही। उसमें था मेरे प्रति आपका विशुद्ध प्रेम, मुझे सुखी देखनेकी आपकी लालसा, मेरी बात टालनेमें संकोच और मेरे आग्रहका सम्मान। मैंने आपसे यही आशा की थी और यही अब भी करता हूँ। आप दुःख पाकर, कष्ट सहकर भी मेरे मनकी करेंगे, इसी बड़े भरोसेपर मैंने श्रीजयदयालजीसे आपसे बात करनेके पूर्व ही कह दिया था कि 'गोस्वामीजी मेरी बात नहीं टालेंगे।' × × × × मैंने अपने स्वार्थसे जान-बूझकर आपको इस कार्यमें झोंका था और अब भी मेरा वही मत है, जो उस समय था .....। × × × ×

आप जैसोंके प्रेमका, जो मेरे लिये सर्वथा विपरीत बातको स्वीकार करके भी मुझे सर्वथा सुखी बनाना चाहते हैं, मैं तिरस्कार करूँ तो इससे बड़ा पाप और क्या होगा? श्रीजयदयालजीके महान् उपकारोंके और आप सबके प्रेमके पवित्र चित्र यथावकाश, भक्ति तथा श्रद्धापूर्वक पूजा करनेके लिये हृदयमें रखकर ही मैं आप लोगोंसे अपने मनकी आज्ञा चाहता हूँ और घोर स्वार्थ-सा प्रतीत होनेपर भी मैं अपने स्वार्थके लिये आप लोगोंको कष्टमें डालना चाहता हूँ। अवश्य ही मेरे स्वार्थमें आप लोगोंके स्वार्थका भी न्यूनाधिक अंश तो है ही। × × × ×

यह पत्र लिखते समय मेरे प्रति आपका जो अकृत्रिम प्रेम है, उसका चित्र मेरी कल्पनाकी नजरके सामने आ गया है और मैं गद्गद हो गया हूँ।" × × × ×

पत्र पर्याप्त लम्बा था मैंने मात्र कुछ अंश उद्धृत किये हैं — ये शब्द स्वयं उद्घोष करते हैं नानाजीके यन्त्रीपद एवं गोस्वामीजीके यन्त्रपदके भावका —

भरतु अवधि सनेह ममता की।

जद्यपि रामु सीम समता की॥

प्रणम्य है यह स्नेह-सम्बन्ध, यह समर्पण!

परन्तु अब इस सुख–नाट्यके पटाक्षेपका समय सन्निकट आ पहुँचा था — दुःखकी यवनिका प्रस्तुत थी दृश्य परिवर्तनके लिये —

थोड़े होते हैं सुखके दिन, यह नियम सदाका है प्रियतम।

नानाजीने अब विदा लेनेका निश्चय कर लिया। आत्यन्तिक रुग्ण हो गये वे, शनैः शनैः रुग्णताकी गम्भीरता बढ़ती चली गई। सर्वहाराकी सम्भावित स्थितिका दृश्य उपस्थित हो गया। गोस्वामीजीको दुर्दैवके इस क्रूरतम आघातका आभास था तथापि अन्तरसे यही हूक निकलती — "भाईजीका वरदहस्त हम–सब पर बना रहे।"

मिटइ कुजोगु राम फिरि आएँ। बसहिं अवध नहिं आन उपाएँ॥

परन्तु विश्वनियन्ताका विधान एवं नानाजीद्वारा उसकी स्वीकृति दोनों ही थे इसके विपरीत ...। २२ मार्च १९७१ ई. को नियतिका क्रूरतम वज्रपात हो गया — नानाजी हम सबको छोड़कर चले गये.....।

अब सम्पूर्ण उत्तरदायित्व आ पड़ा बाबापर — अनुजके नाते गोस्वामीजीपर — फिर बाबाका यंत्र भी तो वे ही थे। वेदना और कर्तव्यकी दो प्रबल झंझाओंसे जूझते हुए — 'लोचन जल रह लोचन कोना' की स्थितिमें अपने व्यथासे फटते प्राणोंको जीर्ण–शीर्ण देह–कुटीरमें येन–केन–प्रकारेण संयत रखकर सारे दायित्वोंका निर्वाह किया गोस्वामीजीने।

अब प्रश्न था कल्याण–सम्पादनका। टूटे मन, अदर्शनकी ज्वालासे दग्ध नेत्र, प्राणहीन देह द्वारा इस गुरुतर भारका संवहन! एक प्रश्न था सबके मनमें — अब क्या होगा?

परन्तु अग्रिम दृश्य भी सुनियोजित था —

'अगम सनेह भरत रघुवरको। जहँ न जाइ मनु विधि हरि हरको॥'

— का जीवन्त उदाहरण थे गोस्वामीजी। उस मूलका सिंचन तो वस्तुतः करते थे नानाजी जिनके लिये समय, स्थान, परिस्थितिकी बाध्यता थी नहीं, है नहीं, हो सकती नहीं। जो अपने हृदयदेशको जो जितना-सा रिक्त करता है नन्द-लाडलेके लिए उतना ही स्थान ग्रहण कर लेते है वे वहाँ विराजकर ! नानाजीके नित्यलीलालीन होनेके बाद कल्याण-सम्पादनका मोर्चा भी सँभाला गोस्वामीजीने और उनके सम्पादनकालमें तीन विशेषांक प्रकाशित हुए — श्रीरामांक, श्रीविष्णु-अंक और श्रीगणेश-अंक — जिनमें नानाजीकी अनुपम गरिमा सम्पूर्णतया मूर्त थी। सुनिश्चित भी थी यह स्थिति क्योंकि स्वाभाविक ही उनके हृदय-मंदिरमें नित्य निवास था उनके अग्रज, उनके प्रेष्ठ, उनके आराध्य का ....। स्व को स्थान वहाँ था नहीं। फिर यन्त्रकी निज सत्ता कहाँ ?

करता और कराता सबकुछ, वही निजेच्छाके अनुसार।

व्यर्थ दूसरे हैं सबही, मेरे अपने आचार-विचार॥

नानाजीकी अपनी श्रद्धा-भाव-प्रसूनोंसे अर्चना हेतु, उनकी परम पावन स्मृतिमें एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ — "पावन-स्मरण" जिसके प्रधान सम्पादक थे महामहोपाध्याय श्रीगोपीनाथजी कविराज और सहयोगी थे चिम्मनलालजी गोस्वामी एवं डॉ० श्रीभगवतीप्रसादजी सिंह। उस ग्रन्थमें प्रकाशित गोस्वामीजीके श्रद्धासुमन उनके अन्तरके भावोंका चित्र है —

"मेरा भाईजीके साथ यह चालीस वर्षसे ऊपरका सम्पर्क मेरे जीवनकी एक अमूल्य निधि है, जो मुझे अनेक जन्मार्जित सुकृतोंके फलरूपमें उन्हींकी अहैतुकी कृपासे

अनायास प्राप्त हुई थी। इस अवधिमें उन्होंने जैसा अदभुत स्नेह मुझे दिया और जिस प्रकार मेरा लाड़ रखा उसे शब्दों–द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता।

उनके इस ऋणसे मैं जन्म–जन्मान्तरमें भी उऋण नहीं हो सकता और न होना ही चाहता हूँ। भवसरिताकी प्रबल धारामें बहते हुए मुझ पामरको उन्होंने अपनी सहज कृपासे उबार लिया और भगवत्कृपाका अधिकारी बना दिया। मेरी त्रुटियोंकी ओर उन्होंने कभी ध्यान नहीं दिया और मेरे द्वारा उन्हींकी प्रेरणासे हुए आचरणकी भूरि–भूरि प्रशंसा की। वे मेरे बड़े भाई, सखा एवं स्वामी ही नहीं थे, मेरे पथ–प्रदर्शक, जीवन–सर्वस्व थे, और हैं।

मैं उनके विषयमें क्या श्रद्धासुमन अर्पण करूँ ? उनकी स्मृति मात्रसे हृदय भरा आता है। उनके वियोगको हृदय सहन कर गया यही मेरी प्रेमशून्यताका प्रमाण है। बस, शेष जीवन श्रीभाईजीकी और उनके श्रीराधामाधवकी स्मृतिमें बीत जाय, यही अभिलाषा है।"

भरत प्रीति मति विनय बड़ाई। सुनत सुखद बरनत कठिनाई॥

ऐसा ही अद्भुत दैन्य था गोस्वामीजी का ....। मद कहीं किसी बिन्दुपर स्पर्श न कर सका था उनका। प्रभुता, विद्वता, अधिकार, पदसम्मान, कीर्ति कोई विचलित न कर सका उन्हें —

'भरतहि होइ न राजमद, विधि हरि हर पद पाइ।

कबहुँ कि काँजी सीकरनि, छीरसिन्धु बिनसाइ॥'

दादरीसे नानाजीने बजरंगलालजी चाँदगोठिया, व्यवस्थापक—कल्याण कार्यालयको पत्र लिखा उसकी कतिपय पक्तियाँ हैं —

"गीता–तत्वांकमें मेरा और गोस्वामीजीका दोनों नाम गये थे, परन्तु पता नहीं दूसरे–तीसरे अंकमें भी सिर्फ मेरा ही नाम छापा गया। भूलसे ऐसा हुआ होगा। स्पष्ट बात हो गई थी दोनों नाम छापने की, अब चौथे अंकमें तो यर्थार्थमें केवल गोस्वामीजीका ही नाम रहना चाहिए। मेरा नाम रहेगा तो वह सरासर झूठ होगा, क्योंकि मैं सम्पादन–सम्बन्धी कुछ भी काम कत्तई नहीं देखता।"

"कल्याण–कल्पतरुके (कन्ट्रोलिंग ऐडिटर) में से भी मेरा नाम अवश्य निकाल देना चाहिये। ऐसा करना असत्य है।"

नानाजीका अप्रतिम स्नेह, 'सबहि मानप्रद आपु अमानी' स्वभाव, वाणीका विषय नहीं.....

'सील सकोच सिन्धु रघुराऊ' है श्री राघवेन्द्रका सहज स्वभाव ...।

'साधन सिद्धि राम पद नेहू' है श्रीभरतलालकी अविचल टेक ...।

नानाजीकी प्रकट उपस्थितिके अभावमें हृद्देशमें उनको प्रतिष्ठित कर 'सिंहासन प्रभु पादुका बैठारे निरुपाधि' की मानसिकताके साथ प्रतिदिन समाधिस्थलपर माथा टेककर —

नित पूजत प्रभु पाँवरी, प्रीति न हृदय समाति।

माँगि माँगि आयसु करत, राज काज बहु भाँति॥

— की परिपाटीके आजके युगके प्रणेता सम्पन्न करते थे अपने सम्पूर्ण कार्योंको उन्हींमें चित्तको अध्यस्त कर — निलेप, निर्विकार, 'चंचरीक जिमि चम्पक बागा' की भाँति। परन्तु विदीर्ण–हृदय अब और चलनेमें असमर्थ हो उठा। नानाजीने भी भलीभाँति तपाकर, स्वर्णको निकषपर चढ़ाकर परीक्षा कर ली। परख लिया एकदम

निखालिस सौ टंच सोनेको, रजकी, रजके एक अणुकी छाया भी नहीं थी उस पुरट-पात्रपर — अब तो नन्दलाड़लेको उसे अपने हाथमें लेकर रसके सागरमें डुबोना ही था। गोस्वामीजी भी अस्वस्थ हो गये। उपचार व्यर्थ होने लगे। बाबा, नानी, छोटी नानी, हम-परिवारके लोग, स्वजन, स्नेही, श्रद्धालु यथासाध्य सेवा करते। उनके कायाकष्टको कम करनेका प्रयत्न करते ..... परन्तु सब व्यर्थ ही होता चला जा रहा था।

एक बार मैं और मेरे पिताजी (श्रीपरमेश्वरप्रसादजी फोगला) स्वास्थ्य तनिक ठीक-सा दीखनेपर कलकत्ता जा रहे थे। गोरखपुरसे हम लोग कार द्वारा बनारस पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही हमें सूचना प्राप्त हुई कि गोस्वामीजीकी शारीरिक स्थिति सांघातिक है। अविलम्ब हम उसी मोटरसे वापस रात्रिमें गोरखपुर पहुँचे। कुछ समय बाद पुनः कुछ सुधारकी प्रतीति होने लगी थी। ऐसी डाँवाडोल स्थिति, पुनः कुछ सुधार ...। ऐसा अनेक बार होता था — परन्तु निकट आ रही थी विदाकी बेला ही।

उन भीषण शारीरिक पीड़ाके क्षणोंमें भी वे अपने विनोदी स्वभावका परित्याग नहीं करते। विस्मृत हो उठते थे उनके सेवक। अधिक अस्वस्थताके समय बाबा घंटों वहीं बैठे रहते। गोस्वामीजीका हाथ अपने हाथमें लेकर मुस्कुराते हुए कहते — "गोस्वामीजी महाराज ! ऐसे, सहजमें ही आपको लेने श्रीकृष्ण थोड़े ही आयेंगें — बहुत खेल खिलायेंगे। आप घबराइयेगा मत। आपको लेने श्रीकृष्ण अवश्य आयेंगे। आप तो अपना सम्पूर्ण बल — केवल इस दिशामें लगादें और यही बात स्मरण रखें —

"प्रियतम श्रीकृष्ण ! तुम्हारी ही इच्छा पूर्ण हो।

प्राणेश्वरी राधे ! तुम्हारी ही रुचिकी जय हो।"

शेष सारी जिम्मेदारी उनकी।"

हाथ जोड़कर, आनन्दित हो स्वीकृतिकी मुद्रामें सिर हिला देते थे गोस्वामीजी और आँखे टँग जाती थी उनकी सामने टँगे नानाजीके चित्रपर मानो बाबाका पढ़ाया पाठ ज्यों-का-त्यों दुहरा रहें हों अपने प्राणसारसर्वस्व व्रजेन्द्रनन्दन और भानुनृपदुहिताके समक्ष .....।

"सुग्गा कुछ भी नहीं जानता, अर्थ बोलता राधेश्याम।

जिसने उसे सिखाया है उसका ही अर्थ जानना काम॥"

मन पकड़ ले उस तथ्यको तो बार-बार सिखाना नहीं पड़ता। वह तो अंकित हो जाता है मानस पर.... और अनायास चलती रहती है वह प्रक्रिया।

आखिर ५ मई सन् १९७४ ई. की वह दुखद घड़ी आ ही पहुँची। बाबा तो उपस्थित थे ही — अपने अंगोसे संस्पर्शित कर दिया गोस्वामीजीके अंगोंको..... गोस्वामीजीके स्थिर नेत्र एकटक निहार रहे थे नानाजीके चित्रपटकी ओर। अधिकार कर लिया कर्मेंद्रियोंपर किशोरीने और ज्ञानेन्द्रियोंपर तो आधिपत्य था ही श्रीकृष्णचन्द्रका ..... मृण्मय चोलेका परित्यागकर चिन्मय राज्यमें प्रवेश पा लिया साकार-समर्पण श्रीगोस्वामीजीने । जागतिक दृष्टिसे मनीषा-गगनका एक जाज्वल्यमान् नक्षत्र हो गया अस्ताचलगामी।

बाबाके नेत्रोंसे दो अश्रु-मुक्ता ढलक पड़े-पाथेय प्रदान कर दिया अपने प्रिय सहचरको मार्गके लिये ....। चीत्कार करती हुई बाबाके चरणोंके समीप भूमिपर गिर पड़ी छोटी नानी। अश्रुपूरित नेत्रोंसे देखते रहे बाबा कुछ क्षण, फिर आश्वासन दिया क्षमता प्रदान की उस गुरुतर व्यथाभारको सहन करनेकी अपनी स्नेहसिक्त दृष्टिसे। धीर-गम्भीर आर्यललना, वह साध्वी धैर्य धारणकर समयोचित व्यवस्थाके कर्तव्य-

पथपर आरूढ़ हो गयी। भाईजी और गोस्वामीजी थे — एक परिवार। बेटी–जमाता, बच्चे — स्वजन–सम्बन्धी सम्पूर्ण परिवारजन अश्रुविमोचन कर रहे थे, परन्तु निरुपाय थे सब सर्वथा।

पीत पटवारेके पुजारी गोस्वामीजीके नेत्रोंमें तो वह पीतवसन समाया हुआ था ही — अपने आराध्य, अपने अग्रजकी समाधिकी पीली प्यावड़ी सम्पूर्ण देहपर पोतकर उसे आपादमस्तक पीतिमासे आवृतकर ही चितापर रखा जाय..... यही व्यक्त की थी उन्होंने अपनी 'अन्तिम इच्छा'।

मरनेपर भी मिलूँ तुम्हींसे, तुम्हीं बनो मेरे निर्वाण।

प्रभुके पार्षद धरापर आते हैं, प्रभु प्रेरित और पुनः अपने स्थानपर प्रस्थान करते हैं पीताम्बर धारणकर .... निज स्वरूपसे। गोस्वामीजीने अपने प्रियतमसे मिलनेके लिये अवगुण्ठित कर लिया स्वयंको उसी पीतवर्णसे। अन्तिम यात्रा प्रारम्भ हुई।

राजघाटपर शास्त्रोक्त विधि–अनुसार पुत्रके अभावमें महासती अर्धांगिनी वीरांगनाने स्वयं अग्नि–संस्कार किया। शेष जीवनके सम्बन्धमें तो मार्ग प्रशस्त कर ही गये थे पतिदेव। तदनुसार ढाल लिया उस सतीने अपने जीवन–क्रमको।

अपने सम्पूर्ण जीवनमें एक ही निधिका अर्जन किया था गोस्वामीजीने और उसे ही दे गये वे अपने उत्तराधिकारके रूपमें सम्पूर्ण जगत्को सहज सनेह स्वामि–सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥

आग्या सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसादु जन पावै देवा॥

जो चाहे इसे ग्रहणकर धन्यताकी ओर पद–विन्यास कर सकता है। अल्पावधि पति–वियोगकी दुःसह ज्वालामें जलकर जम्बुनद–हेम बन गई छोटी नानी और 'अनन्याश्चिन्तयन्तो' के श्वेत परिधानमें अपनी पीड़ाको छुपाये पति चिन्तनरत रहकर

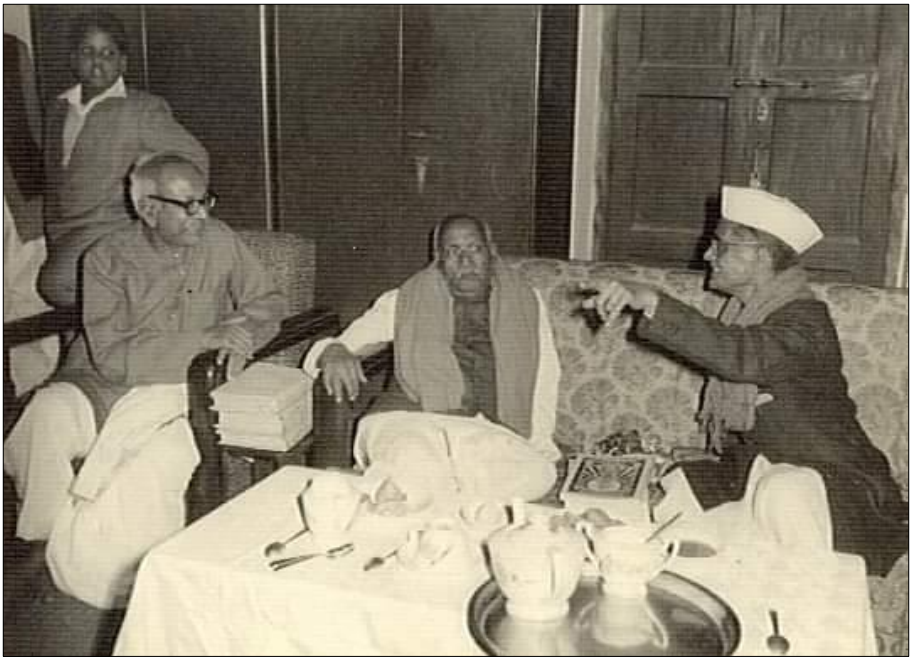

कल्याण एवं कल्याण–कल्पतरुके सम्पादक

तुम यन्त्री फूँकौ सदा निज मनमाने मन्त्र

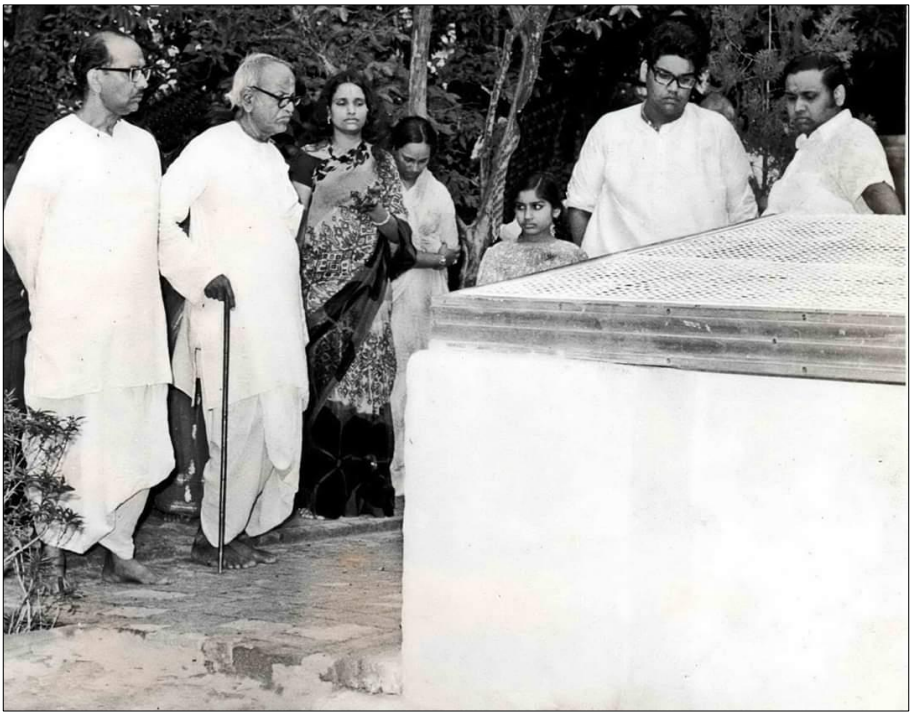

हा रघुनंदन प्रान पिरीते। तुम्ह बिनु जीअत बहुत दिन बीते॥

(परम पूज्य श्रीभाईजीके समाधिका दर्शन करते पूज्य श्रीगोस्वामीजी)

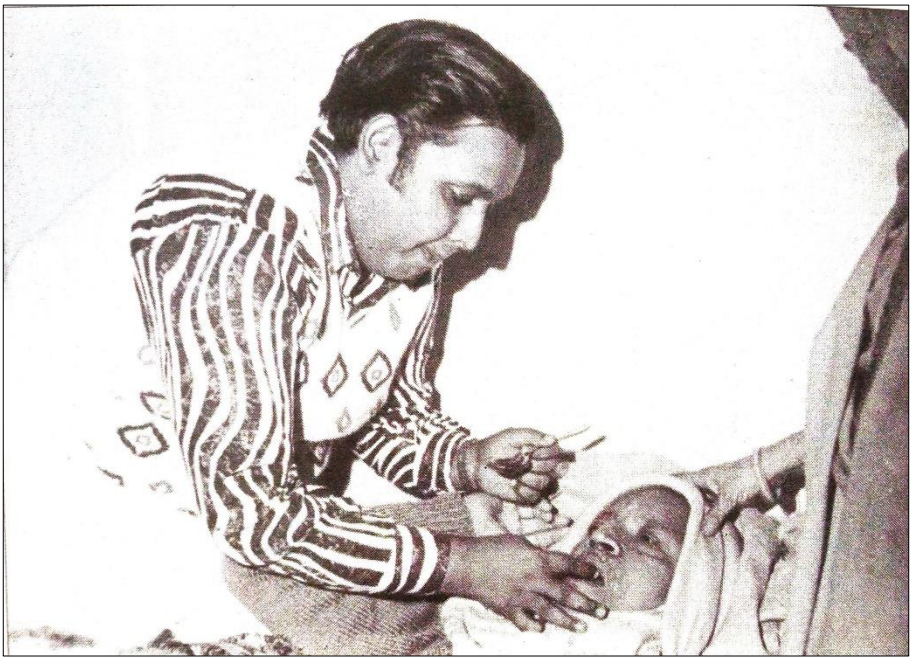

पूज्य श्रीगोस्वामीजीकी सेवामें तत्पर श्रीसूर्यकान्त फोगलाजी

पूज्य श्रीगोस्वामीजीकी सेवामें निरत पूज्या छोटी मैया

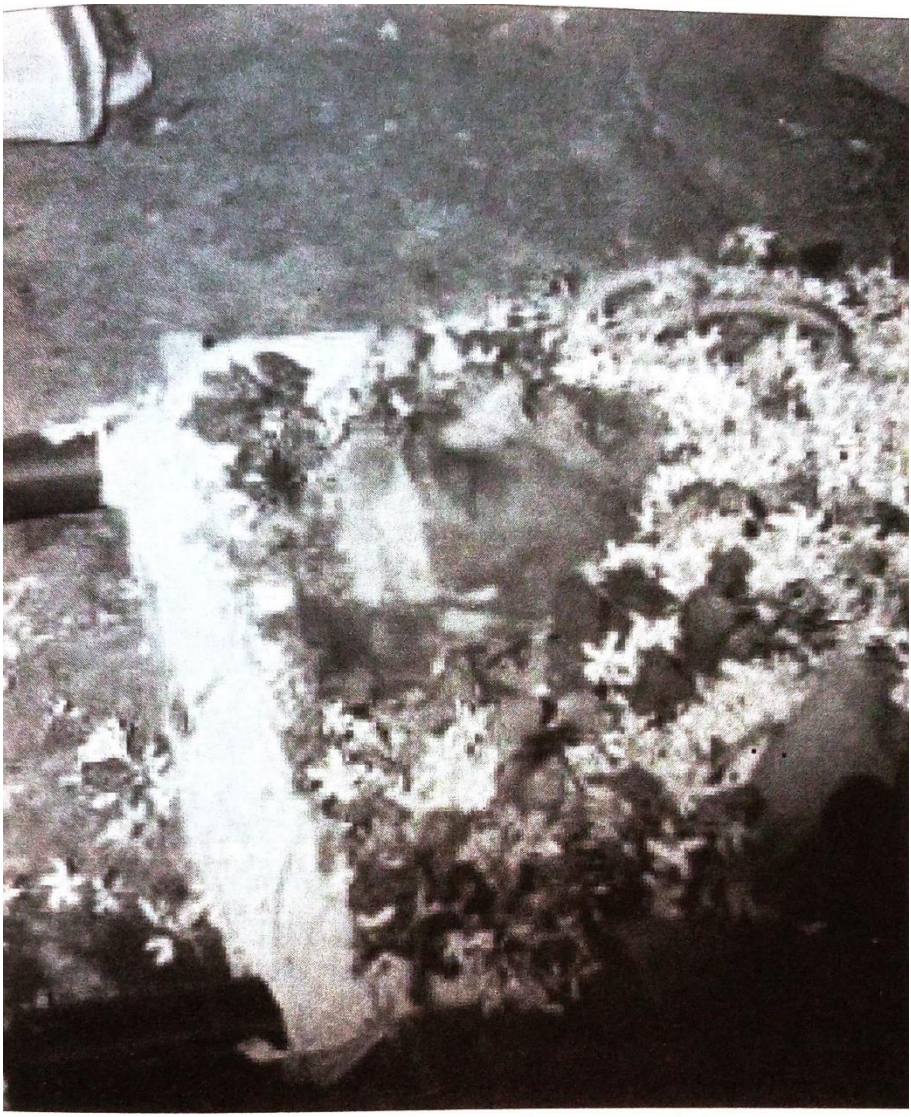

समाधि की प्यावड़ी का लेप

पूज्य श्रीगोस्वामीजीकी अर्थीके पास विलाप करतीं छोटी मैया

पूज्य श्रीगोस्वामीजीकी चिताको अग्नि देतीं छोटी मैया एवं उनको सम्हालते हुए

श्रीचन्द्रकान्त फोगलाजी

लगभग दो वर्ष बाद उसने भी महाप्रयाण किया उसी दिशामें जहाँ विराजित थे उसके जीवनाधार पतिदेव।

बाबाकी थमाई प्रीतिरसकी तालिकाको आजीवन सँभालकर, सहेजकर रखा गोस्वामीजीने।

ठाकुर प्रीतिकी रीति यहै, हम कैसेहुँ टेक तजैं नहिं भोरौ।

बावरि वे अँखियाँ जरि जायँ जो साँवरो छाँड़ि निहारति गोरौ॥

नमन करती हूँ मैं अपने छोटे नानाजी, छोटी नानीके चरणोंमें जिनके निर्मल अप्रतिम स्नेहकी रसभीनी स्मृतियोंसे पूरित है मेरी स्मृतिनिधि मञ्जूषा !

ऐसे आत्मप्रकाशदीप्त अपौरुषेय ज्ञानीके लिये स्वयं भगवान्‌के श्रीमुखके उद्गार हैं —

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।

भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

नन्दनन्दनकी देहरीपर प्रतिष्ठित समर्पणके दीपकमें विश्वास–स्नैग्ध्यसे सिक्त निष्ठा–वर्तिकाकी इस लौको जन्म–शताब्दीके अवसरपर शत–शत वन्दन !!

श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी

(डॉ० श्रीभगवतीप्रसादजी सिंह)

श्रीपोद्दारजीके अनुयायियों एवं सहयोगियोंमें श्रीचिम्मनलालजीका स्थान अन्यतम है। पोद्दारजीकी इच्छाको ही आज्ञाके रूपमें स्वीकार करना तथा निरभिमान होकर 'कल्याण' एवं 'कल्याण–कल्पतरु' के संपादनमें लगे रहना गोस्वामीजीके त्यागपूर्ण जीवनका एकमात्र लक्ष्य था।

क्वींस कालेज (अब सम्पूर्णानन्द–संस्कृत–विश्वविद्यालय) से संस्कृतमें दर्शन विषयसे एम० ए० करनेके बाद ये कुछ काल तक महामना श्रीमदनमोहनजी मालवीयके निजी सचिव रहे। तत्पश्चात् राजस्थानके अनेक विद्यालयोंमें अध्यापन किया। अंततोगत्वा बीकानेर राज्यमें उच्चपदपर नियुक्त हो गये।

विक्रम सं० १९८४ में एकबार पोद्दारजी बीकानेर पधारे। उसी समय गोस्वामीजीने उनसे भेंट की तथा सत्संग–लाभ किया। उस प्रथम दर्शनमें ही ये पोद्दारजीके स्नेहपाशमें आबद्ध हो गये। यह आकर्षण उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। सं० १९९० (सन् १९३३) में बीकानेर राज्यकी सेवाको त्यागकर ये 'कल्याण' के संपादन विभागमें कार्य करनेके लिए सपत्नीक गोरखपुर आ गये। तबसे इन्होंने ममताके सारे बन्धनोंको समेटकर स्थायीरूपसे पोद्दारजीके साथ दृढ़ भाव–सम्बन्ध स्थापित कर लिया। 'कल्याण' के साथ ही गीताप्रेस द्वारा आयोजित महत्त्वपूर्ण ग्रंथोंके संपादन कार्यमें भी पोद्दारजीको इनका अनवरत सहयोग प्राप्त होता रहा।

गोस्वामीजीके गोरखपुर आगमनके पश्चात् 'कल्याण' का संदेश अंग्रेजी भाषाभाषी जनता तक पहुँचानेकी दृष्टिसे अंग्रेजीमें 'कल्याण– कल्पतरु' के प्रकाशनका निश्चय किया गया। पोद्दारजीने उसके संपादनका दायित्व गोस्वामीजीको सौंपा। हिन्दी–संस्कृत तथा अंग्रेजी भाषामें इनकी प्रकाण्ड विद्वत्ताका प्रसाद गीताप्रेसको अनेक रूपोंमें प्राप्त हुआ। भारतीय वाङ्मयके बहुमूल्य रत्नोंका प्रामाणिक अंग्रेजी अनुवाद, सरल, परिमार्जित एवं सुस्पष्ट भाषामें प्रस्तुत कर गोस्वामीजीने एक महान् कार्य सम्पन्न किया

। रामचरितमानसका संशोधित पाठ तैयार करनेमें भी इन्होंने श्रीनन्ददुलारेजी वाजपेयीके साथ महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

पोद्दारजीके तिरोधानके बाद 'कल्याण' के सम्पादनका गुरुतर दायित्व गोस्वामीजीके कंधोंपर आया। इन्होंने इसे पोद्दारजीकी ही सेवा मान कर ढलती हुई आयुमें भी अथक श्रम करके उसका स्तर बनाये रखा। गोस्वामीजीके निर्देशनमें 'कल्याण' के तीन विशेषांक प्रकाशित हुए — श्रीरामांक, श्रीविष्णु-अंक तथा श्रीगणेश-अंक। ये तीनों ही इनकी अद्भुत संपादन क्षमताके परिचायक हैं।

गोस्वामीजीका व्यक्तित्व अत्यंत सरल एवं निष्कपट था। धोती-कुर्तेकी सादी पोशाक, हाथमें गोमुखी लिये नाम जप करती हुई उनकी आकृति लोगोंको बरबस अपनी ओर खींच लेती थी। मितभाषी तथा गम्भीर होते हुए भी मृदुता एवं प्रेम-पूर्ण व्यवहार इनके स्वभावका अभिन्न अंग था। कार्यका गुरुतर भार इनके दैनिक साधन-भजनमें कभी बाधक होते नहीं देखा गया। शास्त्रोंकी भाँति संगीतमें भी इनकी गहरी रुचि और गति थी। इनके मधुर कंठसे निकले हुए 'विनयपत्रिका' के पद श्रोताओंको मंत्रमुग्ध कर देते थे।

महत्त्वाकांक्षा तथा आत्मप्रशंसा जैसी दुर्निवार्य मानवीय कमजोरियाँ इनके चट्टानी व्यक्तित्वसे टकराकर चूर-चूर हो जाती थीं। गोवर्धन पीठाधीश्वर शंकराचार्य स्वामी श्रीभारतीकृष्णतीर्थजीने गोस्वामीजीकी साधुता तथा विद्वत्तासे प्रभावित होकर इन्हें अपना उत्तराधिकारी मनोनीत करनेकी इच्छा व्यक्त की थी, किन्तु 'कल्याण-कल्पतरु' का संपादकत्व छोड़कर उस आध्यात्मिक वैभवपूर्ण पदको स्वीकार करनेसे इन्होंने अत्यंत विनम्रतापूर्वक इनकार कर दिया।

गोस्वामीजीकी यह अनासक्ति, निरभिमानता, मृदुता तथा विद्वत्ता वंशानुगत थी। इनका जन्म वल्लभ-सम्प्रदायके एक सुसंस्कृत राजस्थानी ब्राह्मण परिवारमें हुआ था।

इनके पिता गोस्वामी श्रीब्रजलालजी तथा माता श्रीमती चन्द्रकला देवी परम वैष्णव थे। ऐसे संस्कार-सम्पन्न कुलमें इनका आविर्भाव आषाढ़ कृष्ण ९, सं० १९५७ को हुआ था। इनके पूर्वज मूलतः आन्ध्र प्रदेशके निवासी थे, किन्तु शताब्दियों पूर्व वे राजस्थानमें आकर बस गये थे। अतः कृष्ण-भक्ति इन्हें कुल-परम्परासे ही प्राप्त हुई थी, जो महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज और श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके सान्निध्यसे उत्तरोत्तर पुष्ट होती गयी।

गोस्वामीजीका स्वास्थ्य कठिन श्रमके बावजूद ७० वर्षकी आयु तक सामान्यतया ठीक रहा। किन्तु पोद्दारजीके दिवंगत होनेके बाद उसमें उत्तरोत्तर गिरावट आती गयी। सम्पादनका काम ये तब भी उसी प्रकार करते रहे, पर शनैःशनैः एक भीषण व्याधिने इन्हें शय्याग्रस्त कर दिया। लगभग सात माह तक शरीर अपार पीड़ासे दग्ध होता रहा। स्वजनों तथा आगन्तुकोंको यह देखकर आश्चर्य होता था कि असह्य वेदनाकी स्थितिमें भी इनके होठोंपर स्मितकी एक क्षीण रेखा रह रहकर कौंध जाती थी। शरीर प्रारब्ध भोग कर रहा था, किन्तु आत्मा आराध्यके दिव्यलीला-रस-भोगमें लीन रहती थी। अंततोगत्वा इस व्याधि-नाट्यका पटाक्षेपण हुआ और ५ मई १९७४ को आध्यात्मिक पत्रकारिता जगत्की यह विभूति अपने यशः-शरीरको छोड़कर धराधामसे तिरोहित हो गयी।

'कल्याण-कल्पतरु' अंग्रेजी मासिक पत्रिकाकी सेवा

हिंदी-मासिक पत्र, 'कल्याण'की तरह अंग्रेजीमें 'कल्याण-कल्पतरु'का प्रकाशन सवत् १९९१ वि० (जनवरी सन् १९३४ ई०)मे प्रारम्भ हुआ। 'कल्याण-कल्पतरु'के प्रकाशनका उद्देश्य वही है, जो 'कल्याण'का है। 'कल्याण'से केवल हिंदी-भाषा-भाषी ही लाभान्वित हो पाते थे। 'कल्याण'-पत्रिकाद्वारा दिया जानेवाला सदेश अंग्रेजी-भाषा-भाषी जन-समुदायतक भी पहुँच सके, इस हेतुसे अंग्रेजी मासिक पत्रिका 'कल्याण-कल्पतरु'का मुद्रण एव प्रकाशन आरम्भ हुआ। इसकी प्रतिमास लगभग पाँच हजार प्रतियाँ प्रकाशित होती है। अनेक कठिनाइयोके कारण 'कल्याण-कल्पतरु'के प्रकाशनको कुछ मासके लिये स्थगित करनेके दो-तीन बार अवसर आये, परतु भगवान्‌की कृपासे वह अपने पाठकोके हाथमे सदा पहुँचता रहा है। इसके सम्पादक है—श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी, एम० ए०, शास्त्री तथा श्रीभाईजी इसके कट्रोलिंग एडीटर रहे। उनकी देख-रेखमे तथा परामर्शसे पत्रिकाका कार्य होता रहा है। विदेशोमे इसकी माँग अच्छी है और लोग इससे बहुत लाभान्वित हुए है। अबतक 'कल्याण-कल्पतरु'के निम्नलिखित विशेषाङ्क प्रकाशित हो चुके है।

List of the Special Numbers of 'Kalayana-Kalpataru'

1. The God-Number	1934
2. The Gita-Number	1935
3 The Vedanta Number	1936
4 The Sri Krishna-Number	1937
5 The Divine Name Number	1938
6. The Dharma-Tattva Number	1939
7 The Yoga Number	1940
8. The Bhakta Number	1941
9 The Sri Krishna-Leela Number, Part I	1942
10 The Sri Krishna-Leela Number, Part II	1944
11. The Cow Number	1945
12 The Gita-Tattva Number, Part I	1946
13 The Gita-Tattva Number, Part II	1947
14 The Gita-Tattva Number, Part III	1948
15 The Manasa Number, Part I	1949
16 The Manasa Number, Part II	1950
17 The Manasa Number, Part III	1951
18 The Bhagavata Number, Part I	1952
19. The Bhagavata Number, Part II	1954
20. The Bhagavata Number, Part III	1955
21. The Bhagavata Number. Part IV	1956
22. The Bhagavata Number, Part V	1957
23 The Bhagavata Number, Part VI	1959
24 The Valmiki-Ramayana Number, Part I	1960
25. The Valmiki-Ramayana Number, Part II	1961
26. The Valmiki-Ramayana Number, Part III	1962
27. The Valmiki-Ramayana Number, Part IV	1963
28. The Valmiki-Ramayana Number, Part V	1965
29. The Valmiki-Ramayana Number, Part VI	1966
30. The Valmiki-Ramayana Number, Part VII	1967
31. The Valmiki-Ramayana Number, Part VIII	1969
32 The Valmiki-Ramayana Number, Part IX	1970

कल्याण–कल्पतरु, दिसम्बर १९६२

समर्पणमूर्ति श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी

(श्रीराधेश्यामजी बंका)

पूज्य बाबूजी (परम पूज्य भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)–के नित्य–लीलामें लीन हो जानेके बाद 'कल्याण' के सम्पादनका भार जिनके ऊपर आया, उन समर्पण–मूर्ति पूज्य श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीके व्यक्तित्वकी गरिमाकी झलक प्रस्तुत कर सकना मेरी क्षमताके बाहर है। गोस्वामीजीके समर्पण–भावका जैसा स्वरूप और जो स्तर था, वह जब मन और बुद्धिके लिये ही अगम्य है, तब भला वाणी उसका वर्णन कैसे कर सकती है ? उनके मनको, मस्तिष्कको और जीवनको क्षुद्रता अथवा अभद्रता कभी छलसे भी स्पर्श न कर सकी। 'मति अकुंठ हरि भगति अखंडा' के साकार रूप थे गोस्वामीजी।

पूज्य श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी एम.ए., शास्त्री, का जन्म सं.१९५७ वि. आषाढ़ कृष्ण ९ गुरुवार, २१ जून १९०० ई. को बीकानेरमें तैलंग ब्राह्मण कुलमें हुआ था। कई पीढ़ी पहले इनके पूर्वज दक्षिण भारतके तेलंगाना प्रदेशसे आकर राजस्थानके बीकानेर नगरमें बस गये थे। राजाश्रय मिलनेके कारण ही इनके पूर्वज बीकानेर आये थे। अब तो तैलंग गोस्वामी–गणके अनेक परिवार बीकानेरमें बसे हुए हैं। भक्तिमती श्रीचन्द्रकलादेवी तथा श्रीव्रजलालजी गोस्वामीको इनके माता–पिता कहलानेका गौरव प्राप्त हुआ। सन् १९१६ में हाईस्कूलकी परीक्षा उत्तीर्ण करके आप वाराणसी चले आये और क्वीन्स कालेजमें अँगरेजी, दर्शन शास्त्र तथा संस्कृतका अध्ययन करने लगे। यहाँ पढ़ते समय महामहोपाध्याय पं. श्रीगोपीनाथजी कविराजका विशेष सामीप्य और संरक्षण मिला। क्वीन्स कालेजका अध्ययन पूर्ण करके आपने 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' से सन् १९२२ में संस्कृतकी एम.ए. परीक्षा प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण की। तदुपरान्त कुछ समयके लिये आपने महामना पं. श्रीमदनमोहनजी मालवीयके निजी सचिवके रूपमें कार्य किया। वाराणसीसे बीकानेर वापस आनेके बाद चार वर्षतक प्रधानाध्यापक रूपमें कार्य करते रहे। फिर छः वर्षोंतक बीकानेर राज्यके राजनैतिक

विभागमें कार्य किया और राज्यके प्रधान दीवान श्रीमन्नूभाई शाहके निजी सचिव रहे ।

सन १९२८ ई. के प्रारम्भमें गोस्वामीजीकी सर्वप्रथम भेंट पूज्य बाबूजीसे हुई । बाबूजीके भक्तिपूर्ण संत जीवनका परिचय देकर उनसे गोस्वामीजीकी भेंट करानेका श्रेय आदरणीय श्रीगम्भीरचन्दजी दुजारीको है । भगवन्नामके प्रचार तथा सत्संगके उद्देश्यसे विभिन्न स्थानोंमें भ्रमण करते हुए बाबूजी १३ जनवरी, १९२८ को बीकानेर पधारे थे । वहाँ बाबूजीके नेतृत्वमें नगर-संकीर्तनका आयोजन हुआ और उनका प्रवचन हुआ । गोस्वामीजीने यह प्रवचन सुना और उनका मन बड़ा प्रभावित हुआ । गोस्वामीजीका अध्ययन और ज्ञान विशद था । इस प्रवचनको सुनकर उन्हें लगा कि बाबूजी द्वारा जो कुछ भी कहा गया है, उसका आधार अनुभव है । मात्र पढ़ी-पढ़ायी अथवा सुनी-सुनायी बातोंके आधारपर ऐसा प्रवचन अथवा प्रतिपादन किया ही नहीं जा सकता ।

इस प्रवचनको सुननेके बाद गोस्वामीजीका मन बाबूजीके प्रति आकृष्ट होने लगा । बाबूजी बीकानेरमें दो दिन तक रहे । इन दो दिनोंमें गोस्वामीजी बाबूजीके पास घंटों बैठे रहते तथा उनके साथ भगवद्विषयक चर्चा करते रहते । गोस्वामीजीके मनपर इस प्रथम समागमकी गहरी छाप पड़ी । इस छापके फलस्वरूप गोस्वामीजी लालसान्वित हो उठे कि बाबूजीके निकट सम्पर्कमें कुछ दिन रहना चाहिये । यह इच्छा बढ़ती ही चली गयी ।

निकट सम्पर्ककी लालसा बहुत बढ़ जानेपर गोस्वामीजी सन् १९२९ ई. के ग्रीष्म कालमें बीकानेरसे गोरखपुर आये और बाबूजीके पास लगभग डेढ़ मास रहे । इस डेढ़ मासकी अवधिमें बाबूजीकी दिनचर्या और उनके जीवनको अति निकटसे देखनेका और उनके विचारोंको सतत सुननेका अवसर मिला । एक कहावत है — 'ज्यों-ज्यों

कसे, त्यों–त्यों बसे' । गोस्वामीजी बाबूजीको जितना–जितना ही कसौटीपर कसते चले गये, उतना–उतना ही बाबूजी गोस्वामीजीके मनमें बसते चले गये । गोस्वामीजीको लगा कि बाबूजीका जीवन साधारण नहीं है । बाबूजीके भगवद्विषयक विचार, भगवत्सम्बन्धी अनुभव एवं भगवन्मय जीवन उनके असाधारण एवं लोकोत्तर व्यक्तित्वके परिचायक हैं । बाबूजीके लोकोत्तर व्यक्तित्वका प्रभाव गोस्वामीजीपर ऐसा पड़ा कि उन्होंने दस–पन्द्रह दिनके अन्दर ही एक महान् निर्णय ले लिया । वह निर्णय था सब कुछ छोड़कर बाबूजीके चरणोंके समीप रहनेका तथा शेष जीवन इन्हींकी छत्र–छायामें व्यतीत करनेका । यह जीवनका महत्त्वपूर्ण मोड़ था । अपने जीवनके सम्बन्धमें इस महत्त्वपूर्ण निर्णयको क्रियान्वित कर लेना सहज कार्य नहीं था । घरपर पूज्या माताजी और पूज्य पिताजी थे । उनकी आज्ञा अपेक्षित थी । डेढ़ मासके बाद गोस्वामीजी गोरखपुरसे बीकानेर वापस आ गये । बाबूजीके पास रहनेका जो निर्णय गोस्वामीजीने लिया था, तदनुसार कार्य करनेमें बड़ी कठिनाइयाँ आयीं, पर अध्यात्म–पथके सच्चे पथिकको भला कौन निश्चयसे विरत कर पाता है ? सारी कठिनाईयोंको हल करते हुए सन् १९३३ ई. में गोस्वामीजी अपने संकल्पको पूर्ण कर पाये ।

गोस्वामीजीके कोई सन्तान नहीं थी । वे अपनी धर्मपत्नीके सहित सन् १९३३ ई. में बीकानेरसे गोरखपुर चले आये स्थायी रूपसे रहनेके लिये । गोस्वामीजीका सहयोग पाकर बाबूजीको बहुत अधिक प्रसन्नता हुई । समाजमें भगवद्भक्ति एवं भगवन्नामका प्रचार करनेके लिये तथा जन–जीवनमें आध्यात्मिकता एवं नैतिकताकी प्रतिष्ठाके लिये बाबूजी सतत प्रयत्नशील थे और इस लक्ष्यकी ओर आगे बढ़नेके लिये अन्य अनेक साधनोंके साथ–साथ सबसे सशक्त सहायिका थी 'कल्याण' मासिक पत्रिका । 'कल्याण' मासिक पत्रिका केवल हिन्दीमें निकलती थी । गोस्वामीजीके शुभागमनसे अब अँग्रेजी भाषामें भी एक मासिक पत्रिका निकलने लगी । इसका नाम था — 'कल्याण–कल्पतरू' । 'कल्याण–कल्पतरु' का भी उद्देश्य वही था, जो 'कल्याण'

का था, बस, अन्तर केवल भाषाका था। गोस्वामीजी हिन्दी, संस्कृत एवं अँग्रेजीके प्रकाण्ड पण्डित थे। इन तीनों भाषाओंके व्याकरणपर गोस्वामीजीका असाधारण अधिकार था।

गोस्वामीजीके सम्पादकत्वमें 'कल्याण–कल्पतरु' के निम्नलिखित विशेषांक प्रकाशित हुए।

१– The God Number (ईश्वरांक)

२– The Gita Number (गीतांक)

३– The Vedant Number (वेदांतांक)

४– The Krishna Number (श्रीकृष्णांक)

५– The Divine Name Number (भगवन्नामांक)

६– The Dharma Tattva Number (धर्म–तत्त्वांक)

७– The Yoga Number (योगांक)

८– The Bhakta Number (भक्तांक)

९– The Krishna Leela Number (श्रीकृष्णलीलांक)

१०– The Cow Number (गो–अंक)

उपरोक्त विशेषांक तो प्रकाशित हुए ही, इनके अतिरिक्त 'कल्याण–कल्पतरु' के विशेषांकके रूपमें श्रीगीता–तत्त्व–विवेचनी, श्रीरामचरितमानस, श्रीमद्भागवतमहापुराण तथा वाल्मीकि रामायणके अँग्रेजी अनुवाद क्रमशः प्रकाशित

होते रहे। खेदके साथ लिखना पड़ रहा है कि वाल्मीकि रामायणका अनुवाद पूर्ण करनेके पहले ही गोस्वामीजी हमारे बीचसे चले गये। वाल्मीकि रामायणके युद्ध काण्डका अँगेरजी अनुवाद कर चुकनेके बाद उन्होंने उन्होंने उत्तर काण्डका अनुवादकार्य अपने हाथमें लिया। उत्तर काण्डके लगभग एक-तिहाई अंशका अनुवाद वे कर पाये थे कि रुग्णताने उनको घेर लिया। यह अस्वस्थता उनके जीवनके लिये विघातक सिद्ध हुई। फिर तो उत्तर काण्डके शेष भागका अनुवाद हो ही नहीं पाया।

'कल्याण-कल्पतरु' का प्रकाशन सन् १९३४ ई. से प्रारम्भ हुआ था। गोस्वामीजी 'कल्याण-कल्पतरू' के प्रधान सम्पादक तो थे ही, 'कल्याण' हिन्दी मासिक पत्रिकामें भी बाबूजीको सहयोग देने लगे और सन् १९३९ ई. से 'कल्याण' के सहायक सम्पादकके रूपमें उनका नाम छपने लगा। बाबूजीके नित्यलीलामें लीन हो जानेके उपरान्त 'कल्याण' के सम्पादनका कार्यभार गोस्वामीजीपर ही आ गया। अब 'कल्याण' और 'कल्याण-कल्पतरू', दोनों पत्रिकाओंका कार्य गोस्वामीजीको सँभालना पड़ता था। गोस्वामीजीके सम्पादकत्वमें 'कल्याण' के तीन विशेषांक प्रकाशित हुए — श्रीरामांक, श्रीविष्णु-अंक और श्रीगणेशांक। सामग्री और सुसज्जाकी दृष्टिसे ये तीनों विशेषांक ठीक वैसे ही थे, जैसे बाबूजीके सम्पादकत्वमें अनेक विशेषांक प्रकाशित होते रहे हैं। गोस्वामीजीके सम्पादकत्वमें भी 'कल्याण' की गौरवमयी परम्परा और आध्यात्मिक गरिमा अक्षुण्ण रही। बाबूजीके महाप्रस्थानके उपरान्त 'कल्याण' के सम्पादनका भार सँभालनेपर उन्होंने जो निवेदन लिखा, उसमें उनके हृदयका एक अत्यन्त उज्ज्वल रूप देखनेको मिलता है। निवेदनमें उन्होंने लिखा था — "परमभागवत श्रीपोद्दारजीके पार्थिव देह त्यागकर नित्यलीलालीन हो जानेसे 'कल्याण' के सम्पादनका भार मेरे दुर्बल कंधोंपर आ पड़ा है, जिसे वहन करनेमें मैं अपनेको सर्वथा अक्षम अनुभव करता हूँ। अबतक तो 'कल्याण' का सारा भार श्रीपोद्दारजी अकेले ही वहन करते थे। मेरा नाम तो उन्होंने शीलवश मुझे प्रोत्साहन

देने और मेरी सम्मानकी वासनाको पूर्ण करनेके लिये ही अपने गौरवशाली नामके साथ जोड़ दिया था। मेरे अन्दर न तो साधनाका बल है, न आध्यात्मिक अनुभव है, न त्याग है, न तप है, न दैवी सम्पदा है, न प्रौढ़ विचार है, न वैसा शास्त्रोंका अध्ययन एवं मनन है और न मेरी लेखनीमें ही शक्ति है। ऐसी दशामें 'कल्याण' जैसे पत्रके सम्पादकमें जैसी और जितनी योग्यता होनी चाहिये, उसका मैं अपने अन्दर सर्वथा अभाव देखता हूँ। 'कल्याण' की सेवाका मैं अपनेको सर्वथा अनधिकारी मानता हूँ। पर परम श्रद्धेय श्रीभाईजी जैसे परम स्वजनके प्रति अपने कर्तव्य-निर्वाहकी भावनासे 'कल्याण' के कार्यको किसी रूपमें सँभाल रहा हूँ। वास्तवमें 'कल्याण' के कार्यको मैं श्रीभाईजी द्वारा ही किया हुआ अनुभव करता हूँ। पद-पदपर वे अपने चिन्मय रूपसे इसकी सँभाल करते हैं, अन्यथा मुझ जैसे अयोग्य, अल्पज्ञ, साधनहीन तुच्छ व्यक्तिद्वारा यह महान कार्य सम्पन्न होना सर्वथा असम्भव है। मैं स्वयं आश्चर्यचकित हूँ कि कैसे क्या कार्य हो जाता है। उनकी पद-पदपर सँभालको देखते हुए मनको विश्वास नहीं होता कि श्रीभाईजी 'कल्याण' से पृथक् हो गये हैं। मैं तो यह मानता हूँ कि 'कल्याण' उनका है और वे 'कल्याण' के हैं, या यों कहें कि वे 'कल्याण' स्वरूप ही हो गये हैं। हमारा विश्वास ही नहीं, अनुभव है कि श्रीभाईजी परोक्ष रूपमें आज भी 'कल्याण' को सँभाल रहे हैं और इसी कारण इसका कार्य सुचारू रूपसे चल रहा है।"

'कल्याण' पत्रिकाके सम्पादन कार्यको सँभालते समय भी गोस्वामीजीकी यही मान्यता थी कि पत्रिका-सम्पादनका कार्य सम्पन्न हो रहा है मेरे द्वारा नहीं, अपितु उनके (अर्थात् बाबूजीके) द्वारा, भले ही यह सम्पन्नता परोक्ष रूपसे ही रही हो। समर्पणका जैसा आदर्श गोस्वामीजी महाराजने उपस्थित किया, वह सर्वथा अनुपम है।

'कल्याण–कल्पतरु' और 'कल्याण' पत्रिकाओंके कार्यसे अलग गोस्वामीजीने भक्तकवि सूरदासजीके भ्रमर–गीतके कई सौ पदोंका हिन्दीमें अर्थ लिखा। २७० श्लोकोंवाली 'श्रीराधा–सुधा–निधि' ग्रन्थके पदच्छेद–अन्वय–अर्थसहित टीकाके सम्पादनका कार्य भी गोस्वामीजीद्वारा सम्पन्न हुआ। गीताप्रेससे संस्कृत एवं अँग्रेजी भाषाका जितना साहित्य, चाहे पत्रिकाके रूपमें अथवा पुस्तकके रूपमें छपता, उसकी शुद्धि एवं प्रामाणिकताका अधिकांश श्रेय गोस्वामीजीके परिश्रमको है।

श्रीरामचरितमानसके बारे में अब तो यह बात प्रायः कही–सुनी जाती है कि यदि इस ग्रन्थकी रचनाका श्रेय गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीको है तो इस ग्रन्थको नगर–नगर, ग्राम–ग्राम पहुँचानेका श्रेय गीताप्रेसके माध्यमसे बाबूजीको है। गीताप्रेससे श्रीरामचरितमानसको प्रकाशित करनेके पहले बाबूजीने मानस पाठका संशोधन गोस्वामीजीसे करवाया। गोस्वामीजीको इस संशोधन–कार्यमें महत्त्वपूर्ण सहयोग मिला हिन्दीके विद्वान श्रीनन्ददुलारेजी वाजपेयीसे। फिर स्वयं बाबूजीने मानसका हिन्दीमें अर्थ लिखा। मलिहाबाद स्थित मानसकी प्रति, राजपुर स्थित अयोध्या काण्डकी प्रति, दुलही ग्राम स्थित सुन्दर काण्डकी प्रति, श्रावण कुञ्ज (अयोध्या) स्थित बालकाण्डकी प्रति, गोलाघाट (अयोध्या) स्थित मानसकी प्रति तथा और भी कुछ प्रतियाँ, इन सभी प्रतियोंका तुलनात्मक अध्ययन करके ही गोस्वामीजीने मानसका पाठ संशुद्ध किया था। आज गीताप्रेससे मानसका जो पाठ प्रकाशित हो रहा है, उसे प्रस्तुत किया गोस्वामीजीके अध्ययनशील व्यक्तित्वने ही।

गोस्वामीजी अनुवाद एवं सम्पादनके कार्यमें अधिक व्यस्त रहा करते थे, अतः कई–कई दिनतक वे बाबूजीसे मिल नहीं पाते थे। बाबूजीके सेवा–परायण नित्य परिकर भाई श्रीकृष्णचन्द्रजी अग्रवालको यह प्रिय नहीं लगा। एक दिन भाई श्रीकृष्णचन्द्रजीने गोस्वामीजीसे कहा — आपको दिनमें कम–से–कम एक बार

बाबूजीके पास जाना चाहिये। न जाने कितने लोग दूर-दूरके स्थानोंसे मिलनेके लिये आते हैं और आप यहाँ रह करके भी बाबूजीसे नहीं मिलते ?

गोस्वामीजीने मधुर स्वरमें उत्तर दिया — "यदि मैं मिलने जाता हूँ तो कम-से-कम आधा घंटा समय लग ही जायेगा। इस आधे घंटेका उपयोग यदि मैं उनके बतलाये हुए कार्यको करनेमें लगाऊँ तो कितना सुन्दर हो ? उनके द्वारा निर्दिष्ट कार्य पहले ही पूरा नहीं हो पाता। यदि मैं प्रतिदिन उनके पास जाने लगूँ, तो जानेसे उनके कार्यकी ही हानि होगी। मैं अपने मनकी बात कैसे समझाऊँ ? उनका दर्शन और उनका सामीप्य कौन नहीं चाहता ? उनके दर्शन और संभाषणसे मुझे बड़ा सुख मिलेगा, परंतु इस सुखसे अधिक सुखप्रद है उनकी आज्ञाका पालन। मेरी आन्तरिक चाह है कि उनका कार्य पूर्ण हो।"

गोस्वामीजीके उत्तरको सुनकर भाई श्रीकृष्णचन्द्रजी मौन हो गये।

क्रमशः गोस्वामीजीपर कार्य-भार अधिकाधिक बढ़ता ही चला जा रहा था। उनके कार्यमें कुछ सहारा दे देनेकी भावनासे एक बार श्रीमद्भागवतमहापुराणके कुछ अध्यायोंका अँग्रेजीमें अनुवाद एक विख्यात विद्वानसे करवाया गया। उस अँग्रेजी अनुवादमें गोस्वामीजीको कई न्यूनताएँ दिखलायी दीं। श्लोकके मध्यमें जहाँ 'च', 'तत्', 'ह', 'हि', 'एव', 'वा', 'बत', 'अपि', 'इव', 'अथ', 'इति' आदि शब्द आते हैं, इन शब्दोंके प्रयोगके बारेमें अच्छे-अच्छे विद्वानोंकी कुछ-कुछ ऐसी धारणा है कि कई बार तो इन शब्दोंको काव्य-रचना पूर्ण करनेके लिये श्लोकोंमें भर दिया गया है। गोस्वामीजीकी अति सुदृढ़ मान्यता यह थी कि इन शब्दोंको पाद-पूरणार्थ-प्रयोगके रूपमें सोचना अपनी अल्पज्ञताका परिचय देना है। इतना ही नहीं, इससे यह भी ध्वनित होता है कि ऐसे टिप्पणीकर्ता विद्वान्, जो इन शब्दोंका प्रयोग पाद-पूर्तिके रूपमें देखते हैं, वे पुराणों-जैसे विशाल वाङ्मयके रचयिता वेदव्यासजीको

ऋषि–दृष्टि–सम्पन्न द्रष्टा–कवि नहीं मानकर मात्र एक श्रेष्ठ कवि मानते हैं । वास्तविकता यह है कि श्रीमद्भागवतमहापुराणके एक–एक शब्दमें अर्थ–गाम्भीर्य है और उस अर्थ–गाम्भीर्यकी गहराईतक पहुँच न होनेके कारण ही इस प्रकारके हलके अभिमत भागवतकारके प्रति व्यक्त कर दिये जाते हैं । ऐसी भ्रान्त धारणाओंके फलस्वरूप जो अर्थ–दोष उस अनुवादमें थे, उन सबको गोस्वामीजीने बाबा (परम पूज्य श्रीराधाबाबा)–को दिखलाया। बाबाका भी मत वही था, जो गोस्वामीजीका था। बाबा तो श्रीमद्भागवतमहापुराणके एक–एक शब्दको महत्त्वपूर्ण मानते हैं और उन्हें देर नहीं लगी गोस्वामीजीके कथनको समझनेमें। उस अँग्रेजी अनुवादमें व्याप्त अर्थ–दोषवाली बात बाबाके भी ध्यानमें भली प्रकारसे आ गयी। फिर उन विख्यात विद्वान द्वारा कृत अँग्रेजी अनुवादको आलमारीमें सुरक्षित रख देनेके लिये कहकर बाबाने गोस्वामीजीसे कहा — "गोस्वामीपाद ! आपपर कार्य–भार अवश्य ही अधिक है, किंतु जगत्के समक्ष प्रामाणिक अनुवाद रखनेके लिये यह अनुवाद–कार्य आप ही पूर्ण करें।"

और यह अनुवाद–कार्य गोस्वामीजीद्वारा सम्पन्न हुआ। बाबा गौरवमयी वाणीमें कई बार कहा करते थे कि "अपने आर्ष ग्रन्थोंका ऐसा प्रामाणिक और आधिकारिक अँग्रेजी अनुवाद अभीतक मेरे देखनेमें नहीं आया।" गोस्वामीजीके अनुवाद–कौशलकी गरिमाको देश–विदेशके अच्छे–अच्छे विद्वानोंने उन्मुक्त मनसे स्वीकार किया है।

प्राच्य पुरातन विद्या विशारद डा.श्रीविश्वम्भरशणजी पाठकके विचारानुसार — "गोस्वामीजीने भारतीय धर्म–ग्रन्थोंके अँग्रेजी अनुवादके कार्यमें महान आदर्शकी प्रतिष्ठा की है। हिन्दू धर्म–ग्रन्थोंका अँग्रेजीमें अनुवाद करनेवाले आजतक जितने भी विद्वान हुए हैं, चाहे वे किसी काल अथवा देशके हों, उन सबको गोस्वामीजीने पीछे

छोड़ दिया है । वेदोंके विद्वान कहलानेवाले श्रीमैक्समूलर महोदय, इसी प्रकार अनुवाद–कार्यके क्षेत्रमें अमेरिकी विद्वान मारिस ब्लूमफील्ड, जर्मन विद्वान गेल्डनर, भारतीय विद्वान आनन्दकुमार स्वामी, कोई भी गोस्वामीजीकी गरिमाका स्पर्श करनेमें वस्तुतः समर्थ नहीं है।"

गोस्वामीजीकी मान्यता रही है कि साहित्य–क्षेत्रके काव्यों और धर्म–क्षेत्रके काव्योंके अनुवादकी शैलीमें अन्तर होना चाहिये और इस अन्तरका हेतु यही है कि धर्म–काव्योंमें प्रत्येक शब्दकी प्रयोग–पद्धति और प्रत्येक वाक्यकी रचना–शैलीके पीछे एक विशेष प्रयोजन है । अध्यात्म–साधना और शब्द–साधना, इन दोनों साधनाओंसे गोस्वामीजीका जीवन परिपूर्ण था, इसीके फलस्वरूप उन्हें इस विशेष प्रयोजनकी जानकारी हो सकी। हिन्दू धर्मके आर्ष वाङ्मयका अँग्रेजी भाषामें प्रामाणिक अनुवाद किस पद्धतिसे होना चाहिये, इसपर गोस्वामीजीने गम्भीरतापूर्वक विचार किया और उस चिन्तन–नवनीतको उन्होंने कार्य–रूपमें प्रतिफलित भी कर दिखलाया।

एक बार बाबाने बाबूजीकी एक कृतिका एक श्रेष्ठ विद्वानसे संस्कृतमें अनुवाद करवाया। वह अनुवाद ठीक लगनेके बाद भी बाबाने उस संस्कृत अनुवादको देखनेके लिये गोस्वामीजीके पास भेज दिया । उस संस्कृत अनुवादमें एक प्रयोगके सामने प्रश्नवाचक चिह्न लगाकर गोस्वामीजी बाबाके पास आये। गोस्वामीजीने वह प्रयोग दिखलाते हुए बाबासे कहा — मेरी अल्प समझके अनुसार यह प्रयोग सही नहीं लग रहा है।

बाबाको वह प्रयोग सही लग रहा था । बाबा द्वारा पूछे जानेपर गोस्वामीजीने अपने पक्षमें कुछ कारण बतलाये। जब कुछ निर्णीत नहीं हो सका तो यह तय हुआ कि किन्हीं प्रौढ संस्कृत वैयाकरणको बुलाकर इस प्रयोगके विषयमें निर्णय लिया जाये । गोरखपुरकी एक संस्कृत पाठशालाके व्याकरणाचार्यको बुलवाया गया। उनको सब

बात समझानेमें ही आधा घंटा लग गया। सब समझ करके भी वे अपना निर्णय नहीं दे पाये। फिर गीताप्रेसमें कार्य करनेवाले एक पण्डितजीको बुलवाया गया, जो व्याकरणके विशेषज्ञ माने जाते थे। वे व्याकरण-विशेषज्ञ दोनों पक्षोंकी बातको सुनकर भी कोई समाधान नहीं दे पाये। फिर यह सोचा गया कि वाराणसीसे किसी व्याकरण-मर्मज्ञको बुलवाकर निर्णय करवाया जाये। जब बात बढ़ते-बढ़ते यहाँतक आ गयी तो गोस्वामीजीने कहा — क्यों किसीको बुलवाया जाये? हमलोग परस्परमें विचार करके स्वयं निर्णय कर लें।

बाबा और गोस्वामीजीके मध्य यह विचार-विनिमय तीन दिनतक चलता रहा। यह एक प्रकारका मधुर शास्त्रार्थ था। दोनों पक्ष उस प्रयोगके औचित्य-अनौचित्यपर अपने-अपने तर्क प्रस्तुत कर रहे थे। फिर यह तय हुआ कि श्रीभट्टोजी दीक्षित द्वारा प्रणीत व्याकरण-ग्रन्थको देखना चाहिये। उस व्याकरण-ग्रन्थमें दोनों ही बातें दी गयी थीं और दोनों प्रकारके प्रयोगोंको सही ठहराया गया था। अब तो कोई प्रश्न ही शेष नहीं था। इस व्याकरणग्रन्थने दोनों पक्षोंको पूर्ण सन्तुष्ट कर दिया। दोनों पक्षोंका समाधान होते ही बाबाने तत्काल गोस्वामीजीकी मान्यताको आदर दिया और उस संस्कृत अनुवादमें गोस्वामीजीके कथनानुसार प्रयोगको ठीक कर दिया।

इस प्रसंगको सुना करके बाबा कई बार गोस्वामीजीके बारेमें कहा करते थे कि "व्याकरणकी गहराईमें उनकी पैठ और स्व-पक्षको प्रतिपादित करनेकी उनकी योग्यता अनोखी थी।" इधर तो बाबा इस प्रकार कहा करते थे और उधर यदि कोई शब्द-प्रयोग गोस्वामीजीके लिये कदाचित् विचारणीय बन जाता था तो वे उस सम्बन्धमें विचार एवं विवेचन करनेके लिये बाबाके पास आया करते थे।

इतने महान विद्वान होकर भी गोस्वामीजी स्वयं अमानी रहकर दूसरोंको सम्मान देनेमें सदैव तत्पर रहा करते थे। एक बार इसका बड़ा सुन्दर प्रसंग देखनेको मिला।

घटना सम्भवतः सन् १९६३ ई. की है। बर्तन माँजनेवाले, फूल-पौधोंकी सँभाल करनेवाले, इस स्तरके जितने भी सेवक गीतावाटिकामें थे, उन सभीके भोजनका विशद आयोजन बाबाकी प्रेरणासे हुआ। सेवकोंमें बाबाका भगवद्भाव था और इसी भावसे यह कार्यक्रम आयोजित हुआ था। सभी सेवकोंको पहननेके लिये नवीन वस्त्र दिया गया और सभीको वाटिकाके बड़े-बड़े लोगोंने परोस-परोस करके भोजन करवाया। सेवकोंके भोजन कर लेनेके बाद ही घरवालोंने प्रसाद-भावसे भोजन किया। इस कार्यक्रममें बाबाने यह निर्धारित किया था कि सभी सेवकोंके चरण भोजनके पूर्व धोये जायें और पाद-प्रक्षालनका यह कार्य गोस्वामीजीके द्वारा सम्पन्न हो। ज्यों ही यह बात बाबाने गोस्वामीजीसे कही, त्यों ही गोस्वामीजीने इसे अपना परम सौभाग्य माना। यह भावना उनके मनमें स्फुरित ही नहीं हुई कि मैं विद्वान सम्पादक हूँ, अथवा मैं आचार-निष्ठ भक्त हूँ, अथवा मैं गोस्वामि-कुलोद्भूत ब्राह्मण हूँ, अथवा मैं एक प्रौढ़ व्यक्ति हूँ, अपितु पाद-प्रक्षालनके कार्यके लिये स्वयंका चयन होना बाबाके अमाप्य प्यारका परिचायक माना। जब सेवकोंका यह बात ज्ञात हुई तो उन्होंने बाबासे प्रार्थना की — बाबा ! ऐसा कार्य नहीं होना चाहिये, जो हमलोगोंको बहुत भारी पड़े। गोस्वामीजी महाराज हमलोगोंके लिये पूज्य हैं और प्रणम्य हैं, फिर क्या हमलोगोंके लिये सह्य होगा कि वे हमारे पैरोंका स्पर्श करें ?

सभी सेवकोंद्वारा ऐसा कहे जानेपर पाद-प्रक्षालनका कार्य गोस्वामीजीद्वारा नहीं हो पाया, परंतु वे तो पूर्णरूपेण प्रसन्न मनसे प्रस्तुत थे।

सन् १९५९ ई. के आस-पास एकबार बाबाने गोस्वामीजीके पास एक संदेश भिजवाया। इस संदेशको सूचना कहना चाहिये। सूचना यह थी कि बीकानेरनरेश महाराजा श्रीगंगासिंहजीका लीला-प्रवेश हो गया है। जब गोस्वामीजी बीकानेरके प्रशासनिक विभागमें कार्य करते थे तो उनका महाराजा श्रीगंगासिंहजीसे निकट सम्पर्क

रह चुका था। इस सूचनाको पाकर गोस्वामीजीको आनन्द हुआ, परंतु आनन्दसे अधिक आश्चर्य हुआ। आश्चर्य हुआ यह सोचकर कि उनका निधन तो कई वर्ष पहले हो चुका था और श्रीराधाकृष्णके लीला-राज्यमें उनका प्रवेश अब हुआ और यह हुआ तो किस पुण्य अथवा साधना अथवा कृपाके फलस्वरूप हुआ? गोस्वामीजीको ज्ञात था कि महाराजा श्रीगंगासिंहजी तो राजसी ठाट-बाटके मध्य जीवन व्यतीत करनेवाले मात्र एक श्रेष्ठ हिन्दू नरेश थे। गोस्वामीजीने अपने आश्चर्यको व्यक्त किया तो बाबाने बतलाया कि महाराजा श्रीगंगासिंहजीको अपनी किसी साधनाके फलस्वरूप यह स्थिति प्राप्त नहीं हुई, अपितु यह तो वस्तुतः श्रीपोद्दार महाराजसे होनेवाले सम्पर्क एवं सम्बन्धका सुन्दर परिणाम था। इस तथ्यको सुनकर गोस्वामीजीकी बाबूजीके प्रति आन्तरिक श्रद्धा-भावना कितनी पुष्ट और प्रफुल्ल हुई होगी, यह कल्पनासे परेकी बात है।

गोस्वामीजीका आचार-विचारपर बड़ा ध्यान रहा करता था। एक बार गोस्वामीजी गीताप्रेस गये। गीताप्रेसके मैनेजर श्रीदुर्गाप्रसादजी गुप्त अपने कार्यालयमें कुर्सीपर बैठ हुए थे। श्रीदुर्गा बाबूसे गोस्वामीजीको मिलना था। कमरेमें प्रवेश करनेके पूर्व गोस्वामीजी अपने पैरोंमेंसे कपड़ेवाला जूता निकालने लगे। श्रीदुर्गा बाबूने कहा — 'आप जूता क्यों निकाल रहे हैं? मेरे इस कमरेमें तो सभी लोग जूता पहने हुए ही आते हैं।'

गोस्वामीजीने कहा — "मुझे यह अच्छा नहीं लगता कि जहाँ लिखने-पढ़नेका सात्त्विक कार्य हो रहा हो, वहाँ जूता पहने रहा जाये अथवा जूता पहने हुए ही उस कमरेमें प्रवेश किया जाये। भले ही लोग जूता पहने हुए आपके कमरेमें जाते हों, परंतु मुझे यह रुचिकर नहीं।"

बीकानेर नरेश महाराजा श्रीगंगासिंहजी

श्रीदुर्गा बाबूके द्वारा निवारण किये जानेके बाद भी गोस्वामीजी जूता निकाल कर ही उनके कमरेमें गये।

वंशानुवंश परम्परासे गोस्वामीजीके परिवार में श्रीवल्लभ-सम्प्रदायका ही आनुगत्य रहा है। वल्लभ-कुलीय होनेके कारण गोस्वामीजीके जीवनमें शौचाचार एवं स्पर्शास्पर्शका बड़ा स्थान था। गोस्वामीजी सदा अपने घरपर ही भोजन किया करते थे। कहीं अन्यत्र भोजन करनेका प्रश्न ही नहीं था। बस, एक अपवाद था। वह था — बाबूजीके घरका प्रसाद। बाबूजीके घरकी प्रत्येक वस्तु गोस्वामीजीको ग्राह्य थी। शौचाचारसे सम्बन्धित एक सरस प्रसंग उस समयका है, जब तीर्थ-यात्रा ट्रेन मथुरा स्टेशनपर ठहरी हुई थी। बाबाके निर्देशके अनुसार ठाकुर श्रीघनश्यामजी बरसानेके एक प्रच्छन्न प्रेमी भक्तके घरसे भिक्षा-प्रसाद ले आये और बाबाको दे दिया। बाबाने कण-मात्र स्वीकार करके वह भिक्षा-प्रसाद पा लेनेके लिये गोस्वामीजीको दे दिया। गोस्वामीजीका नित्य-नियम अभी सम्पन्न नहीं हुआ था और इतना ही नहीं, स्पर्शास्पर्श-निष्ठाकी प्रबलताके कारण हर वस्तु ग्राह्य भी नहीं थी। इन दोनों बातोंके होते हुए भी गोस्वामीजीने बिना विचार किये हुए भिक्षा-प्रसादको पा लिया, केवल इसीलिये कि बाबाने पा लेनेके लिये कह दिया है। ऐसा समर्पण-भाव था गोस्वामीजीका बाबा तथा बाबूजीके प्रति। अपने समर्पित जीवनके कारण गोस्वामीजी बाबूजीके परिवारके एक ऐसे अभिन्न अंग बन गये थे कि परमादरणीया बाई (श्रीसावित्रीबाई फोगला) उनको चाचाजी कहती थीं और बाईकी चारों सन्ताने उनको नानाजी कहती थीं। बाईके प्रति तथा बाईके बालकोंके प्रति गोस्वामीजीके मनमें अत्यधिक दुलार था। बाबूजीके चले जानेके बाद गोस्वामीजीका वात्सल्य इन बालकोंके प्रति और भी अधिक उमड़ पड़ा था।

ग्रीष्मकालमें बाबा तथा बाबूजी स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) जाया ही करते थे। उस समय गोस्वामीजी गीतावाटिकामें रहा करते थे। पीछे एक वरिष्ठ व्यक्तिको रहना ही चाहिये गीतावाटिकाकी सँभालके लिये। केवल सँभाल ही नहीं, 'कल्याण–कल्पतरू' के सम्पादन–कार्यको पूरा करनेके लिये । बस, गोस्वामीजीको गीतावाटिकाका दायित्व सँभलाकर बाबूजी बाबाके साथ स्वर्गाश्रम चले जाया करते थे। एक बार कोई ऐसा आवश्यक कार्य आ गया कि गोस्वामीजीको स्वर्गाश्रम जाना पड़ गया । गोस्वामीजी प्रातःकाल आठ–नौ बजे बाबूजीके पास डालमिया कोठी पहुँचे । पहुँचनेपर शौच–स्नानके उपरान्त बाबूजीसे आवश्यक बातचीत हुई । इसके बाद बाबूजीने कहा — आप आज ही अपराह्नकालमें गोरखपुर वापस चले जायें।

भोजनके बाद गोस्वामीजी गोरखपुर वापस जानेकी तैयारीमें लग गये। ज्यों ही बाईको पता चला कि चाचाजी तो वापसी यात्राकी तैयारीमें लगे हैं, उन्हें बड़ा बुरा लगा । कितने वर्षोंके बाद तो गोस्वामीजीका आना हुआ और न जाने कितने मिलनेवाले, दर्शन करनेवाले लोग होंगे ? फिर यह भाग–दौड़ भी क्या कोई भली बात है कि आये और तुरंत चल दिये ? बेटी होनेके नाते पिताजीसे हठ करनेका अधिकार बाईको सदा था, सदा है और यह प्रीति–कलह भी कैसा मधुर है कि बेटीके बाल–हठके सामने बाबूजीको झुकना पड़ा । बाबूजीने गोस्वामीजीको रोक लिया। फिर गोस्वामीजी कई दिन स्वर्गाश्रममें रहे, पर अपनी ओरसे कोई इच्छा नहीं। बाबूजीने वापस जानेके लिये कहा तो मनसे पूर्णतः तैयार और ठहर जानेके लिये कहा तो उसके लिये भी भीतरसे वैसी ही तैयारी। गोस्वामीजीका न चले जानेसे प्रयोजन था और न ठहर जानेसे प्रयोजन। बस, प्रयोजन है तो इतना ही है कि तुम संचालन करो और तुम्हारे संकेतपर यह जीवन परिचालित रहे । गोस्वामीजीका जीवन–सूत्र था — वंशीवत् जीवनको खाली कर देना ही समर्पणकी सीमा है। अपना स्वर, अपने राग अपनी चाह कुछ नहीं, प्यारेकी जैसी इच्छा" ।

गोस्वामीजीका कण्ठ बड़ा सुरीला था। वृद्धावस्थामें भी उनके गायनका लालित्य बना रहा। गीतावाटिकामें प्रायः प्रतिदिन ही बाबूजीका प्रवचन एक घंटे प्रातःकाल हुआ करता था। बादके वर्षोंमें तो गोस्वामीजीको समय कम मिला करता था, परंतु गीतावाटिकाके आरम्भिक वर्षोंमें इस प्रवचनके पूर्व गोस्वामीजी एक भक्ति-पदका गायन किया करते थे। जब तीर्थ-यात्रा-ट्रेन गयी थी, तब उस ट्रेनमें बाबूजीके साथ गोस्वामीजी भी गये थे। जहाँ-जहाँ ट्रेन पहुँचती थी, वहाँ-वहाँ बाबूजीका स्वागत होता था और उपस्थित भक्तोंके मध्य बाबूजीको प्रवचन भी देना पड़ता था। वहाँ भी गोस्वामीजी प्रवचनके पूर्व पद गाया करते थे।

एकान्तवास और स्वास्थ्य-लाभकी दृष्टिसे बाबूजी सन् १९३९ से १९४५ तक रतनगढ़में रहे थे। वहींपर 'कल्याण' और 'कल्याण-कल्पतरु' का सम्पादकीय विभाग भी था। बाबा भी बाबूजीके साथ थे और उनका मौन व्रत चल रहा था। इन्हीं दिनोंकी बात है। बाबा तथा बाबूजी और कुछ निकटवर्ती जन बैठे हुए थे। उसी समय गोस्वामीजीने अपने सुललित कण्ठसे श्रीरासपञ्चाध्यायीका गोपीगीत 'जयति तेऽधिकम्' गाया। गायनका माधुर्य अपनी सीमापर था। सम्पादकीय विभागके एक सदस्य आदरणीय श्रीमधुरजी साथ-साथ वीणा बजा रहे थे। उनकी मयूर वीणाकी झंकृतिने उस माधुर्यको महामाधुर्यमय बना दिया। उस माधुर्यका बाबूजी और बाबापर ऐसा प्रभाव पड़ा कि दोनों अत्यधिक विभोर हो उठे। बाबूजीकी विभोरता गम्भीर थी और वे बहुत अधिक अन्तर्मुख हो गये। बाबाकी विभोरता उच्छलित थी और वे भाव-विभोर होकर व्यथापूर्ण हृदयसे सकरुण वाणीमें 'राधा-राधा' बोलने लगे, अपितु पुकारने लगे। एक विचित्र प्रकारके भावसे पूर्ण हो उठा था उस स्थानका वातावरण। रतनगढ़के वे लोग सौभाग्यशाली थे, जो उस अवसरपर उपस्थित थे और इस प्रकार सौभाग्यशाली बननेका अवसर अन्तरंग जनोंको कई बार मिल जाया करता

था । बाबाकी रुचि देखकर इस प्रकारके एकान्त गायनका आयोजन रतनगढ़की हवेलीके एकान्त क्षणोंमें कई बार हुआ है ।

बाबाने सन् १९५६ ई. में कठोर काष्ठमौन व्रत लिया था । काष्ठमौन लेनेके पहले बाबाने गोस्वामीजीसे कहा था — रात्रिमें जब भी आपको अवकाश मिले, आप मुझे व्रजभावके पद सुना दिया करें । भले आप एक ही पद सुनायें, पर प्रति-रात्रि मेरी कुटियाकी दक्षिण दिशामें स्थित पगडंडीपर टहलते हुए सुनाया करें ।

गोस्वामीजी द्वारा पद सुनानेका क्रम अखण्ड रूपसे चलता रहा । इसमें विराम आया तब, जब सवा मास बाद बाबा-बाबूजी गोरखपुरसे रतनगढ़ चले गये । सम्भवतः सन् १९५९ ई. की बात होगी । गीतावाटिकामें बाबूजीका प्रवचन नित्यप्रतिके नियमके अनुसार प्रातःकाल होनेवाला था । उस दिन गोस्वामीजी भी प्रवचनमें आये थे । इन दिनों गोस्वामीजी प्रायः प्रवचन-कार्यक्रममें नहीं आ पाते थे । कार्यकी अधिकताके कारण अवकाश कम मिल पाता था, परंतु कभी-कभी तो आते ही थे । ज्यों ही बाबूजीने श्रोताओंके सामने आसन ग्रहण किया, गोस्वामीजीसे पद गानेके लिये अनुरोध किया गया । गोस्वामीजीने बाबूजी द्वारा रचित पद गाना आरम्भ किया —

मेरी इस विनीत विनतीको सुन लो, हे व्रजराजकुमार !

युग-युग, जन्म-जन्ममें मेरे तुम ही बनो जीवनाधार ॥

पद-पंकज-परागकी मैं नित अलिनी बनी रहूँ, नंदलाल !

लिपटी रहूँ सदा तुमसे मैं, कनकलता ज्यों तरुण तमाल ॥

दासी मैं हो चुकी सदाको, अर्पणकर चरणोंमें प्राण ।

इस पाँचवी पंक्तिको गाते–गाते गोस्वामीजीकी स्थिति कुछ दूसरी ही हो गयी। अन्तरकी विह्वलताने कण्ठको अवरुद्ध कर दिया। स्वर–भंगको सँभालनेकी चेष्टा उन्होंने की, पर वह असफल प्रयास था। अश्रु–प्रवाहने पूर्ण स्वरावरोध उत्पन्न कर दिया था। क्या बाबूजी और क्या श्रोतागण, सभी उपस्थित लोग गोस्वामीजीकी उस विह्वलताके प्रवाहमें डूब–उतरा रहे थे। वह पद क्या था, उस पदमें गोस्वामाजीके समर्पित जीवनकी भावनाएँ मुखरित थीं। बाबूजी मौन, श्रोतागण मौन और गोस्वामीजी भी मौन; सारे वातावरणमें मौन परिव्याप्त हो रहा था। उस नीरवताको अपने गायनसे पुनः गुंजित करनेका एक अल्प प्रयास किया गोस्वामीजीने। उन्होंने गानेके लिये वह पाँचवीं पंक्ति पुनः उठायी, पर पुनः वे गा न सके। पुनः वातावरणमें नीरवता परिव्याप्त हो गयी। चौदह पंक्तिवाले इस पदकी केवल चार पंक्तियाँ ही गायी जा सकीं, शेष अन–गायी ही रह गयीं। तब बाबूजीने अपना प्रवचन आरम्भ किया और आज उस प्रवचनका विषय था — वृषभानुनन्दिनी कृष्णप्रिया श्रीराधाका मूक समर्पण।

गोस्वामीजीकी भाव–विभोरताका एक और उल्लेखनीय सरस प्रसंग स्मृति– पथपर उभर रहा है। 'कल्याण' के भावी विशेषांक — श्रीरामांकके लिये आये हुए लेखोंका सम्पादन–कार्य चल रहा था। एक लेख भगवती श्रीसीतापर था। वह लेख पढ़कर गोस्वामीजीको सुनाया जा रहा था। लेखको सुनते–सुनते गोस्वामीजी इतने अधिक भाव–भरित हो उठे कि उनके नेत्रोंके अश्रु झर–झर करके कपोलोंपर प्रवाहित होने लग गये। उन्हें विस्मृत हो गया कि मैं सम्पादकीय–विभागके कमरेमें बैठा हुआ हूँ। तुरंत लेखका सुनाना बन्द कर दिया गया और उन्हें कमरेके एकान्तमें छोड़कर धीरेसे दोनों कपाट सटा दिये गये।

सन् १९६१ ई. के ग्रीष्म ऋतुकी बात होगी। बाबूजी रातको गोस्वामीजीसे श्रीराधाकृष्णकी लीलाके पद सुना करते थे। अधिकांशतः ये पद बाबूजीके स्वरचित

हुआ करते थे। इन पद–गोष्ठियोंमें केवल अन्तरंग व्यक्ति ही रहा करते थे। यह पूर्णतः अन्तरंग कार्यक्रम प्राय: रातके नौ–साढ़े नौ बजे आरम्भ होता था और लगभग एक–दो घंटे चला करता था। यदि कभी रंग गहरा हो जाता था तो यह कार्यक्रम रातके एक–दो बजेतक भी चलता रहता था। एक बार ऐसा हुआ कि अर्ध रात्रितक जागरण करनेका क्रम कई दिनतक चलता रहा। इससे चाचीजी (गोस्वामीजीकी धर्मपत्नी)–को बड़ी चिन्ता हुई। गोस्वामीजी ब्राह्म मुहूर्तमें उठ जाया करते थे तथा नित्यके दैनन्दिन पूजन–अर्चनसे निवृत्त होकर दिन भर सम्पादन–कार्यमें जुटे रहते थे। इस जागरणसे तो गोस्वामीजीका स्वास्थ्य गिर जायेगा, बस, यही चिन्ता चाचीजीको पीड़ा पहुँचा रही थी। उन्होंने एक–दो बार गोस्वामीजीसे अनुरोध भी किया कि आपको रातमें इतनी देरतक नहीं जगना चाहिये। गोस्वामीजीने चाचीजीको कोई उत्तर नहीं दिया। समर्पित–जीवन गोस्वामीजीकी आन्तरिक भावना यही थी कि यदि बाबूजी मुझको जगाना चाहते हैं तो वैसा ही हो। इसके अतिरिक्त यह ऐकान्तिक कार्यक्रम ही तो जीवनको वास्तविक जीवन प्रदान किया करता था। पद–गानके निमित्तसे जो रस–धारा बहने लगती थी, उसीसे जीवनको वास्तविक तुष्टि और पुष्टि प्राप्त होती थी। अस्तु, गोस्वामीजीके प्रति किया गया अनुरोध जब सफल नहीं हुआ तो चाचीजीने अपना संदेश और अपनी चिन्ता बाबूजीके पास कहला भिजवाया। उस संदेश–वाहकके द्वारा प्रत्युत्तरस्वरूप बाबूजीने कहलावया — उनका कहना सही है कि रातको जागरण करनेसे स्वास्थ्यपर कुप्रभाव पड़ता है, पर यह कुप्रभाव पड़ता है तब, जब लौकिक कार्योंके लिये जगना पड़े अथवा पारमार्थिक कार्योंमें भी उत्साह शून्य और भाव–शून्य होकर जगना पड़े। पद–गान तो स्फूर्ति, दिव्यता, प्रेरणा आदि ही प्रदान करता है। बाबूजीके उत्तरसे चाचीजीका समाधान हो गया।

एक बार चाचीजी बीकानेर गयी हुई थीं। दुर्भाग्यसे वहाँ उनके पैरकी हड्डी टूट गयी। यह कष्टपूर्ण समाचार बीकानेरसे गोरखपुर आया, पर गोस्वामीजीने किसीके भी

सामने यह बात उठायी ही नहीं कि मुझे बीकानेर जाना है। पहले अपने मनके भीतर बात उठे, तब न दूसरे लोगोंके बीच बात चलायी–उठायी जाये ! उनके मनमें किसी प्रकारके संकल्प–विकल्पका उद्भव हुआ ही नहीं। इस समाचारको सुन करके भी वे ऐसे निर्लिप्त रहे, मानो यह समाचार बीकानेरसे आया ही नहीं। सच पूछा जाये तो उनके परिवारवाले अब कहने मात्रके लिये पारिवारिक रह गये थे। अब उनकी समस्त ममताके केन्द्र थे बाबूजी और बाबूजी ही थे उनकी पारिवारिकताकी परिधि —

तन–धन–जन का बन्धन टूटा, छूटा भोग–मोक्ष का रोग।

धन्य हुई मैं प्रियतम ! पाकर, एक तुम्हारा प्रिय संयोग॥

— ये पंक्तियाँ गोस्वामीजीके जीवनमें मूर्तिमान थीं। वस्तुतः गोस्वामीजीकी 'प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी'। गोस्वामीजीके इस समर्पण–भावपर बाबा मुग्ध हो गये। गोस्वामीजी तो बीकानेर गये नहीं। फिर बाबूजीने ही अपने व्यक्तियोंद्वारा उनकी चिकित्सा तथा प्लास्टरकी व्यवस्था करवायी।

गोस्वामीजीके भावमय जीवनके अनेक मधुर प्रसंग हैं। सन् १९४९ ई. में वृन्दावनसे गोरखपुर शहरमें रासमण्डली आयी। तब उस रासमण्डलीमें श्रीघनश्यामजी ठाकुरस्वरूप धारण किया करते थे। बाबाके साथ गोस्वामीजी रासलीला देखनेके लिये गये। लीला बड़ी सुन्दर हुई। लीलाका रंग गोस्वामीजीके मनपर चढ़ा हुआ था। लीला–दर्शनके एक–दो दिन बादकी बात है। गोस्वामीजी अपने घरके कमरेमें भूमिपर लेटे हुए थे। कमरेके एकान्तमें उनका मन उस दृष्ट लीलाके भाव–प्रवाहमें बहा जा रहा था। उस प्रवाहकी छलक कभी–कभी नेत्रोंके कगारोंको छू लेती थी। तब वे उन भाव–विन्दुओंको धीरेसे पोंछ लेते थे। गोस्वामीजी चाहते तो यह थे कि कभी मेरे घर श्रीठाकुरस्वरूपजी पधारें, परंतु अपने संकोची स्वभावके कारण श्रीठाकुरजीको कहें तो कैसे कहें ? इसी प्रकारके भावोंमें चुपचाप लेटे हुए गोस्वामीजीका मन निमग्न था कि

तभी किसीने चरणोंका स्पर्श किया। नेत्र खोलकर देखा तो ठाकुरस्वरूप श्रीघनश्यामजी ही प्रणाम कर रहे हैं। अनेक सूत्रोंसे गोस्वामीजीकी गुण-गाथाको सुन करके उनके प्रति ठाकुरस्वरूप श्रीघनश्यामजीका पितृ-भाव हो गया था। उन्हें प्रणाम करते देखकर गोस्वामीजी विस्मय-पूरित हो गये। मन अनेक प्रकारके भावोंसे भर गया। "यह असम्भव आज कैसे सम्भव हो गया ? आज यह अकल्पनीय कृपा कैसे हो गयी ? आज यह घर किस पुण्यके फलस्वरूप पवित्र हो गया ?" इन सब भावोंका वेग इतना प्रबल था कि गोस्वामीजी बहुत देरतक जडवत् पड़े रहे। अपनी जडिमा स्थितिके कारण गोस्वामीजी ठाकुर श्रीघनश्यामजीका पर्याप्त समयतक प्राथमिक स्वागतोपचार नहीं कर पाये। ठाकुर श्रीघनश्यामजीको किसी प्रकारके स्वागत-सत्कारकी अपेक्षा नहीं थी, फिर भी उन्हें यह बड़ा अटपटा लगा कि गोस्वामीजी कुछ बोल क्यों नहीं रहे हैं। भावके शमित होनेमें कुछ समय तो लग ही गया। जब गोस्वामीजी कुछ प्रकृतिस्थ हुए, तब तो गोस्वामी दम्पतिने उनका जो स्वागत किया, जो लाड़-चाव किया, उसकी कोई सीमा नहीं थी। गोस्वामीजीके उस स्वागतोल्लासको स्मरण करके ठाकुर श्रीघनश्यामजी आज भी पुलकित हो उठते हैं। तबसे यह एक परम्परा-सी ही बन गयी कि जब भी ठाकुर श्रीघनश्यामजी गोरखपुर आयें, उनको गोस्वामीजीके यहाँ एक बार भोजन करना ही है। यह क्रम गोस्वामीजीके जीवन भर अखण्ड रूपसे चला।

गोस्वामीजीके सामने प्रलोभन कम नहीं आये। सबसे बड़ा प्रलोभन था शंकराचार्य-पदका। श्रीजगन्नाथपुरी स्थित श्रीगोवर्धनपीठके पीठाधिपति अनन्तश्रीविभूषित शंकराचार्य पूज्य स्वामी श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराजने गोस्वामीजीकी साधुता और विद्वत्तासे प्रभावित होकर उन्हें अपना उत्तराधिकारी मनोनीत करनेकी अभिलाषा व्यक्त की। परम पूज्य शंकराचार्य श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज अद्भुत प्रतिभा सम्पन्न उद्भट विद्वान थे। जब आप सोलह वर्षके किशोर थे, उस समय आपकी धाराप्रवाह एवं श्रेष्ठ संस्कृत बोलनेकी क्षमताको देखकर दक्षिण

भारतकी पण्डित-सभाने आपको 'सरस्वती पुत्र' की उपाधिसे विभूषित किया था। सन् १९०४ ई. में आपने बीस वर्षकी आयुमें बम्बईमें एक ही वर्षमें एक साथ सात विषयों (संस्कृत, अंग्रेजी, दर्शन, गणित, इतिहास, विज्ञान तथा एक और किसी विषय)-में एम.ए. की परीक्षा दी और आप सातों विषयोंमें प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण हुए। केवल भारत ही नहीं, विश्वके किसी भी देशका कोई भी युवक इस प्रकारकी योग्यताका उदाहरण आजतक प्रस्तुत नहीं कर पाया है। जिस प्रकार पाणिनी व्याकरणके चौदह माहेश्वर सूत्रोंके आधारपर सारी संस्कृत व्याकरण पढ़ायी जाती है, उसी प्रकार आपने वेदोंका मन्थन करके ऐसे सोलह सूत्र छाँटकर निकाले हैं, जिनके आधार पर आधुनिक कालकी गणितकी ऊँची-से-ऊँची शिक्षा दी जा सकती है। पूज्य श्रीशंकराचार्यजी महाराजद्वारा आविष्कृत ये सोलह वैदिक सूत्र और आपके द्वारा अंग्रेजीमें लिखित 'वैदिक मैथेमेटिक्स' आज देश और विदेशके गणितज्ञोंके लिये आश्चर्य और आकर्षणके विषय बने हुए हैं। सन् १९६० ई. में पूज्य श्रीशंकराचार्यजी महाराज ब्रह्मलीन हुए थे। अपने महाप्रयाणके पूर्व उन प्रखर प्रतिभाशाली महापण्डित विश्व-विश्रुत पूज्य श्रीशंकराचार्यजी महाराजने गोस्वामीजीको अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहा था।

शंकराचार्य-पदका प्रस्ताव ज्यों ही सामने आया, त्यों ही गोस्वामीजीके अन्तरमें धर्म-संकटकी विषम स्थिति उत्पन्न हो गयी। पूज्य श्रीशंकराचार्यजी अपने धर्माचार्य हैं, वे नित्य परम वन्दनीय हैं, ऐसे गौरवपूर्ण शंकराचार्य-पदके लिये चयन उनका कृपा-प्रसाद ही है, उनका संकेत मात्र ही आदेशके समकक्ष है और उनकी रुचि देखकर इस प्रस्तावको तुरंत स्वीकार कर लेना चाहिये था, परंतु गोस्वामीजीका हृदय बाबूजीसे विलग होनेके लिये प्रस्तुत नहीं था। फिर बड़े विनम्र शब्दोंमें अत्यधिक संकोचके साथ गोस्वामीजीने इस प्रस्तावको स्वीकार करने में अपनी विवशता व्यक्त कर दी।

अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य पूज्य स्वामी श्रीभारतीकृष्ण तीर्थजी महाराज

गोस्वामीजीने शंकराचार्य-पदके प्रस्तावको स्वीकार नहीं किया, अस्वीकृतिके हेतुको समझनेके लिये गोस्वामीजीकी मान्यताओंके सम्बन्धमें कुछ उल्लेख करना आवश्यक-सा प्रतीत हो रहा है। गोस्वामीजीकी सुदृढ़ धारणा थी कि शंकराचार्य-पदके मूलमें जो आदि-विभूति हैं, उन आदि-शंकराचार्यजी द्वारा धर्म-संस्थापनका जो महान कार्य उस समय हुआ था, वही महान कार्य इस समय अब बाबूजीके द्वारा हो रहा है।

गोस्वामीजी भली-भाँति जानते थे कि विशाल सत्साहित्यकी रचनाके द्वारा, शास्त्रीय ग्रन्थों एवं पत्रिकाके प्रकाशनके द्वारा, वैयक्तिक पत्र एवं ऐकान्तिक परामर्शके द्वारा, विभिन्न स्थानों एवं पवित्र तीर्थोंकी यात्राके द्वारा, सत्संग-सत्र एवं उत्सवोंके आयोजनके द्वारा और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात — अपनी करनी एवं रहनीके द्वारा बाबूजी समाजमें आध्यात्मिकता-धार्मिकता-आस्तिकता-नैतिकता-सात्त्विकताके संस्थापनका ही कार्य कर रहे हैं। बाबूजीद्वारा यदि एक ओर धर्म-संस्थापन एवं समाजोन्नयनका कार्य हो रहा है तो दूसरी ओर सरल भाषामें भक्ति-राज्यके रस-सिद्धान्तोंका निरूपण भी हो रहा है। और केवल निरुपण ही नहीं, उनका जीवन उस रस-सिन्धुमें सर्वथा आशिख-निमग्न है। गोस्वामीजीने स्वयं देखा है कि उस निमग्नतामें प्रगाढ़ता आनेपर बाबूजीको अपने शरीरका भान नहीं रहता था। इस प्रकारकी नितान्त शरीर-भान-रहित भाव-समाधिकी स्थितिमें उनके कई-कई घंटे निकल जाया करते थे। इसके अतिरिक्त, जब शरीरका भान रहता था, उस समय भी उनका मानस भावके बहुत ऊँचे स्तरपर प्रतिष्ठित रहा करता था। सच्ची बात यह है कि बाबूजीके व्यक्तित्वका सम्पूर्ण अस्तित्व भक्तिरसमें सर्वथा निमग्न है और इसीके फलस्वरूप उनके द्वारा धर्म-संस्थापन एवं समाजोन्नयनका अद्भुत महान् कार्य हो पा रहा है। ऐसा व्यक्तित्व भला कहाँ देखने-सुननेको मिलता है ? गोस्वामीजीकी परम सुदृढ़ आस्था थी कि बाबूजी इस युगकी महान् विभूति हैं। भारतीय संत-परम्परामें

उनका स्थान बहुत ऊँचा है। वे 'ज्ञानोत्तर' भाव-राज्यमें नित्य प्रतिष्ठित हैं। जिस 'पराभक्ति' की प्राप्ति श्रीगीताजीमें ब्रह्मभूत होनेके बाद बतलायी गयी है और जिस भक्तिके द्वारा मनुष्य भगवान्‌को जानकर उसमें प्रविष्ट हो जाता है, उनके साथ घुल-मिलकर उनकी लीलाका एक अंग हो जाता है, उनका प्रतिरूप बन जाता है, वह तथ्य बाबूजीके व्यक्तित्वके अन्दर अक्षरशः मूर्त है। यही नहीं, श्रीकृष्ण-प्रेमकी उच्चतम भूमिकामें वे स्थित हैं। उनकी मन-बुद्धि-वाणी सब कुछ श्रीकृष्णमय हो गये हैं। विशुद्ध प्रेमाभक्तिका आदर्श एवं भगवन्नामकी महिमाको प्रतिष्ठित करनेके लिये ही जगत्‌में बाबूजीका आविर्भाव हुआ है। 'महिमा जासु जाइ नहिं बरनी' — ऐसे बाबूजीके आन्तरिक और वास्तविक रूपको मनकी आँखोंसे देख-देख करके गोस्वामीजीके हृदयमें 'नित नव चरन उपज अनुरागा'। बाबूजीद्वारा जो महान कार्य हो रहा है तथा बाबूजीका जैसा अनुपम व्यक्तित्व है, उसके सम्बन्धमें गोस्वामीजीको कोई भ्रान्ति नहीं थी। बाबूजीके प्रति इस प्रकारकी निर्भ्रान्त आस्था इतनी अधिक सुदृढ़ थी और बाबूजीके पास रहनेकी भावना इतनी अधिक प्रबल थी कि शंकराचार्य-पदका सामाजिक सम्मान एवं आध्यात्मिक गौरव गोस्वामीजीको अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सका। बाबूजीकी सन्निधिसे दूर जाना उनको अभीष्ट था ही नहीं। गोस्वामीजी नित्य बाबूजीके सान्निध्यमें रहे और जीवनके अन्तिम क्षण तक गीतावाटिकामें उनका निवास रहा। गोस्वामीजीकी निष्ठा सदा ही बाबाकी वाणी द्वारा चर्चा एवं सराहनाका विषय बनी रही।

बाबा गोस्वामीजीकी आस्थाओंकी बड़ी सराहना किया करते थे, इस सम्बन्धमें एक बड़ा सरस प्रसंग षोडशगीतको लेकर है। षोडशगीतके दसवें पदकी छठवीं पंक्तिमें नित्य-निकुञ्जेश्वरी श्रीराधाकी उक्ति है —

आठों पहर बसे रहते तुम मम मन-मन्दिरमें भगवान।

बाबाके मनमें ऐसा भाव स्फुरित हुआ कि इस पंक्तिमें 'भगवान' शब्दके स्थानपर कोई अन्य शब्द अर्थात् ऐश्वर्य-भावसे रहित प्रेमिल शब्द होता तो पदकी भावमयता और भी सरसीली हो जाती। बाबाकी तथा बाबूजी, दोनोंकी ही स्पष्ट मान्यता है कि नित्य-निकुञ्जेश्वरी श्रीराधा एवं नित्य-निकुञ्जेश्वर श्रीकृष्ण साक्षात् भगवती-भगवान हैं, परंतु परम प्रेमके मधुर राज्यमें उनकी यह भगवत्ता प्रसुप्त रहती है। इन परस्पर नित्य परम प्रेमी-प्रेमास्पद युगलका जो परम मधुर प्रेम-सिन्धु है, उस सिन्धुके अतल-तलमें उनकी भगवत्ता छिपी रहती है। उस भगवत्ताकी अभिव्यक्ति क्वचित् ही होती है और होती है तभी, जब कभी किसी लीलाको सम्पन्न करा देनेमें उस भगवत्ताकी आवश्यकता हो। कभी-कभी लीलाको सम्पन्न करा देनेके लिये ही उस ऐश्वर्य-शक्ति भगवत्ताको किंचित् सेवा करनेका अवसर मिल जाता है, अन्यथा वह भगवत्ता सर्वथा-सर्वथा प्रसुप्त-प्रच्छन्न रहती है। षोडशगीत सच्चिन्मय प्रेम-राज्यकी परम सरस वस्तु है, अतः बाबाने अपनी भावनाको समझाते हुए बाबूजीसे कहा — इस पंक्तिमें 'भगवान' शब्दके स्थानपर यदि कोई अन्य सरस शब्द प्रयुक्त हो तो इस पदकी सरसता और भी अधिक समृद्ध हो जायेगी।

बाबूजीने कहा — आप जैसा कहें, जो भी कहें, मैं वैसा ही कर दूँगा। बाबाके मनमें उस समय जो पंक्ति स्फुरित हुई, वही पंक्ति बाबाने बाबूजीको बता दी — **'आठों पहर सरसते रहते तुम मन सरवरमें रसवान'**।

बाबूजीने बाबाके सुझावकी बड़ी सराहना की और यह पंक्ति ज्यों-की-त्यों स्वीकार कर ली। पदमें पुरानी पंक्तिके स्थानपर इस नवीन पंक्तिको रख दिया। बाबूजी इस परिवर्तनसे प्रसन्न थे।

फिर यह बात बाबाने गोस्वामीजीको बतलायी। गोस्वामीजीने विनम्र शब्दोंमें कहा — बाबा! क्या यह परिवर्तन आवश्यक है?

बाबाने गोस्वामीजीको अपनी भावना बतलायी, जिस प्रकार उन्होंने बाबूजीको बतलायी था। यह बात नहीं कि गोस्वामीजी इस भाव–गरिमाको समझ नहीं रहे हों। ऐसी समझ होनेके बाद भी अत्यधिक दैन्यके साथ गोस्वामीजी अपने मनकी बात कहने लगे — बाबा ! मैं आपकी मान्यताको सर्वांशमें स्वीकार करता हूँ, पर मेरे मनमें भी एक छोटी–सी बात है। अपनी आस्थाके अनुसार मैं षोडशगीतको और उसकी शब्दावलीको साधारण स्तरकी वस्तु नहीं समझता। ये पद मात्र काव्य–रचना नहीं है। श्रीभाईजीको भाव–समाधिकी स्थितिमें जैसी लीला और जैसे उद्गार उनके दृष्टि–पथपर एवं श्रुति–पथपर आविर्भूत हुए, वे ही किसी अचिन्त्य कृपासे इन पदोंकी शब्दावलीकी सीमामें सिमट आये हैं। षोडशगीतका सम्बन्ध उस भाव–समाधिकी स्थितिसे होनेके कारण इनमें किसी प्रकारका संशोधन–परिवर्तन मुझे जँच नहीं रहा है। मेरे विचारसे मूल पंक्तिको ज्यों–का–त्यों रहने देना चाहिये।

बाबाको गोस्वामीजीके विचार बड़े प्रिय लगे और इन विचारोंको बाबाने हृदयसे सम्मान दिया। तदुपरान्त उस दसवें पदमें किसी भी प्रकारके परिवर्तनकी बात समाप्त हो गयी। हाँ, बाबूजीने इतना अवश्य कर दिया कि बाबाद्वारा बतलायी गयी पंक्तिको 'एक दूसरा पाठ' के रूपमें स्वीकार कर लिया। यह दूसरा पाठ भी षोडशगीतके दसवें पदके अन्तमें छपा रहता है।

जिस तरह वृषभानुनन्दिनी श्रीराधा और नन्दनन्दन श्रीकृष्ण दिखलायी देने में दो हैं, इसके बाद भी दोनों वस्तुतः एक ही हैं, ठीक उसी स्तरकी मान्यता थी गोस्वामीजीकी बाबा और बाबूजीकी प्रति। 'एक तत्त्व दो तनु धरें' — बाबा और बाबूजीमें उन्होंने कभी भेद माना ही नहीं। इसका प्रमाण है गोस्वामीजीका पादुका–पूजन।

प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्हीं। सादर भरत सीस धरि लीन्हीं॥

बाबाकी कुटियाका अति एकान्त स्थल, उस स्थलके किन्हीं परम पुण्यमय पावन क्षणोंमें बाबासे उनकी चरण–पादुका गोस्वामीजीको प्राप्त हुई और गोस्वामीजीने उनको अपने मस्तकपर धारण कर लिया। बाबाकी उस चरण–पादुकाकी अर्चना गोस्वामीजी आजीवन करते रहे और अब उन्हीं चरण–पादुकाकी अर्चना किसी अचिन्त्य सौभाग्यसे बहिन विमलाको प्राप्त है। बाबाकी यह चरण–पादुका आज भी बहिन विमलाके पूजाघरमें विराज रही है, जहाँ उनकी नित्य अर्चना होती है।

अपने जीवनकी अन्तिम अवधिमें गोस्वामीजी सात–आठ मास बहुत अधिक अस्वस्थ रहे। गीतावाटिकाके अति समीप एक मकानमें गोस्वामीजी रहा करते थे। उनकी व्याधि और पीड़ाको देखकर बाबा उन्हें गीतावाटिका ले आये। गीतावाटिकाके जिस भवनमें बाबूजी रहा करते थे, उसी भवनके एक कमरेमें गोस्वामीजीको रखा गया। गोस्वामीजीकी चिकित्सा एवं सँभाल पूर्ण तत्परताके साथ होने लग गयी। रोग–शय्यापर पड़े हुए गोस्वामीजीका शरीर अत्यधिक कष्टसे पीडित था। रुग्ण गोस्वामीजीकी चिकित्सा और परिचर्यामें जितना समय और जैसा ध्यान बाबाने दिया, उसको देखकर विस्मय होता है। इस कष्टकी स्थितिमें भी गोस्वामीजीके अधरोंपर एक ही वाक्य था — नाथ ! तुम्हारी ही इच्छा पूर्ण हो।

गोस्वामीजीकी भीषण रुग्णताको देखकर बाबाने कहना आरम्भ कर दिया था कि अब चलाचलीका मेला है और गोस्वामीजी अधिक नहीं रह पायेंगे। एक बार परिचर्या–रत व्यक्तियोंको ऐसा लगा कि गोस्वामीजी सम्भवतः करवट बदलना चाहते हैं अथवा बोलकर कुछ कहना चाहते हैं। उन व्यक्तियोंने पूछा — आप क्या चाहते हैं ?

उनसे गोस्वामीजीने कहा — 'मैं कुछ नहीं चाहूँ', बस, यही चाहता हूँ। असह्य वेदनाके होते हुए भी गोस्वामीजीने यह नहीं कहा कि उन्हें औषधि अथवा उपचारकी

आवश्यकता है। कष्टकी अधिकताको देखकर यदि कोई सहानुभूति दिखलाता तो गोस्वामीजी यही कहा करते थे — प्रभुका प्रत्येक विधान मंगलमय है। इस रुग्णतामें भी प्रभुका मंगल स्पर्श क्रियाशील है और उसीका अनुभव होता रहता है।

इस कष्टकी स्थितिमें भी गोरखपुर विश्वविद्यालयके संस्कृत विभागके प्राध्यापक आदरणीय श्रीहेमचन्द्रजी जोशी जब गोस्वामीजीको भावपूर्ण पद सुनाया करते थे अथवा जब कभी गीतावाटिकाकी श्रद्धाभिभूत बहिनें लीला–पद सुनाया करती थीं तो गोस्वामीजीके कपोल अश्रु–सिक्त हो उठते थे। शरीर भोग रहा था कष्ट, पर मन डूब रहा था भाव–सिन्धुमें।

'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्' सूत्रके द्वारा देवर्षि नारदने यह प्रतिपादित किया है कि भगवान् और भक्तमें भेदका अभाव है। पूज्य श्रीसेठजी (पूज्य श्रीजयदयालजी गोयन्दका)–ने लिखा है कि 'भगवान्‌के भक्त भगवत्स्वरूप होते हैं। भगवान्‌की तरह महापुरुषोंके ध्यानसे भी कल्याण हो सकता है।' बाबूजीने लिखा है कि 'जो भक्तोंका सेवन करते हैं, वे भगवान्‌का ही सेवन करते हैं।' ये सब सिद्धान्त–वाक्य हैं, जो किसी व्यक्ति–विशेषको लक्ष्य करके नहीं लिखे गये। सिद्धान्तका विवेचन और निरूपण करते–करते इन महाभागवतोंके द्वारा यह सनातन सत्य स्वतः अभिव्यक्त हो उठा और इस महान सत्यके साकार स्वरूप थे गोस्वामीजी। ऐसा लगता है कि श्रीरामचरितमानसकी अर्धाली **'राम ते अधिक राम कर दासा'** को ही गोस्वामीजीने अपने जीवनका आधार बना लिया हो। जीवनका अवसान समीप देखकर एक स्वजनने बाबूजीका चित्र गोस्वामीजीके सामने दीवालपर लगा दिया, जिसे वे देखते रह सकें। इसके कुछ दिन बाद एक अन्य स्वजनने गोस्वामीजीसे पूछा — यदि आप आज्ञा दें तो आपके सामने दीवालपर श्रीराधाकृष्णका चित्र लगा दूँ?

गोस्वामीजीने प्यारभरे स्वरमें कहा — "मेरे लिये श्रीभाईजीमें और श्रीराधाकृष्णमें कोई अन्तर नहीं है।"

फिर बाबूजीका चित्र ही सदा गोस्वामीजीके समक्ष विराजित रहा।

गोस्वामीजीने एक स्थानपर स्वयं लिखा है — "मेरा श्रीभाईजीके साथ चालीस वर्षसे ऊपरका सम्पर्क मेरे जीवनकी एक अमूल्य निधि है, जो मुझे अपने जन्मार्जित सुकृतोंके फलस्वरूप उन्हींकी अहैतुकी कृपासे अनायास प्राप्त हुई थी। इस अवधिमें उन्होंने जैसा अद्भुत स्नेह दिया और जिस प्रकार मेरा लाड़ रखा, उसे शब्दोंद्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। उनके इस ऋणसे मैं जन्म-जन्मान्तरमें भी उऋण नहीं हो सकता और न होना ही चाहता हूँ। भव-सरिताकी प्रबल धारामें बहते हुए मुझ पामरको उन्होंने अपनी सहज कृपासे उबार लिया और भगवत्कृपाका अधिकारी बना दिया। मेरी त्रुटियोंकी ओर उन्होंने कभी ध्यान नहीं दिया और मेरे द्वारा उन्हींकी प्रेरणासे हुए तनिक-से भी अनुकूल आचरणकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। वे मेरे बड़े भाई, सखा एवं स्वामी ही नहीं, मेरे पथ-प्रदर्शक, जीवन-सर्वस्व थे और हैं। उनकी स्मृति मात्रसे हृदय भर आता है। बस, शेष जीवन श्रीभाईजी और उनके अपने श्रीराधामाधवकी स्मृतिमें बीत जाय, यही अभिलाषा है।"

गोस्वामीजी रुग्ण शय्यापर पड़े-पड़े ही कमरेकी खिड़कीसे जब-तब बाबूजीकी पावन समाधिका दर्शन कर लिया करते थे। यह समाधि इत्रमिश्रित-पीत-मिट्टीसे पुती रहती है। महाप्रस्थान करनेके कुछ दिनों पूर्व गोस्वामीजीने समीपस्थ स्वजनोंके समक्ष अपनी अन्तिम अभिलाषा व्यक्ति करते हुए कहा — मेरे जीवनधन श्रीभाईजीकी पावन समाधिपर जो पीली मिट्टी पुती हुई है, वह मेरे प्रियतम श्रीकृष्णके पीत दुकूलका प्रतीक है तथा मेरे प्राणवल्लभकी पावन स्मृतिको सतत सजीव बनाये रहती है। मेरे

शवका अन्तिम स्नान उस पवित्र मिट्टीको धोकर एकत्रित किये गये जलसे ही करवाया जाये।

परम्परा ऐसी है कि शवका अन्तिम स्नान गंगा-जलसे करवाया जाना चाहिये, परतु इन अनोखे समर्पितात्माकी अभिलाषा थी कि गंगा-जलसे स्नान कराये जानेके उपरान्त भी एक और स्नान अपने जीवनधनकी पावन समाधिके प्रसादी जलसे करवाया जाये। गोस्वामीजीने सारे जीवन वैष्णव सदाचार, धर्म-मर्यादा, साम्प्रदायिक नैष्ठिकता, कुल-परम्पराको महत्त्व प्रदान किया था, परंतु आज वे सब एक किनारे हो गये और सर्वोपरि स्थान मिला प्रीतिकी निराली रीतिको।

विदाईको समीप देखकर गोस्वामीजीने जाने-अनजाने हुई भूलोंके लिये और इच्छा-अनिच्छापूर्वक किये गये कटु व्यवहारोंके लिये सभीसे क्षमा याचना की। जिन स्वजनोंने अन्तिम रुग्णावस्थाके समय परिचर्या की थी, उनकी सेवा-भावनाको देखकर गोस्वामीजीका हृदय भर-भर आ रहा था। उन्होंने सजल नेत्रोंसे और उन्मुक्त हृदयसे सभीको आशीर्वाद दिया तथा कहा — मैं तो सर्वथा अकिञ्चन हूँ। मेरे पास इस सेवाके बदलेमें दे सकने योग्य कुछ भी नहीं है, परंतु मेरे आराध्य इस एक-एक सेवाका अनन्त गुणा पुरस्कार तुम सबको अवश्य देंगे, यह मेरे अन्तरकी अन्तिम आशीष है।

बाबा और बाबूजीमें सर्वथा अभेद माननेके कारण गोस्वामीजीने बाबाके समक्ष एक बार अपनी एक अन्तरंग अभिलाषा व्यक्त की — जीवनके अन्तिम श्वासके समय यह शरीर आपसे संपृक्त रहे।

इस अभिलाषाको सुनकर बाबाने एक मधुर मुस्कान बिखेर दी। बाबाने कुछ भी उत्तर नहीं दिया, परंतु गोस्वामीजीके इस मनोरथको अपने हृदयके कोनेमें छिपाकर रख लिया। हृदयकी गुहामें छिपाकर रखे गये इस तथ्यकी जानकारी भला किसी अन्यको कैसे हो सकती थी? अत्यधिक रुग्ण गोस्वामीजीकी स्थिति ज्यों ही गम्भीर होने लगी

और ऐसा लगने लगा कि गोस्वामीजी अब जानेवाले हैं, त्यों ही दौड़कर बाबाको सूचना दी गयी। बाबा तुरंत आये। गोस्वामीजीको भूमिपर नीचे उतार लिया गया। अब कुछ ही श्वास शेष थे।

बाबाने अपने दाहिने चरणके अंगुष्ठको गोस्वामीजीके पैरोंके तलवेके निम्न भागमें एडीके पास भली प्रकार सटा दिया और बाबासे संपृक्तावस्थामें ही गोस्वामीजीने अन्तिम श्वास ली। भावातिरेककी गम्भीर दशामें बाबाके नयन भी अपने आप मुँद गये।

सं. २०३१ वि. वैशाख मासके शुक्ल पक्षकी नृसिंह चतुर्दशी तिथि (५ मई १९७४) के दिन गोस्वामीजीके जीवनका पटाक्षेप हो गया। गोस्वामीजी इस भूतलपर लगभग ७४ वर्ष रहे। गोस्वामीजीने जो अपनी अन्तिम अभिलाषा व्यक्त की थी, उसको पूर्ण करनेके लिये बाबूजीकी पावन समाधिको प्रक्षालित करके प्रसादी जलसे उनके शवको स्नान कराकर वह स्मरणीय-वन्दनीय पाञ्चभौतिक कलेवर चिताकी पावन अग्निको अर्पित कर दिया गया।

महाप्रस्थानके कुछ समय बाद गोस्वामीजी अपने दिव्य स्वरूपसे बाबाको दिखलायी दिये थे। बाबा बतला रहे थे कि उनके उस दिव्य देहकी कान्ति अनुपम थी और उनके नेत्रोंमें अतीव प्रसन्नता नृत्य कर रही थी। गोस्वामीजीके दिव्य स्वरूपको देखकर बाबाको बड़ा आह्लाद हुआ। बाबाने एक और अन्तरंग बात बतलायी। निकुञ्जलीलामें नित्य निकुञ्जेश्वरी श्रीप्रियाजीकी रसमयी सेवामें श्यामला मञ्जरी सतत संलग्न रहती हैं और गोस्वामीजीकी अन्तिम परिणति उन श्यामला मञ्जरीके रूपमें ही हुई है। इस रहस्योद्घाटनने सभी स्वजनोंको परम मोद प्रदान किया। श्रीप्रिया-प्रियतमकी निकुञ्ज-लीलामें लीन पूज्य श्रीगोस्वामीजीकी जय, बार-बार जय।

पंडित श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी : एक विलक्षण विभूति

(डॉ० श्रीमती उषा गोस्वामीजी)

प्रतिभाके प्रदीप्त प्रभाकर, पांडित्यके अपार पारावार, साहित्य–मर्मज्ञ, बहुभाषाविद्, मनीषी, विचारद्योतनकी पूर्ण योग्यतासे युक्त, तत्वज्ञाता ही नहीं अपितु पुराणों एवं महाकाव्योंके निष्णात पंडित, निरभिमान, परोपकार एवं विनम्रता आदि उदात्त गुणोंसे युक्त महापुरुष पंडित श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीका अनुपम व्यक्तित्व भावी पीढ़ियोंके लिए एक अमूल्य धरोहर है।

सरस्वतीके वरदपुत्रोंमें परिगणित पूज्य श्रीगोस्वामीजीका प्रादुर्भाव राजस्थानके बीकानेर नगरके सुप्रसिद्ध गोस्वामी चौकमें २१ जून सन् १९०० ई. को पंडित श्रीबृजलालजी गोस्वामी एवं श्रीमती चंद्रकलादेवीजीकी प्रथम संतानके रूपमें हुआ। इनकी चार छोटी बहनें थीं — सुलोचना, मंगला, तारा और विमला।

श्रीगोस्वामीजीके व्यक्तित्व–निर्माणमें पारिवारिक संस्कारोंकी महत्वपूर्ण भूमिका रही ।इनके माता–पिता वैष्णव धर्मानुयायी, आचार–विचार आदि नियमोंके पालक और साधुस्वभाव–युक्त थे। पिता श्रीबृजलालजी सादुल स्कूलमें अध्यापक पदपर कार्यरत थे। वे एक अच्छे संगीतज्ञ थे और स्थानीय लक्ष्मीनाथजीके मंदिरमें आरती कीर्तन हेतु जाया करते थे। फलस्वरूप श्रीगोस्वामीजीकी बाल्यावस्थासे ही धर्म, अध्ययन और संगीतके प्रति सहज रुचि थी।

विद्यालय–प्रवेशके पश्चात् इनकी कुशाग्र बुद्धिका प्रमाण प्रत्येक कक्षामें सभी विषयोंमें सर्वप्रथम–स्थान–प्राप्तिसे मिला। इन्हें आठवीं कक्षा प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण करनेपर राज्यकी ओरसे नौकरीका प्रस्ताव प्राप्त हुआ। इनके पिताजीकी भी यही अभिलाषा थी कि वे इस प्रस्तावको स्वीकार करके परिवार में आर्थिक सहयोग प्रदान करें। उच्च शिक्षाके आकांक्षी होनेपर भी इनके लिए पिताकी आज्ञा ही सर्वोपरि थी। किंतु जब यह प्रसंग दरबार हाई स्कूलके प्रधानाचार्य श्रीमान के. एस. तिवारीको ज्ञात

हुआ, तो वे स्वयं इनके पिताजीके पास आये और उन्हें इनको आगे पढ़ानेके लिए बारंबार आग्रह करके सहमत किया। श्रीतिवारीजी गोस्वामीजीकी प्रतिभाके पारखी थे और इनके प्रति विशेष प्रेम रखते थे।श्रीतिवारीजीके प्रयाससे इन्होंने दसवीं परीक्षा प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्णकी और उच्च अध्ययन हेतु वाराणसी गये।

बीकानेरसे राजकीय छात्रवृत्ति प्राप्त करके इन्होंने वाराणसीके क्वींस कॉलेजमें हिंदी,अंग्रेजी, संस्कृत और दर्शनशास्त्र आदि विषयोंका गहन अध्ययन किया। तत्पश्चात इन्होंने काशी हिंदू विश्वविद्यालयसे सन् १९२२ ई० में संस्कृत विषयमें दर्शन–ग्रुपसे मास्टर ऑफ आर्ट्स (Master of Arts) की उपाधि प्रथम श्रेणीमें प्राप्त की। ये अपनी प्रखर प्रतिभा और शालीन आचरणके कारण पंडित श्रीमदनमोहनजी मालवीय सहित समस्त गुरुजनोंके अत्यंत प्रिय शिष्य थे। पंडित श्रीगोपीनाथजी कविराज, प्रोफेसर श्रीजीवनशंकरजी याज्ञिक प्रभृत्ति विद्वान इनसे अत्यंत प्रभावित थे और उनका आजीवन इनसे संपर्क रहा। वे कई बार इनसे मिलने गोरखपुर भी पधारे। गोस्वामीजीकी अनुपस्थितिमें एक बार प्रोफेसर श्रीजीवनशंकरजी याज्ञिक बीकानेर आये और गोस्वामी चौकमें इनका जन्मस्थान देखने गये। उस समय गोस्वामीजी 'कल्याण–कल्पतरु' के संपादक थे। उन्होंने (श्रीयाज्ञिकजीने) गोस्वामीजीके जन्मस्थानको प्रणाम किया और मुक्त–कण्ठसे अपने शिष्यकी चर्चा करते रहे। किसी गुरुकी अपने शिष्यके प्रति ऐसी श्रद्धाका उदाहरण बिरला ही प्राप्त होता है। पंडित श्रीमदनमोहनजी मालवीय भी अपने कार्योंमें इनका सहयोग लेते थे और इनकी योग्यताके कारण उन्होंने इन्हें अपना निजी सचिव नियुक्त किया था। ये कुछ काल इस पदपर कार्यरत रहनेके पश्चात् फिरोजाबादमें अल्पावधिके लिए एक हाईस्कूलमें हेडमास्टर रहे और तत्पश्चात बीकानेर लौट आये।

श्रुति परंपरासे यह विदित होता है कि इनके काशीसे M.A. प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण करके बीकानेर प्रत्यागमनपर बीकानेर–नरेश महाराजा श्रीगंगासिंहजीके द्वारा उनके सम्मानमें अलंकृत हाथी स्टेशन भेजा गया। संभवतः ये बीकानेरके सर्वप्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने एम .ए. प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण किया था। यहाँ ये राजनैतिक विभागमें नियुक्त हुए और अपनी कार्य दक्षताका परिचय देते रहे। ये बीकानेर राज्यके प्रधानमंत्री और चीफ काउंसलर सर मनुभाई मेहताके निजी सचिव भी रहे। इसके अतिरिक्त इन्होंने जैन पाठशाला और वाल्टर नोबल स्कूलके प्रिंसिपल पदपर भी कार्य किया।

'स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते' — यह उक्ति इनके जीवनमें पूर्णतया चरितार्थ हुई। ये जिस पदपर भी रहे, अपनी विद्वताके कारण सभीकी दृष्टिमें सम्माननीय रहे।बीकानेर–नरेश महाराजा श्रीगंगासिंहजी भी इन्हें अत्यंत आदर देते थे। वे इन्हें महाराज संबोधित करते और अपने समक्ष कुर्सी पर बैठाते थे। सर मन्नूभाई मेहताके मनमें भी इनके प्रति आदर भाव रहा। इनका हिंदी, संस्कृत और अंग्रेजी तीनों भाषाओंपर पूर्ण अधिकार था। साथ ही इनकी भाषा शैली अत्यंत उच्च कोटि की थी। ये सर्वथा उपयुक्त शब्दका प्रयोग करते थे। एक बार महाराजा श्रीगंगासिंहजी और सर मन्नूभाई मेहताका एक शब्दके प्रयोगके विषयमें मतभेद हुआ। महाराजा श्रीगंगासिंहजीकी सम्मति सर मेहताद्वारा प्रयुक्त शब्दके स्थानपर किसी अन्य शब्दके प्रति थी, किंतु उस प्रयोगसे सर मेहता संतुष्ट नहीं थे। अतः इस विषयमें श्रीगोस्वामीजीकी सलाह ली गई और उन्होंने दोनों ही शब्दके स्थानपर एक अन्य शब्दका प्रयोग किया। इस शब्दके प्रयोगसे दोनों ही पक्ष सहमत थे।

संयोगवश पूज्य भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारका सन् १९२८ ईस्वीमें बीकानेर आगमन हुआ। उनके स्वागतमें नगरमें संकीर्तनका आयोजन हुआ। तत्पश्चात् श्रीपोद्दारजीका प्रवचन भी हुआ। गोस्वामीजी उनके प्रवचनसे अत्यंत प्रभावित हुए

और उनके दो दिनके प्रवास-कालमें अधिकांश समय उनके साथ विभिन्न आध्यात्मिक विषयोंपर चर्चा करते रहे । वस्तुतः गोस्वामीजीका किसी व्यक्तिसे प्रभावित होना निस्संदेह आश्चर्यजनक तथ्य था, क्योंकि उनका ज्ञान और अध्ययन अत्यंत विशाल था । वे विभिन्न पदोंपर कार्यरत रहते हुए नियमित स्वाध्याय करते थे । वेद, पुराण, रामायण, गीता एवं उपनिषद् आदि विभिन्न ग्रंथोंके अध्ययनमें उनकी सहज रुचि थी । श्रीपोद्दारजीसे वार्तालापमें उनको यह दृढ़ विश्वास हो गया कि उनका व्यक्तित्व असाधारण है और उनके कार्य समाजमें भगवद्भक्तिके प्रचार, जनजीवनमें आध्यात्मिकता एवं नैतिकताकी प्रतिष्ठामें हेतु हैं । वे अपने इसी आकर्ष के कारण सन् १९२९ ई. के ग्रीष्मकालमें सत्संगकी दृष्टिसे श्रीपोद्दारजीके पास गोरखपुर गये और डेढ़ माह तक रहे । उन्होंने उस प्रवासकालमें वहीं स्थाई रूपसे रहकर कार्य करनेका मनमें निश्चय तो किया ही, गीताप्रेसके धर्मप्रचार-कार्यको ही अपने जीवनका व्रत अंगीकार भी किया । वे अपने इस व्रतके प्रति आजीवन समर्पित रहे ।

श्रीगोस्वामीजीका गोरखपुरमें स्थायीरूपसे निवास करनेका संकल्प सन् १९३३ ईस्वीमें पूर्ण हुआ । ये माता-पिताके एकमात्र पुत्र थे । इनका विवाह भी बीकानेरमें ही श्रीमती सरयूदेवीसे हुआ था । इनकी नौकरी भी अच्छी थी तथा बीकानेर-नरेश सहित गणमान्य व्यक्तियोंसे समादर भी प्राप्त था । बीकानेर-नरेशने इनके पिताजीको सिरोपा प्रदान किया था । इस प्रकार इनकी बीकानेरमें सुख-सुविधापूर्ण स्थिति थी और बन्धु-बान्धवोंका सामिप्य भी था । इसके अतिरिक्त उत्तर भारतमें गोरखपुरको कालापानी अभिधान दिया जाता था । वहाँ घोंघा, हाथीपाँव और मस्तिष्क ज्वर नामक तीन भयंकर बीमारियोंका अत्यधिक प्रकोप था ।उस नगरका विकास भी समुचित रूपसे नहीं हुआ था । यहाँतक कि विद्युतकी सुविधा भी आवास अथवा कार्यालयको प्राप्त नहीं थी । अतः गोस्वामीजीके निर्णयमें व्यवधान होना स्वाभाविक था । किंतु इनकी दृढ़ इच्छाशक्तिके कारण सफलता प्राप्त हुई । ये पिताजीकी अनुमति प्राप्त कर अपनी

पत्नी सहित सन् १९३३ ई. में गोरखपुरमें स्थायीरूपसे निवास हेतु आ गये । गोस्वामीजीके शुभ–आगमनसे पोद्दारजीको प्रसन्नता हुआ । वस्तुतः पोद्दारजीकी अभिलाषा कल्याण पत्रिकाको विश्वव्यापी बनानेकी थी । उन्हें गोस्वामीजीके रूपमें एक सरल संत और विद्वान् व्यक्तिका सहयोग मिला, जिसके माध्यमसे वे कल्याणके समकक्ष एक पत्रिका अंग्रेजी भाषामें प्रकाशित कर अपनी योजनाको क्रियान्वित कर सके। कल्याण–कल्पतरु नामक अंग्रेजी पत्रिकाका प्रकाशन गीताप्रेसद्वारा सन् १९३४ से प्रारंभ हुआ । श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी इस पत्रिकाके संपादक थे । इनके संपादकत्वमें कल्याण–कल्पतरुकी विषय सामग्री, स्तर और सज्जा कल्याणके ही समकक्ष थी। वे हिंदी पत्रिका कल्याणके संपादनमें भी सहयोग प्रदान करते थे। अतः उनका नाम पूज्य श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके साथ संपादकके रूपमें सन् १९३९ ई. से कल्याणमें भी प्रकाशित होने लगा । इनकी विद्वताका निखरा रूप गीताप्रेससे संबंधित होनेपर ही प्रस्तुत हुआ। यहाँ इनकी लेखनीसे ऐसे वैदुष्यपूर्ण एवं सारगर्भित साहित्यकी रचना हुई कि समस्त विद्वत समाज नतमस्तक हो गया।

इनके संपादकत्वमें कल्याण–कल्पतरुके निम्नलिखित विशेषांक प्रकाशित हुए — ईश्वर–अंक, गीतांक, वेदांत–अंक, श्रीकृष्ण–अंक, भगवन्नामांक, धर्मतत्व–अंक, योगांक, भक्तांक, श्रीकृष्णलीला–अंक और गो–अंक। इसके अतिरिक्त इनके श्रीमद्भगवद्गीताकी तत्वविवेचनी टीका, श्रीरामचरितमानस, श्रीमद्भागवत महापुराण तथा वाल्मीकि रामायणके अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुए । श्रीपोद्दारजीके नित्यलीलालीन होनेके पश्चात् तो इन्होंने ही कल्याणका संपूर्ण उत्तरदायित्व वहन किया । इनके संपादनकालमें तीन विशेषांक — श्रीराम–अंक, श्रीविष्णु–अंक, श्रीगणेश–अंक प्रकाशित हुए, जिनका स्तर पूर्वके विशेषांकोके समकक्ष ही था । इन्होंने सूरदासजीके भ्रमरगीतके कई सौ पदोंका हिंदी अनुवाद, राधा–सुधा–निधिके 270 श्लोकोंका पदच्छेद, अन्वय और अर्थ सहित टीकाके संपादनका कार्य किया। इसके

अतिरिक्त इनके जीवनकालमें गीताप्रेसके माध्यमसे जितना भी साहित्य पत्रिका या पुस्तकके रूपमें प्रकाशित हुआ, उसकी शुद्धि एवं प्रमाणिकताका अधिकांश श्रेय श्रीगोस्वामीजीको ही है। इस संपूर्ण साहित्य–सर्जनके मूलमें इनका गहन अध्ययन, नियमित स्वाध्यायमें रुचि, गाम्भीर्यपूर्ण मनन एवं व्याकरणकी गूढ़तम जानकारी थी। इसलिए इनके द्वारा कल्याणमें आर्ष–ग्रंथों, और पुराणोंका जो अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ, वह मूलग्रन्थके सूक्ष्मतम भावार्थ और व्यंजनार्थको दर्शाने वाला था। इनके द्वारा प्रस्तुत आर्ष–ग्रन्थोंका अनुवाद इतना प्रामाणिक और आधिकारिक है कि यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि मैक्समूलर, गेल्डनर, मारिस ब्लूमफील्ड प्रभृति इस क्षेत्रके विद्वान् इनके द्वारा किये अनुवादकी गरिमाका स्पर्श तक नहीं कर पाये हैं।

श्रीगोस्वामीजीने आर्ष–वाङ्मयके अंग्रेजी अनुवादकी पद्धतिपर गम्भीरतापूर्वक मनन किया। तत्पश्चात् उसको कार्य रूपमें प्रतिफलित कर दिखाया। इनकी अपनी मान्यता थी कि साहित्य–क्षेत्रके काव्य और धर्मशास्त्रके काव्योंकी अनुवाद शैली भिन्न है। इनके अनुसार धर्मक्षेत्र के काव्योंमें प्रत्येक शब्दके प्रयोगमें अथवा वाक्यकी रचना शैलीमें एक विशेष अर्थ निहित है। इसलिए श्लोकके मध्य या अंतमें प्रयुक्त तत्, च, इति, अथ, ह, एव आदि शब्द मात्र पाद पूर्णार्थ न होकर विशेष अर्थके अभिव्यंजक हैं। यदि कोई विद्वान् इन्हें मात्र पादपूरक समझकर अनुवाद करता है, तो यह उसकी अल्पज्ञताका परिचायक है। वस्तुतः गोस्वामीजीकी प्रत्येक शब्दके अर्थमें गहराईतक पहुँच होनेके कारण ही इनके आर्ष–ग्रंथोंके अंग्रेजी अनुवादसे महान् आदर्शकी प्रतिष्ठा हुई है।

ये एक विशुद्ध संत थे। अद्भुत प्रतिभाके धनी होनेपर भी ये अत्यंत विनम्र, संकोची, दंभ–रहित, सरल एवं निष्कपट व्यक्ति थे। मितभाषी तथा गम्भीर होते हुए

भी मृदुता एवं प्रेम पूर्ण व्यवहार इनके स्वभावका अंग था। इनके व्यक्तित्वका स्पर्श महत्वाकांक्षा या आत्मप्रशंसा जैसी मानवीय कमजोरियाँ नहीं कर पायी थीं। ये अपने द्वारा सम्पन्न प्रत्येक कार्यका श्रेय ईश्वरको ही देते थे। स्वयंको तो सर्वथा अयोग्य और अल्पज्ञ ही कहते थे । पोद्दारजीके दिवंगत हो जानेपर कल्याणका उत्तर दायित्व संभालनेपर उनका लिखा निवेदन इसका प्रमाण प्रस्तुत करता है । वस्तुतः पूज्य श्रीपोद्दारजी और उनके अभिन्न-स्वरूप पूज्य श्रीराधाबाबाकी इच्छाको आज्ञा रूपमें मानना और निरभिमानी होकर कार्यके प्रति पूर्ण निष्ठा ही इनके जीवनका लक्ष्य था। इन्हें कार्यके प्रति निष्ठाके कारण कभी भी कार्यकी अधिकता या कार्यभार जैसी कठिनाइयोंका अनुभव नहीं हुआ। इन्होंने कार्यके प्रति समर्पणका अनुपम आदर्श प्रस्तुत किया। इसके परिणाम-स्वरूप कल्याण पत्र जिसका प्रवर्तन विशुद्ध रूपसे लोकहित-साधनके उद्देश्यसे हुआ था और जिसका लक्ष्य समाजके नैतिक स्तरको उन्नत करना था, इनके जीवनकालमें उत्कृष्टताके उच्च शिखर पर पहुँच गया। इनकी अद्भुत प्रतिभा एवं उद्दात्त गुणोंसे मुग्ध होकर श्रीजगन्नाथपुरीके गोवर्धनपीठाधीश्वर शंकराचार्य स्वामी श्रीभारतीकृष्णतीर्थजीने इन्हें अपना उत्तराधिकारी मनोनीत करनेकी अभिलाषा रखी। वंदनीय भारतीय धर्माचार्य 'सरस्वती-पुत्र' की उपाधिसे विभूषित श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी वेदादिके महापंडित एवं अनेक पुस्तकोंके लेखक थे । ऐसे मनस्वी विद्वान् धर्माचार्यका प्रभावित होकर शंकराचार्यका पद प्रदान करना वास्तवमें अत्यंत गौरवका विषय था, किंतु गोस्वामी जी तो इस लोकके प्राणी ही नहीं थे। उन्होंने अत्यंत विनम्रतासे यह प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया। उनका मानना था कि धर्मप्रचारका जो कार्य श्रीआदिशंकराचार्यजीके द्वारा किया गया, वही कार्य पूज्य श्रीपोद्दारजी गीताप्रेसके माध्यमसे कर रहे हैं।

श्रीगोस्वामीजीके अद्भुत व्यक्तित्वसे प्रभावित होकर प्रायः लोग इनके जीवनकालमें ही इनको महान विभूति समझने लगे थे। एक बार बीकानेरके उनके समकालीन एक अधिकारी उन्हें साग्रह गोरखपुरमें अपने घर ले गए।वहाँ उन्होंने उनका पाद प्रक्षालन किया और उस जलको संपूर्ण घरमें छिड़का। तत्पश्चात् मुग्ध स्वरसे बोले कि आज मेरा घर पवित्र हो गया।

वैष्णव धर्मानुयायी होनेके कारण इनका रहन–सहन नियमानुसार था।यह नियमित रूपसे संध्या–वन्दन, भागवत आदिका पाठ, स्वरूप–सेवा, नामजप आदि और बलिवैश्य कर्म करते थे। साथ ही भोजनमें पूर्ण शुद्धताका आचार–विचार रखते थे। ये वाराणसीमें बीकानेर–शिवालयमें स्वयं ही भोजन बनाते थे। इन्होंने बाजारमें बनी वस्तु कभी भी नहीं खायी। किंतु इन्हें खाद्य सामग्रीकी उत्कृष्टताकी पहचान विशेष रूपसे थी। किसी भी भोज्य पदार्थका उत्कृष्टतम निर्माण कैसा होना चाहिए, इसका इन्हें पूर्ण ज्ञान था। इसके अतिरिक्त ये किसी भी खाद्य सामग्रीको मुखमें रखकर बता देते थे कि यह कितने दिन पुरानी है अथवा इसके निर्माणमें क्या कमी है। इसीलिए पूज्य श्रीराधाबाबाने इनको 'स्वादवीर' की उपाधि प्रदान की थी।

इनका अतिथि सेवा और जरूरतमंदोंकी सहायताके प्रति विशेष झुकाव था। ये भोजन हेतु लोगोंको आमंत्रित कर बहुत प्रेमसे स्वयं अपने हाथसे परोसते थे। अपनी आमदनीका कुछ अंश दूसरोंको अवश्य देते थे। इनसे कभी किसीने सहायता माँगी तो उसकी माँग पूर्ण करनेका यथासंभव प्रयत्न करते थे। इसके अतिरिक्त भी इनके कुछ नियम थे जैसे — गीतावाटिका, गोरखपुरमें अखंड नाम संकीर्तन स्थलपर कार्यस्थलसे वापसीपर कुछ समय अवश्य सम्मिलित होते थे। इन्होंने संगीतकी शिक्षा अपने पितासे प्राप्त की थी। ये एक अच्छे संगीतज्ञ थे। इनकी अत्यंत मधुर वाणी थी। ये पोद्दारजीके प्रवचनमें कीर्तन और पदगायन करते थे। इनके द्वारा गाये पदोंको

सुनकर श्रोता भावविभोर होते थे और उनकी आँखोंसे आँसूकी धारा प्रवाहित हो जाती थी। ये स्वयं भी गाते हुए भाव राज्यमें पहुँच जाते थे। बिना किसी वाद्यके बुलंद आवाजमें गायन इनकी विशेषता थी। ये संस्कृत श्लोकोंका भी सस्वर उच्चारण अत्यंत मधुरतासे करते थे। गुरुजनोंका कहना है कि इनके गायनमें स्वरोंकी ही नहीं श्रुतियों तकका माधुर्य दृष्टिगत होता था। इन्होंने ऑल इंडिया म्यूजिक कॉन्फ्रेंसमें भी भाग लिया था।

श्रीगोस्वामीजीकी कोई संतान नहीं थी। किंतु इन्होंने पोद्दारजीकी पुत्री और अपनी छोटी बहन श्रीमती विमला देवीके बच्चोंको अपनी संतान समझा। श्रीमती विमलादेवीके बच्चे गोरखपुरमें रहते थे और वे इन्हें पिता तुल्य समझते थे।

गोस्वामीजीके पिताजी श्रीबृजलालजीके जीवनकालमें तो ये गोरखपुरसे बीकानेर आते रहते थे, पर उनके दिवंगत हो जानेके पश्चात् इन्होंने मोहत्यागके प्रथम सोपानके रूपमें बीकानेर न आनेका व्रत लिया। यद्यपि इसे निभानेमें कई कठिनाइयाँ आयीं, क्योंकि बीकानेर उनकी जन्मभूमि तो थी ही सभी रिश्तेदार भी यहीं थे।

इसके बाद इन्होंने जीवनमें कई त्याग किये। जीवनकी अंतिम अवस्थामें ये सात माह अस्वस्थ रहे।उस समय उन्होंने स्वयंको पूर्णतया भगवान्में लीन कर लिया था। अत्यधिक वेदना होने पर भी इनके मुखसे सदैव भगवन्नामकी ध्वनि ही निकलती। यदि कोई व्यक्ति इनके कष्टको देखकर इनके प्रति सहानुभूति प्रकट करता, तो वे इसे प्रभुका मंगल विधान बताकर संतोष दिलाते थे। भगवान्की लीलासे सम्बन्धित पद सुनना ही उन्हें उस समय अत्यंत प्रिय था। इनके जीवनका पटाक्षेप वैशाख मासके शुक्लपक्षकी चतुर्दशी अर्थात् श्रीनृसिंह चतुर्दशी, संवत् २०२१ वि० (५ मई १९७४ ई.) को हुआ था।

ये भूतलपर ७४ वर्ष तक रहे, किंतु इनका नाम इस धरापर सदा रहेगा। श्रीगोस्वामीजीको हमारा शत-शत नमन !

गोस्वामीसे गोस्वामीतककी यात्रा

(प्रेषक — श्रीसुभाष दीपक)

'कल्याण' को शुरू हुए दस वर्ष हो चुके थे। साथ ही भगवन्नाम-अंक, भक्तांक, श्रीमद्भगवद्गीतांक, रामायणांक, शक्ति-अंक, नारी-अंक, संत-अंक, योगांक एवं वेदान्त-अंक प्रकाशित किये जा चुके थे। अगला विशेषांक रामचरितमानसपर होगा यह तय किया गया। श्रीसेठजी तथा श्रीभाईजीका मत था कि इसके लिए रामचरितमानसके प्रामाणिक संस्करण उपलब्ध हों। समस्या यह थी कि गोस्वामी तुलसीदासजी द्वारा हस्तलिखित ग्रंथकी प्रतिलिपिका मिलना सहज नहीं था। अन्य हस्तलिखित या मुद्रित प्रतियोंमें अंतर स्पष्ट दिखाई देता था। कुछ लोगोंका यह भी मत था कि हो सकता है स्वयं गोस्वामीजीने ही बार-बार अपनी कृतियोंमें संशोधन किया हो। इसकी संभावनाको नकारते हुए प्रामाणिक प्रतियोंको ही हासिल करनेकी कोशिश करनेका निश्चय किया गया। इस बातको सब स्वीकारते थे कि संस्कृतके विद्वान होते हुए भी तुलसीदासजीने अपना यह ग्रंथ अवधी भाषामें इसलिये लिखा क्योंकि वह उस समयकी जन-भाषा थी। सूर, मीरा तथा कबीरने भी ऐसा ही किया था। उन्होंने भी जनसाधारणकी भाषाको अपनाया। यह भी तय किया गया कि

प्रामाणिक संस्करण उपलब्ध हो जानेपर उनपर टीका तो श्रीभाईजी लिखेंगें परन्तु पदोंका संयोजन, व्याकरणका परिमार्जन तथा उपयुक्त शब्दोंका चयन श्रीनंददुलारेजी वाजपेयी तथा श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी करेंगें।

बहुत खोज–खबरके बाद यह पता लगा कि अयोध्याके श्रावणकुंजका सन् १६०५ ई. में लिखा हुआ बालकाण्ड, श्रीतुलसीदासजीके हाथसे लिखा हुआ राजापुरमें उपलब्ध अयोध्या कांड, श्रीतुलसीदासजीके हाथका लिखा हुआ सन् १६१६ ई. का दुलही ग्राममें उपलब्ध सुंदरकांड सबसे अधिक प्रामाणिक हैं। बाकी चार कांडोंके लिए श्रीभागवतदासजीकी प्रतियोंको आधार मान लिया गया।

कहा जाता है कि नारद मुनिके कहनेपर वाल्मीकिजीने रामायणकी रचना की थी। इसके बाद रामजीकी कृपासे रामबोला अर्थात तुलसीदासजीने रामचरितमानसका सृजन किया। कहा यह भी जाता है कि दोनों ही के सृजनके वक्त अनेक दिव्य शक्तियाँ वहाँ उपस्थित हो गई थीं — वाल्मीकिके आश्रममें तथा वाराणसीके अस्सी घाटकी बंद कोठरीमें।

देखते–देखते गीतावाटिका रामाश्रममें परिवर्तित हो गयी। गोस्वामीजी तथा वाजपेयीजी जुट गये। छोटा–सा कक्ष था और वहाँ एक चटाई बिछी रहती थी। पूरे कक्षमें ग्रंथ और पुस्तकें बिखरी रहतीं। घंटों तक दोनों विद्वान एक–एक पदपर विचार करते, दोहे, छंद, चौपाई कागजपर उतारते और कभी–कभी आवश्यकताके अनुसार उनमें परिमार्जन भी करते। चिम्मनलालजी महाराज जब अपने मधुर कण्ठसे मानसके पदोंका गायन करते तो सम्पूर्ण वातावरण राममय हो जाता। गोस्वामीजीके लिये जब देर रातको चटाईपर बैठकर लिखना कष्टप्रद हो जाता तो उठकर वे अपने पलंगपर मसहरीके भीतर घुस जाते और लालटेनकी लौ बढाकर काम करने लग जाते। गरमीसे बदन भीगता रहता लेकिन होश कहाँ रहता था। एक हाथसे पंखा झलते और दूसरेसे

कलम चलती रहती। गोस्वामीजी जाने कितने दिनोंतक इसी तरह लगे रहे। उनका मानना था कि रामचरितमानस केवल एक ग्रंथ मात्र नहीं है बल्कि एक आंदोलन है। राम साक्षात् परब्रह्म हैं। यह ग्रंथ व्यक्तिके चरित्र निर्माणमें अत्यंत सहायक है। इसका एक–एक पद मंत्रसे कम नहीं है।

वहाँ जितने भी विद्वान उपस्थित थे सबकी राय यह बनी कि तुलसीदासजीने करीब चार सौ वर्ष पूर्व इस महाकाव्यकी रचना की थी परंतु इसे सजाया–संवारा श्रीचिम्मनलालजीने है। श्रीशांतनुबिहारीजी (स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती) ने तो इसे **'गोस्वामीसे गोस्वामीतककी अनिर्वचनीय यात्रा'** का नाम दिया।

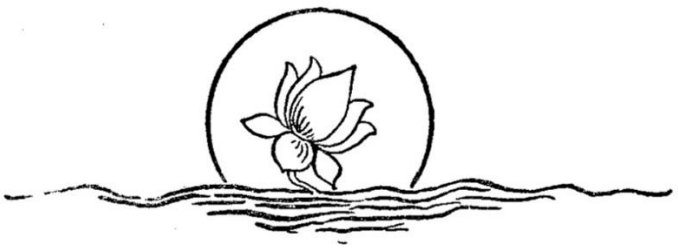

निष्ठाके प्रतीक

(आदरणीया श्रीमती अचलनन्दिनीजी श्रीवास्तव)

परम आदरणीय श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी जब अंतमें अधिक बीमार हुए तो पूज्य बाबा (श्रीराधाबाबा)–ने प्रतिदिन उनको देखने आना आरंभ किया। उनका (श्रीगोस्वामीजीका) निवास गीतावाटिकाके दक्षिणमें नजदीक ही था, पर बाबा रोज उतना पैदल चलकर आते–जाते थे। जैसे ही बाबा अपनी कुटियासे उठकर चलना आरंभ करते, दो–तीन लोग सूचना लेकर आ जाते। गोस्वामीजीके घरके बाहर थोड़ा खुला स्थान था, जिसमें एक दो पेड़ एवं कुछ पौधे थे। सूचना आते ही तुरन्त वहाँ सफाई करके गोस्वामीजीका पलंग बाहर निकाला जाता। उसके सामने एक बड़ी चौकी डालकर गेरुआ वस्त्र बिछाया जाता। आसपास कुछ मोढ़े तथा चटाइयाँ बिछ जातीं जिनपर अगल–बगल रहने वाले हमलोग आकर जम जाते। पूज्या बाई (पूज्य श्रीभाईजीकी सुपुत्री) भी आतीं। हमलोग गर्दन उठाए तरह–तरहकी महत् चर्चाएँ सुनते। गोस्वामीजी कहते, बाबा आपके आनेसे मैं गदगद हो जाता हूँ, पर आपको इतना पैदल चलकर आना पड़ता है। बाबा हँसकर मीठे स्वरमें कहते — "मैं तो आऊँगा ही।"

एक दिन गोस्वामीजीने इशारेसे बाईको रोका। मैं भी रुक गई क्योंकि मैं बाईके साथ उनके कमरेतक छोड़ने जाती थी। गोस्वामीजीने बाईसे कहा कि बाबाको रोज इतना चलना पड़ता है, तू मेरे लिए वाटिकामें ही एक कमरा नहीं दे सकती जहाँ मैं आ जाऊँ ? बाईने कहा — अभी कर देती हूँ।

वापस आकर बाईने उनके आँगनके पूजाघरके उत्तरमें एकके बाद एक जो दो कमरे हैं, उन्हें एकदम खाली करवा दिया। फिर दोनों कमरे खूब धुलवाये गये। पूजाघरसे सटे कमरेमें गोस्वामीजीका पलँग बिछाया गया। छोटी मैया भी उसमें रहती ही थीं, पर बगलवाले कमरेमें बाईने उनके लिए एक और पलँग बिछाया ताकि वे वहाँ आराम कर सकें। उनके लिए रसोईका भी पूरा प्रबंध बाईने कराया।

किसीने कहा कि जरा आजका मुहूर्त देख लिया जाये। गोस्वामीजी हँसकर बोले — "गुरु और माता–पिताके घर जानेके लिये मुहूर्त नहीं देखा जाता", और वे उसी दिन आ गये। अब तो बाबा एकसे अधिक बार भी आ जाते। कई बार सामने ही खिलाते–पिलाते। गोस्वामीजी खिड़कीसे पूरी परिक्रमाका दर्शन करते। फिर तो वे अंततक वहीं रहे। अंत समयमें बाबा उपस्थित रहे ही।

एक और घटना स्मरण आ रही है — जब पूज्य बाबूजी (पूज्य श्रीभाईजी)– की समाधि बनी, और बाबाने टीनशेडके नीचे रहना शुरू किया, तो जब भी गोस्वामीजी बाबाके पास आते, सीधी पगडंडीसे आकर बाएँ मुड़कर बाबाके पास पहुँच जाते, पर लौटते समय कभी उस पगडंडीसे नहीं लौटते। पता चला कि वे पूज्य बाबूजीकी समाधिको अपने बाएँ ओर नहीं होने देते थे। सदा दाईं ओर रखते थे। ऐसे ही हमारे बाबा पूर्वकी ओर सिरहाना रखते, पर यदि करवट बदलनेकी इच्छा होती तो सिरहाना पैताना उलट लेते। क्योंकि समाधिकी ओर पीठ नहीं करते थे। नींदमें भी चूक नहीं होती। ऐसे थे ये लोग, और इनकी तमाम गाथाएँ।

विनम्र श्रद्धांजलि !!

आध्यात्मिक साहित्य–सम्पादनकी यशस्वी परम्पराओंके संवाहक :

श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी

(श्रीभानुस्वरूपजी गोस्वामी, सम्पादक—तैलंग कुलम्)

विश्वभरमें आध्यात्मिक साहित्यको लेकर प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओंमें सर्वाधिक जनप्रिय पत्रिका यदि कोई रही है तो वह है — योगिराज गोरखनाथकी तपस्थली गोरखपुरकी गीताप्रेससे प्रकाशित आध्यात्म–साहित्य पत्रिका 'कल्याण'। आध्यात्ममें तनिक भी रुझान रखने वाला शायद ही कोई ऐसा घर होगा जिसमें यह धार्मिक पत्रिका नहीं पहुँचती होगी। भारतके हिन्दीभाषी जन–जनमें आध्यात्मकी ज्योति जगाने वाली इस पत्रिकाका सम्पादन सन् १९२६ ई. से श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारने सम्हाला। इस पत्रिकाका पाठक गीताप्रेस, गोरखपुरसे जुड़ी जिन तीन महान विभूतियोंके नामसे सुपरिचित रहा है इन्हींमेंसे एक थे अध्यवसायी व नियमानुवर्त्ती श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी।

श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीका जन्म बीकानेर में वि.सं. १९५७ की आषाढ़ कृष्णा नवमी (सन् १९०० ई.) को हुआ। आपके पिता श्रीव्रजलाल गोस्वामी व्याकरणके प्रकाण्ड पण्डित, प्रखर कर्मकाण्डी व लब्धप्रतिष्ठ व्यक्ति थे। आपकी माता श्रीमती चन्द्रकला वैष्णवमार्गी धर्मानुरागिनी थीं। आपका प्रथम विवाह बाल्यावस्था में ही महापुरा (जयपुर)–निवासी श्रीगोपीकृष्णजी गोस्वामीकी सुपुत्री श्रीमती कृष्णा देवीसे हो गया था, किन्तु आपकी प्रथम पत्नीका निधन अल्पकालमें ही हो गया। आपका दूसरा विवाह श्रीमती सरयूदेवीके साथ हुआ जो एक पतिव्रता एवं आदर्श नारी थीं।

गोस्वामीजी कुशाग्रबुद्धि व अत्यन्त प्रतिभावान बालक रहे। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा–दीक्षा स्थानीय स्तर पर ही हुई। उन्होंने सभी परीक्षाएँ सभी विषयोंमें विशेष योग्यताके साथ सर्वोच्च अंकोंसे उत्तीर्ण की। बताया जाता है कि विशेष योग्यतासे

उत्तीर्ण होनेके फलस्वरूप उन्हें पारितोषिकरूपमें मिली अनेक पुस्तकें बीकानेरके 'षोडष–गीत–मन्दिर–पुस्तकालय' में आज भी संरक्षित हैं।

आपका बाल्यकाल अत्यन्त कंटकाकीर्ण व पारिवारिक विपत्तियोंसे घिरा हुआ रहा। इन विकट परिस्थितियोंमें भी आपने अदम्य साहसका परिचय देते हुए कभी अपने स्वाध्यायको नहीं छोड़ा और विद्यार्जनमें रत रहे। उन दिनों जयपुर संस्कृत–अध्ययनका एक प्रमुख केन्द्र था जो दूसरी काशीके नाम से भी प्रसिद्ध था। आपने प्रथम श्रेणीमें संस्कृत–साहित्यमें शास्त्रीकी परीक्षा यहींसे उत्तीर्ण की। इसके पूर्व आप अध्ययनके लिये कुछ समय काशीमें रहे जहाँ विख्यात शिक्षण संस्थान 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' से प्रथम श्रेणीमें अधि–स्नातककी उपाधि ग्रहण की और बीकानेर राज्यमें सर्वप्रथम एम.ए. उत्तीर्ण करने वाले विद्यार्थियोंमें शुमार हो गये।

काशीमें विद्याध्ययनके दौरान आप महामहोपाध्याय पं. श्रीगोपीनाथजी कविराज तथा अंग्रेजीके भाषा गुरु प्रो. श्रीजीवनशंकरजी याज्ञिकके परमप्रिय शिष्य रहे। विद्यार्जनके तत्काल बाद आपको महामना श्रीमदनमोहनजी मालवीयके सचिव बननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ जो पारिवारिक बाधाओंके चलते अधिक समय तक नहीं रह सका और आप बीकानेर लौट आये। उनके उच्च श्रेणीमें एम.ए. उत्तीर्ण होनेकी चर्चा बीकानेर राज्यमें फैल चुकी थी। कहते हैं बीकानेर लौटनेपर बीकानेरके महाराजाने उन्हें स्टेशनसे लिवा लानेके लिये एक सुसज्जित हाथीकी सवारी भिजवाकर उन्हें अपूर्व सम्मानसे नवाजा था।

इन दिनों बीकानेर राज्यमें सर मन्नूभई मेहता, आई.सी.एस. प्रधानमंत्रीके रूपमें कार्यरत थे जो ब्रिटिश सरकारकी नुमाइन्दगीमें प्रथम विश्वयुद्धकी समाप्तिपर आयोजित गोलमेज सम्मेलनमें भाग लेने जर्मनी भी गये थे, इन्हींके सचिवके रूपमें नियुक्त होकर आपने बीकानेर राज्यके उच्च पदको सुशोभित किया।

कुछ समयके लिये आप राजवंशके अभिजात छात्रोंके शिक्षण केन्द्र 'वाल्टर नॉबल स्कूल' के प्रिन्सीपल भी रहे। इस प्रकार बीकानेर राज्यमे उन्हें अपार सम्मान व ऊँचे ओहदे मिले। किन्तु न तो यह उनके जीवनका चरम लक्ष्य था और ना ही संकल्प। उनके इस संकल्परूपी यज्ञमें श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके बीकानेर प्रवास व उनके मिलनने एक और आहुति दे दी। सन् १९२७ में श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार अपनी धर्म-प्रचार-मण्डलीके साथ बीकानेर पधारे थे, जहाँ सेठ श्रीगंभीरचन्दजी दुजारीने श्रीगोस्वामीजीको उनसे मिलवाया। फिर क्या था जैसे गोस्वामीजीको अपना वरेण्य मिल गया था और वे इस हेतु अपना तन-मन-धन याने सर्वस्व त्यागनेको आतुर हो चले।

उनके कंधोंपर बीकानेर राज्यका भारी दायित्व था और घरेलू परिस्थितियाँ भी इसके अनुकूल नहीं थीं। स्वजनों व इष्टजनोंकी घोर असहमतिके बावजूद अन्ततः आप सन् १९३३ में बीकानेर राज्यका शासकीय वैभव, सुख-सुविधाएं आदि त्यागकर सपत्नीक गोरखपुर प्रस्थान कर गये। यहाँ आकर आप भगवदाराधन, संत-समागम, भगवत्कथाओंके आयोजन, स्वाध्याय, शास्त्रानुशीलन, उपनिषद् व श्रीमद्भगवद्गीताके नित्य पारायण व वैष्णवधर्मके एकनिष्ठ अनुयायी हो कर जीवनयापन करने लगे।

बीकानेर राज्याधीन चुरूके सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने भगवान् श्रीकृष्णकी अमृतवाणीको लोकाचरणमें लाने तथा श्रीमद्भगवद्गीताके सिद्धान्तोंके प्रचारके सदुद्देश्यसे गीताप्रेसकी स्थापना की थी। गीताप्रेसके माध्यमसे श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीरामचरितमानस सहित अनेकानेक पौराणिक तथा आध्यात्मिक ग्रन्थोंका प्रकाशन हुआ। इन प्रकाशनोंने भारतीय जनमानसमें हिन्दु-संस्कृतिके प्रति नवचेतना जागृत करनेका महान कार्य किया। इस पुनीत कार्यमें श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके सम्पादनमें

यहींसे प्रकाशित 'कल्याण' मासिक पत्रिकाने अनुपम योगदान दिया। गीताप्रेसके प्रकाशनोंमें श्रीगोस्वामीजीकी सदैव अहम् भूमिका रही।

'कल्याण' मासिक पत्रिकाका प्रकाशन हिन्दी भाषामें होनेके कारण देशके अहिन्दीभाषी राज्यों सहित विदेशीजन भी इसके आध्यात्मिक लाभसे वंचित रहे थे। इन वंचितजनोंको भी यह लाभ मिले इसी पावन उद्देश्यकी पूर्तिके लिये सन् १९३४ में गीताप्रेससे ही अंग्रेजीमें एक आध्यात्मिक पत्रिका 'कल्याण–कल्पतरु' का प्रकाशन श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीके सम्पादनमें प्रारम्भ किया गया। आप इस पत्रिकाका सम्पादन यावज्जीवन करते रहे। इस पत्रिकाके विभिन्न विशेषांकोंके अतिरिक्त आपने श्रीगीता–तत्व–विवेचनी, श्रीमद्भागवत महापुराण, श्रीरामचरितमानस तथा वाल्मीकि रामायणका अंग्रेजी भाषामें अनुवाद किया। रुग्णताके कारण आप वाल्मीकि रामायणका अंग्रेजी अनुवाद पूरा नहीं कर पाये।

श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार व श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीका अभूतपूर्व साहचर्य चार दशकतक रहा, किन्तु दैवयोगवश गोस्वामीजीको उनका वियोग सहना पड़ा। श्रीपोद्दारजीके निधनके बाद कल्याणके सम्पादनका गुरुतर भार भी उनके कन्धोंपर आन पड़ा जिसका निर्वहन भी आपने पूर्ण मनोयोग व चरम सफलताके साथ किया। इस दौरान आपने कल्याणके सम्पादनकी यशस्वी परम्पराओंका कभी क्षरण नहीं होने दिया।

आप गृहस्थ होते हुए भी सदैव वीतरागी बने रहे। आर्त्त व पीड़ितोंके तो आप जैसे संरक्षक ही थे। आपने गीताप्रेसमें श्रम कानून लागू हो जानेके बावजूद भविष्य निधि, बोनस आदिका वैधानिक लाभ भी कभी ग्रहण नहीं किया। धन–यश व पदकी लालसाने कभी उन्हें पथच्युत नहीं होने दिया। इसी दृढ़ प्रवृत्तिके चलते आपने 'जगन्नाथपुरीके श्रीगोवर्द्धनपीठके शंकराचार्यका पद भी विनम्रतापूर्वक अस्वीकार कर

दिया। जगन्नाथपुरीके श्रीगोवर्द्धनपीठाधीश्वर शंकराचार्य स्वामी श्रीभारतीकृष्णतीर्थजीने प्रवृत्त उत्तराधिकार परम्पराका निर्वहन करते हुए श्रीगोस्वामीजीका नाम शंकराचार्य पदके लिये मनोनीत किया था।

जरावस्था व रुग्णताके कारण आप काफी कृशकाय हो चले थे। उच्च रक्तचाप व हृदयाघातकी आशंकावश चिकित्सकोंके अनुरोधसे आप पर्यंकशायी हो गये तथा चिकित्सकों, अनुयायियों व शुभचिन्तकोंकी चिकित्सा व सेवा–सुश्रूषाके बावजूद उनकी देहदशा बिगड़ती चली गयी और अन्ततः शास्त्रज्ञान, भजननिष्ठा, त्याग और तपस्या की प्रतिमा यह महान सन्त वैशाख शुक्ल चतुर्दशी सं. २०३१ (नृसिंह जयन्ती) ५ मई सन् १९७४ ई. के दिन इस दुनियासे महाप्रयाण कर गया।

रामचरितमानसके प्रकाशनमें गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजी आदिका योगदान

(श्रीहेमन्त शेष, प्रख्यात साहित्यकार, पूर्व आईएएस अधिकारी)

गीताप्रेस, गोरखपुरके आदि–सम्पादक श्रद्धेय श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार या उनके द्वारा सम्पादित सुविख्यात पत्रिका 'कल्याण' की बात करते हुए श्रीचिम्मनलाल गोस्वामीके नामका स्मरण हो आना भी सहज–स्वाभाविक है !

श्रद्धेय सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके सहयोगसे भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारने अगस्त, १९२६ ई० में धर्मप्रधान विचारोंपर आधारित 'कल्याण' नामक मासिक–पत्रिका मुम्बई (तत्कालीन बम्बई)–में प्रारम्भ की थी (जो आज भी गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित हो रही है) ।

यहींसे सन् १९३४ ई० में श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीके कुशल सम्पादनमें अंग्रेजीमें 'कल्याण–कल्पतरु' मासिक पत्रिका भी प्रारम्भ हुई ।

काशी–हिन्दू–विश्विद्यालयसे अंग्रेजी–साहित्यमें सर्वोच्च अंक लेकर अधिस्नातक बने श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी (सन् १९००–१९७४) हिंदी, अंग्रेजी व संस्कृतके अपूर्व विद्वान थे ।

हिन्दू धर्मग्रन्थोंमें अशुद्ध पाठ एवं त्रुटियोंसे भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारको बहुत कष्ट होता था । अतः उन्होंने तुलसीकृत श्रीरामचरितमानसकी जितनी हस्तलिखित प्रतियाँ मिल सकीं, एकत्र कीं और विद्वानोंको बैठाकर 'मानस पीयूष' नामक उनका शुद्धपाठ, भावार्थ एवं टीकाएँ तैयार करायीं । फिर इन्हें कई आकारोंमें प्रकाशित किया, जिससे हर कोई उससे लाभान्वित हो सके । मुद्रणकी भूलको कलमसे शुद्ध करनेकी परम्परा भी उन्होंने गीताप्रेससे ही प्रारम्भ की ।

श्रीगंभीरचंदजी दुजारीके वयोवृद्ध पुत्र श्रीहरिकृष्णजी दुजारीके अनुसार — जब गीताप्रेसने रामचरितमानसके प्रकाशनका निर्णय लिया तो भाईजीने रामचरितमानसकी प्राचीन पाण्डुलिपियोंकी खोज प्रारम्भ की।

इस क्रममें वे स्वयं श्रीतुलसीदासजीकी जन्मस्थली राजापुर (चित्रकूट) जाने वाले थे, पर अत्यधिक व्यस्तताके कारण उन्होंने अपने स्थानपर श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी एवं श्रीगंभीरचंदजी दुजारीको राजापुर भेजा, जहाँ खोज करनेपर उन्हें अयोध्याकाण्डकी एक हस्तलिखित पुरानी पाण्डुलिपि मिली। दोनोंने अपनी हस्तलिपिमें इसकी प्रतिलिपि तैयार की, फिर वे श्रावणकुंज (अयोध्या) गये और वहाँसे प्राप्त बालकाण्डकी हस्तलिखित पाण्डुलिपिकी प्रतिलिपि तैयार की। सारी सामग्रीको एकत्र कर दोनों गोरखपुर वापस आ गये। इस बीच, श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीके पिताजीका स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया और उन्हें (श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीको) बीकानेर जाना पड़ा। उनके साथ हिंदी व संस्कृतके विद्वान पं. श्रीनन्ददुलारेजी वाजपेयी भी बीकानेर गये, जो गीताप्रेसमें ही संपादकीय विभागमें काम करते थे।

दोनोंने बीकानेरमें पाण्डुलिपियों पर विचार-विमर्श, चिंतन और शोध किया। इस दौरान वे श्रीभाईजीके संपर्कमें भी बने रहे, जो राजस्थानमें स्थित अपने पैतृक निवास — रतनगढ़में थे और वहीं से 'कल्याण' का संपादकीय-कार्य देख रहे थे। उत्तर प्रदेशमें लखीमपुर जिलेके धौरहरा स्थित दुलहीग्रामसे सुन्दरकाण्डकी जो पाण्डुलिपि मिली, उसे संभवतः श्रीतुलसीदासजीने हाथसे लिखा है।

श्रद्धेय श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार लिखते हैं — "बहुत खोजने और जाँच-पड़ताल करनेपर समयकी दृष्टिसे हमें तीन प्रतियाँ पुरानी मिलीं — एक श्रीअयोध्याजीके श्रावणकुंजका बालकाण्ड जो संवत् १६६१ का लिखा है, दूसरा

राजापुरका अयोध्याकाण्ड, जो कि श्रीगोस्वामीजीके हाथका लिखा कहा जाता है। और तीसरा दुलहीका सुन्दरकाण्ड जो संवत् १६७२ का लिखा है और वह भी श्रीगोस्वामीजीके हाथका लिखा कहा जाता है। उसकी लिपि भी गोस्वामीजीकी लिपिसे मिलती है। बहुत सुन्दर अक्षर हैं। अतएव बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड और सुन्दरकाण्ड — इन तीनों काण्डोंका उपर्युक्त तीनोंके आधारपर और शेष चार काण्डोंको श्रीभागवतदासजीकी प्रतिके आधारपर पाठ-संशोधन और राजापुरकी प्रतिमें प्राप्त व्याकरणके अनुसार सम्पादन करके एक छपने योग्य प्रति पं. श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी एम.ए., शास्त्री और श्रीनन्ददुलारेजी वाजपेयी एम.ए. ने मिलकर तैयार की। मानसांकमें दोहे, चौपाइयोंका अर्थ भी छापा गया है। वह न तो केवल शब्दार्थ है और न ही विस्तृत टीका। उसे भावार्थ कहना चाहिये।''

सन् १९३८ में श्रीभाईजीके नेतृत्वमें श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी और श्रीनन्ददुलारेजी वाजपेयीने 'कल्याण' का मानसांक निकाला। ९२८ पृष्ठों वाले मानसांक की ४०,६०० प्रतियाँ छपी थीं, जो तुरंत बिक गयीं। इस कारण 'कल्याण' के सभी नियमित ग्राहकोंको भी प्रतियाँ नहीं भेजी जा सकीं। इसलिए उसी वर्ष १०,५०० प्रतियाँ फिर छापी गयीं। उसी वर्ष मानसांकके दो परिशिष्ट भी निकाले गये। इन्हें मिलाकर मानसांक ११२२ पृष्ठका हो गया। उस समय 'कल्याण' का वार्षिक मूल्य चार रुपये तीन आना अर्थात ४ रुपये १८ पैसे था। पूरे वर्षमें 'कल्याण' के १७६२ पृष्ठ छपे। इसमें गीताप्रेसको हजारों रुपयेका नुकसान हुआ, लेकिन श्रीभाईजीने इसकी भरपाई अन्य स्रोतोंके माध्यमसे की।

रामचरितमानस एक काव्य है। इसलिए इसके चिंतन और शोधमें संगीतका ज्ञान भी जरूरी है। भाईजीको शास्त्रीय-संगीतका भी आरंभिक ज्ञान था। उन्होंने कुछ समय महान शास्त्रीय संगीतज्ञ श्रीविष्णु दिगम्बर पलुस्करसे इसकी प्रारंभिक शिक्षा ली

थी । श्रीपलुस्करजीसे उनका सम्पर्क बम्बई प्रवासके दौरान हुआ था । श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीको भी शास्त्रीय–संगीतका ज्ञान था और उनका स्वर बहुत अच्छा था।

रामचरितमानसके प्रत्येक श्लोक, चौपाई, दोहे आदिपर कई–कई बार श्रीभाईजी, श्रीचिम्मनलालजी और श्रीनन्ददुलारे वाजपेयीने विचार–विमर्श किया था।

रामचरितमानसके प्रामाणिक प्रकाशनमें गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजी आदिका योगदान कभी भुलाया नहीं जा सकता !

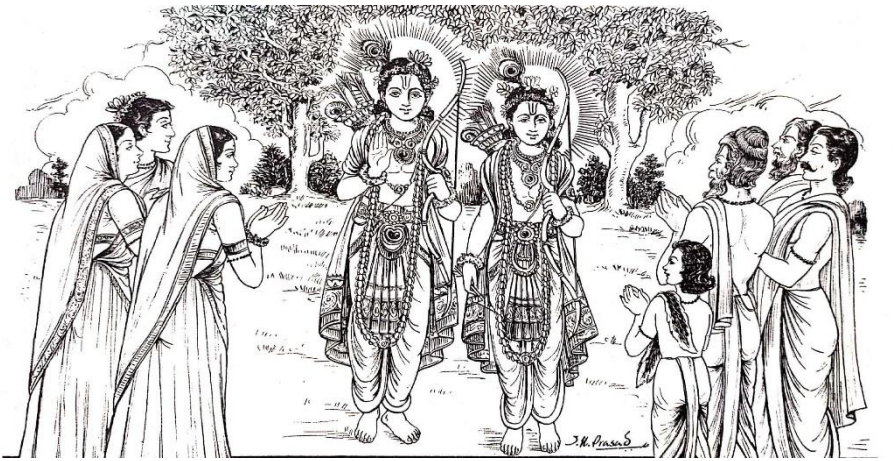

करुणा के रससागर

(श्रीप्रदीप तैलंगजी)

हे करुणा के रससागर अतुलनीय अनुपम विद्वान!
हिन्दी, आँग्ल और संस्कृत का तुम रखते थे समुचित ज्ञान॥
अपनी गायन की शैली से जब-जब छेड़ी तुमने तान—
धन्य हो गयी स्वर लहरी से गीता कानन की भूमि महान॥
नीति शास्त्र के थे अधिवक्ता, सज्जनता की थे तुम खान।
देह त्यागाने से पहले ही भाईजी ने सौंपी 'कल्याण'॥
तुमने पुरी शक्ति लगाकर संपादन पर रक्खा ध्यान।
नहीं था लोभ तनिक माया का, भक्ति मार्ग का था संज्ञान॥
नमन आज शत-शत हम करते हे चिमनलालजी श्रेष्ठ महान!!

श्रद्धा सुमन : एक भावाभिव्यक्ति

(श्रीमती चित्रा तैलंगजी)

गीताप्रेसके आदि–सम्पादक पूज्य भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार और श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी आध्यात्मिक जगत्‌के आधार और अडिग स्तम्भ कहे जा सकते हैं। वे एक ऐसे सूत्र थे, जिन्होंने न केवल भारतवर्ष बल्कि समस्त विश्वके विद्वानोंको 'कल्याण' और 'कल्पतरू' की मालामें पिरो रखा था।

किसी भी साहित्यिक प्रतिष्ठान या पत्रिकाकी सफलताका श्रेय उसके सम्पादकीय विभागकी कर्मठता और योग्यतापर निर्भर करता है। इन दोनों ही महापुरुषोका इस क्षेत्रमें योगदान अतुलनीय है !

श्रीगोस्वामीजीके कितने ही रूप हमारी आँखोंके सामने उभरते हैं। पूज्य श्रीभाईजीके साथ अनुजकी भाँति रहते हुए उन्होंने भरत–सी भक्ति और एकलव्य–सी निष्ठाके साथ धर्म–पताका लहरानेमें कोई कसर बाकी नहीं रखी। पूज्य श्रीराधाबाबाका सच्चा अनुयायी उन्हें कहा जा सकता है।

अपने अभिराम, अनुकरणीय जीवनको पूज्य श्रीभाईजी एवं पूज्य श्रीराधाबाबाकी रुचिके साँचेमें सर्वथा सर्वांशमें ढालकर तदनुरूप पद–विन्यास ही वे आजीवन करते रहे। **"हुआ समर्पण प्रभु–चरणोंमें जो कुछ था सब मैं–मेरा"** —— यही उनके जीवनका मूलमंत्र था। अपनी आदर्श रहनीसे आध्यात्मजगत्‌के लिये वे एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत कर गए जिसकी कहीं कोई संतुलना नहीं हो सकती।

मेरे पिता स्वामी श्रीकृष्णप्रेमजीके वे पितृतुल्य अभिभावक थे। उनका सहज स्नेह था हम बच्चोंपर भी। कब उन्होंने हमारे नन्हें हाथोंमें अपनी अदृश्य अँगुली थमा दी, हमें पता ही नही चला। बचपनकी वे स्वर्णिम यादें हमारे जीवनकी अनुपम निधि हैं। जब उनके लिये फल लेकर मैं उनके कार्यालय जाती थी, कभी–कभी वे मुझे विदेशी डाकसे स्टाम्प देते; क्योंकि उन्हें मालूम था कि मैं डाक–टिकट–संग्रहका शौक रखती हूँ। वे हमें 'साठे बिस्किट' दिया करते थे, जिसका डब्बा मैंने संभाल कर रखा था

बहुत वर्षोंतक। मैं बचपनमें एकादशीका व्रत करती थी। अतः उनके घर शाकाहार (फलाहार) के लिए जाती थी। विशेष अवसरोंपर कभी–कभी वे स्वयं भोजन परोसते थे हम बच्चोंको । अनेक पारिवारिक स्मृतियाँ है जिनमें उनकी अनिर्वचनीय आत्मीयताकी झलक है, जो भूलाये नही भूलती।

अपनी श्रेष्ठताका अभिमान, अपनी विद्वत्ताका प्रदर्शन कभी किंचित भी करना उन्हें पसंद नही था। वे एक श्रेष्ठ गायक भी थे। गीतावाटिकाका कोई भी उत्सव— आयोजन उनके द्वारा गाये भजनोंके बिना अधूरे थे।

श्रीगोस्वामीजीकी योग्यता, विद्वता, निष्ठा, भक्ति, श्रद्धा तथा कर्मठतापर लिखनेमें मेरी कलम तथा बुद्धि सर्वथा विवश है। मैं उनकी विशेषताओंपर लिखनेमें अपनेको अयोग्य पाती हूँ। मेरी ओरसे उन्हें शत् शत् नमन। इत्यलम् !!

शिवोदधि

पूज्य श्रीगोस्वामीजी द्वारा लिखित विभिन्न ग्रंथों एवं पुस्तकोंके सम्पादकीय निवेदन एवं कुछ पदों एवं पुस्तकोंके अंग्रेजी अनुवादका संकलन।

‘श्रीराधा–माधव–चिन्तन’ में प्रकाशित निवेदन

॥ श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः ॥

नम्र निवेदन

भक्ति–रसमें व्रज–रसकी माधुरी अनुपमेय है। भगवान् श्रीव्रजेन्द्रनन्दनने व्रजमें प्रकट रहकर रसकी जो मधुरातिमधुर धारा बहायी, उसकी जगत्‌में क्या, विश्व–ब्रह्माण्डमें कोई तुलना नहीं है। बड़े–बड़े योगीन्द्र–मुनीन्द्र तथा ज्ञानी–विज्ञानी इस रसके लिये तरसते हैं। भाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)–ने समय–समयपर इस विषयपर ‘कल्याण’ के लिये लिखे गये लेखोंमें, विशेष अवसरोंपर पढ़े गये लिखित व्याख्यानोंमें तथा व्यक्तिगत पत्रोंके रूपमें जो कुछ लिखा है तथा दैनिक सत्संगमें अथवा अन्य समारोहोंमें मौखिकरूपसे जो कुछ कहा है, वह आध्यात्मिक जगत्‌की एक अमूल्य निधि है। सहृदय पाठक–पाठिकाओंका बहुत दिनोंसे यह आग्रह रहा है कि उनके व्रज–रस–सम्बन्धी लेखों, पत्रों आदिका एक स्वतन्त्र संग्रह पुस्तकरूपमें प्रकाशित किया जाय। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी आग्रहका सुमधुर फल है। अवश्य ही इस संग्रहमें उनके उन्हीं लेखों, व्याख्यानों तथा पत्रों आदिका आंशिक समावेश हुआ है, जो मधुर रस अथवा कान्ताभावसे सम्बन्ध रखते हैं। उनके इतर रस–सम्बन्धी लेख आदि प्रायः इसमें नहीं आ पाये हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने मौखिक प्रवचनों एवं व्यक्तिगत पत्रोंमें इस विषयपर इतना अधिक कहा और लिखा है कि वह सब तो संगृहीत हो ही नहीं सकता।

विषयको भलीभाँति हृदयंगम करानेके लिये एकत्रित सामग्रीको सात प्रकरणोंमें बाँटा गया है। पहले प्रकरणका शीर्षक है—**‘श्रीराधा’**। कहना न होगा कि व्रज–रसके प्राण श्रीव्रजराजकुमारकी आत्मा श्रीराधिका हैं—‘आत्मा तु राधिका तस्य।’ एक रूपमें जहाँ श्रीराधा श्रीकृष्णकी आराधिका—उपासिका हैं, दूसरे रूपमें वे उनकी आराध्या उपास्या भी हैं—‘आराध्यते असौ इति राधा’। शक्ति और शक्तिमान्‌में वस्तुतः कोई भेद न होनेपर भी भगवान्‌के सविशेष रूपोंमें शक्तिकी प्रधानता है।

शक्तिमान्‌की सत्ता ही शक्तिके आधारपर है। शक्ति नहीं तो शक्तिमान् कैसे ? 'रस्यते असौ इति रसः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार रसकी सत्ता ही आस्वादके लिये है। अपने-आपको अपना आस्वादन करानेके लिये ही स्वयं रसरूप ('रसो वै सः') श्रीकृष्ण 'राधा' बन जाते हैं। इसीलिये व्रजरसमें 'राधा' की विशेष महिमा है। श्रीकृष्ण प्रेमके पुजारी हैं, इसीलिये वे अपनी पुजारिनकी पूजा करते हैं, उन्हें अपने हाथों सजाते-सँवारते हैं, उनके रूठ जानेपर उन्हें अपने प्राणोंके निर्मंछनद्वारा प्रसन्न करते हैं। 'चाँपत चरन मोहनलाल' तथा—

'देख्यौ दुरयौ वह कुंज कुटीर में बैठ्यो पलोटत राधिका पायन ॥'

—आदि उक्तियों द्वारा रसिक कवियोंने श्रीकृष्णकी इसी प्रेमप्रवणताकी ओर संकेत किया है। शक्तिकी प्रधानताको द्योतित करनेके लिये ही 'राधाकृष्ण', 'सीताराम' आदि युगल नामोंमें 'राधा' और 'सीता' का नामोल्लेख पहले किया जाता है। इसी परिपाटीके अनुसार प्रस्तुत ग्रन्थमें भी 'श्रीराधा' शीर्षक प्रकरणको प्रथम स्थान दिया गया है। आकारकी दृष्टिसे भी यह प्रकरण सबसे बड़ा है। इस प्रकरणमें श्रीराधाका दिव्यातिदिव्य स्वरूप, उनके प्रेमकी अलौकिक महिमा, श्रीकृष्णके साथ उनका पवित्रतम सम्बन्ध आदि दुरूह एवं गूढ़ विषयोंका मार्मिक विवेचन किया गया है तथा प्रसंगवश श्रीराधाके विषयमें तथा श्रीराधाकृष्णके प्रेम-सम्बन्धमें उठायी गयी विविध शंकाओंका बड़े ही सुन्दर ढंगसे समाधान किया गया है।

दूसरे प्रकरणका शीर्षक है—**'श्रीकृष्ण'**। इसमें श्रीकृष्णकी पूर्ण भगवत्ता, उनका परम दिव्य स्वरूप, उनका सच्चिदानन्दमय भगवद्देह, श्रीकृष्णके प्राकट्यकी महिमा तथा उनका जन्म-महोत्सव, उनकी विरुद्धधर्माश्रयता, उनकी सर्वमान्यता, श्रीकृष्ण-चरित्रकी उज्ज्वलता तथा उनको प्रियतमरूपमें प्राप्त करनेकी साधना आदि विषयोंपर प्रचुर प्रकाश डाला गया है।

तीसरे प्रकरणका शीर्षक है—**'राधा-माधव'** । इसमें युगल तत्त्वकी एकता, युगल-स्वरूपकी उपासना, राधाकृष्णकी अष्टकालीन स्मरणीय सेवा आदि विषयोंका भलीभाँति निरूपण किया गया है।

इस प्रकार श्रीराधा-कृष्णके स्वरूपको, उनके परस्परके पवित्रतम सम्बन्धको, उनकी विभिन्न मधुर लीलाओंको—जिनमें प्रणय, मान एवं विरह सभी हैं—ठीकसे समझनेका 'मापदण्ड' इस ग्रन्थमें प्राप्त होता है। साथ ही श्रीराधाकृष्णके सम्बन्धमें अबतक जो भी साहित्य संस्कृत, हिंदी तथा अन्य भाषाओंमें प्राप्त है, उसके अध्ययन, मनन एवं आलोचनकी 'कसौटी' यह ग्रन्थ प्रस्तुत करता है। बिना एक 'कसौटी' को सामने रखे—श्रीराधा-माधवके स्वरूप तथा उनकी पारस्परिक मधुर लीलाओंके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान न होनेके कारण ही—न केवल हिंदी-साहित्यमें प्राप्त रचनाओं अपितु संस्कृत-साहित्यकी भी एतद्विषयक रचनाओंके अध्ययनके सम्यक् आनन्दसे हम अभीतक बहुत अंशोंमें वंचित रहे हैं तथा हमने अनेकों भ्रान्त धारणाओंका सृजन कर लिया है। अपनी मानी हुई कसौटीके आधारपर ऐसा करके जहाँ एक ओर हमने अपनी हानि की है, वहाँ दूसरी ओर श्रीराधा-कृष्णविषयक प्राचीन-अर्वाचीन ग्रन्थों एवं कवि-लेखकोंके प्रति अन्याय भी किया है !

साहित्यके अध्ययन करनेवालोंकी भाँति ही साहित्य-प्रणेताओंके समक्ष भी श्रीराधाकृष्णके स्वरूप एवं उनकी लीलाओंके सम्बन्धमें एक सैद्धान्तिक मापदण्ड न रहनेके कारण सूरदास आदि कुछ भक्तकवियोंको छोड़कर शेष कवि, जिन्होंने श्रीराधा-माधवको अपने काव्यका विषय बनाया, बहुत कुछ पथ भूल गये हैं। अतः श्रीराधा-कृष्णविषयक साहित्यके प्रणेता कवि एवं लेखकोंसे मेरी विनम्र प्रार्थना है कि वे इस ग्रन्थमें प्रस्तुत किये गये श्रीराधा-कृष्णके पवित्रतम स्वरूप एवं सम्बन्धको अपने सामने रखकर साहित्यका सृजन करेंगे तो ऐसा सात्त्विक साहित्य प्रकट होगा, जो

भक्तिक्षेत्रकी तो अमूल्य निधि होगी ही, समाजके पतनोन्मुख नैतिक स्तरको भी उन्नत करनेमें सक्षम होगा।

चौथे प्रकरणका शीर्षक है—**'भावराज्य और लीलारहस्य'** । इसमें भावराज्यकी लोकोत्तर महिमा, ज्ञानराज्यकी सीमाको पार करनेपर भावराज्यमें प्रवेशके लिये अधिकारकी प्राप्ति, भावराज्यमें प्रिया-प्रियतमका नित्य लीलाविहार, भगवदवतारका रहस्य तथा श्रीकृष्णकी माखन-चोरी, चीरहरण एवं रासक्रीडा आदि मधुरातिमधुर, किंतु तर्कशील व्यक्तियोंको भ्रमित कर देनेवाली विविध दिव्य लीलाओंका मर्म बड़ी ही सुन्दर एवं सुबोध शैलीसे समझाया गया है, जिसे पढ़कर उनके सम्बन्धमें अज्ञानवश की जानेवाली अनेकानेक शंकाओंका सम्यक्तया निराकरण हो जाता है। रासलीलाके सम्बन्धमें प्राचीन आचार्यों एवं अन्य महानुभावोंके कई मत हैं। कुछ लोग इसे आध्यात्मिक रूपक मानते हैं, कोई-कोई इसे कामविजयकी लीला कहते हैं—इत्यादि। इन सभी मतोंकी समीक्षा करते हुए श्रीभाईजीने यह बतलाया है कि यह तो भगवान्‌का आत्मरमण—अपनी स्वरूपभूता श्रीगोपीजनोंके साथ रमण है, जिसके द्वारा प्रभुने यह दिखलाया है कि लोक-वेद—सबका त्याग करके उनपर अपने-आपको न्योछावर कर देनेवाले भक्तोंको किस प्रकार वे अपना स्वरूपदान करते हैं, सर्वथा उनके अधीन हो जाते हैं। श्रीकृष्णका यह रमण वस्तुतः 'स्वरूप-वितरण' ही है। इसी प्रसंगमें यह भी बताया गया है कि भगवान् श्रीकृष्णका सम्पूर्ण चरित्र परमोज्ज्वल एवं आदर्श होनेपर भी उनकी सभी लीलाएँ अनुकरणीय नहीं हैं तथा सबका अनुकरण करने जाकर मनुष्य पतनके महान् गर्तमें गिर जायगा। भक्त-शिरोमणि सम्राट् परीक्षित्‌के द्वारा रासलीलाके प्रसंगमें शंका उठाये जानेपर श्रीमद्भागवतके वक्ता स्वयं शुकदेव मुनि इस प्रकारकी चेतावनी बहुत पहले हमलोगोंको दे गये हैं।

पाँचवें प्रकरणका शीर्षक है—**'प्रेमतत्त्व'** । इसमें प्रेमतत्त्वकी बड़ी ही मार्मिक एवं अधिकारपूर्ण व्याख्या की गयी है तथा प्रेमके रति, प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव एवं महाभाव—इन स्तरों एवं उनके अवान्तर भेदोंको बड़े ही सुन्दर ढंगसे समझाया गया है । 'प्रेम' शब्दका प्रयोग आजकल लौकिक पति-पत्नीके पारस्परिक सम्बन्धके अर्थमें होने लगा है; कहीं-कहीं तो अवैध आसक्तिको भी 'प्रेम' कहा जाता है, जिससे इस शब्दकी सात्त्विकता एवं पवित्रता नष्ट हो गयी है और लोग 'प्रेम' नामसे ही नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं । इस ग्रन्थके अध्ययनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि पति-पत्नीके लौकिक सम्बन्धका नाम 'प्रेम' नहीं 'काम' है, जिसका आधार है भोग—निजेन्द्रिय-तृप्ति, जब कि प्रेमका आधार है त्याग—प्रेमास्पद-सुखैक-लालसा । भगवत्प्रेमी इस लोक और परलोकके भोगोंसे ही नहीं, मोक्षतकके सुखसे बहुत पहले ऊपर उठ जाता है । इसीलिये प्रेमियोंने भगवत्प्रेमको अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—इन चारोंसे ऊँचा पंचम पुरुषार्थ माना है । इसमें स्व-सुख-वासनाका लेश भी नहीं होता । इस प्रेमकी सर्वोच्च अभिव्यक्ति ही श्रीराधारानी हैं । भगवत्प्रेमकी प्राप्ति उत्कट चाहसे तथा भगवत्कृपासे ही सम्भव है, त्यागकी भित्तिपर ही प्रेमके दिव्य प्रासादका निर्माण होता है, प्रेमके लिये विषय-वैराग्यकी परम आवश्यकता है—इत्यादि विषयों पर भी इस प्रकरणमें अद्भुत प्रकाश डाला गया है ।

छठे प्रकरणका शीर्षक है—**'गोपांगना'** । प्रेमकी चरम परिणति श्रीगोपीजनोंमें ही हुई है । इन्हें प्रेमका मूर्तिमान् विग्रह कहें तो भी कोई अत्युक्ति न होगी । इसीलिये 'प्रेमतत्त्वके' अनन्तर ही 'गोपांगना' शीर्षक प्रकरणकी अवतारणा की गयी है । इस प्रकरणमें यह बताया गया है कि श्रीगोपांगनाएँ श्रीराधाकी ही अंशभूता अथवा कायव्यूहरूपा हैं । इनका एकमात्र कार्य है श्रीप्रियाप्रियतमका परस्पर मिलन कराना एवं दोनोंकी प्राणपणसे प्रेममयी सेवा करना । 'तत्सुखसुखित्वम्' ही इनका आदर्श है, जो प्रेमका मूलमन्त्र है । इसीलिये देवर्षि नारदने अपने भक्तिसूत्रोंमें इन्हींको भक्तिका सर्वश्रेष्ठ

आदर्श माना है—'यथा व्रजगोपिकानाम्' । जिनकी चरण-रजकी कामना जगत्पिता ब्रह्माने ही नहीं, उद्धव-जैसे भक्ताग्रगण्योंने की है, जिनका दर्जा भगवान्‌ने ब्रह्मा, शंकर, भगवान् संकर्षण, भगवती लक्ष्मीसे—यहाँतक कि अपनेसे भी ऊँचा बताया है—'न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः । न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥' उन श्रीगोपीजनोंकी महिमा क्या कही जाय । इन गोपीजनोंके सहस्रशः यूथ हैं और सखी, सहचरी, प्रियनर्मसखी, मंजरी, दूती आदि अनेकों भेद हैं । इन सबके स्वरूप, सेवा, प्रेम तथा गोपीभावकी साधना आदि अत्यन्त गूढ़ एवं रहस्यपूर्ण विषयोंकी बड़ी ही समीचीन एवं सांगोपांग व्याख्या इस प्रकरणमें की गयी है । इसी प्रसंगमें यह बताया गया है कि गोपीभावकी साधना केवल स्त्रियाँ ही कर सकती हों, ऐसी बात नहीं है । सुतरां इसके लिये स्त्रियोचित वेष सजनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । जो लोग ऐसा करते हैं, वे तो गोपीभावका एक प्रकारसे उपहास ही करते हैं । वस्तुतः स्त्री-पुरुषसम्बन्धकी तो कोई कल्पना ही नहीं है । यह तो एक पवित्रतम अप्राकृत भाव है, जो सर्वथा राग-गन्धसे शून्य है । स्वकीया एवं परकीया भावोंको लेकर भी साधनाक्षेत्रमें तथा साहित्यिक क्षेत्रमें श्रीराधा-माधवके पवित्रतम सम्बन्धके प्रति अनेक भ्रान्त धारणाएँ प्रचलित हैं । इस ग्रन्थमें स्वकीया और परकीयाभावका यत्र-तत्र जो विवेचन हुआ है, उसे दृष्टिमें रखकर श्रीराधा-माधव एवं गोपी-कृष्णके प्रेम-सम्बन्धके विषयमें विचार करनेपर हृदय उसकी पवित्रतम एवं उज्ज्वलतम आभासे उद्भासित हो उठता है ।

जिन स्फुट विषयोंका समावेश उक्त छहों प्रकरणोंमें नहीं हो सकता था, उन सबको एक अलग प्रकरणमें रखा गया है, जिसका शीर्षक है—**'प्रकीर्ण'** । यद्यपि यह अन्तिम प्रकरण है, किंतु सरसताकी दृष्टिसे यह अपने पूर्वके छः प्रकरणोंसे किसी भी प्रकार न्यून नहीं है ।

प्रत्येक प्रकरणके आदि और अन्तमें तथा कहीं-कहीं प्रकरणके बीचमें भी प्रतिपाद्य विषयके संग्राहक ग्रन्थकारके कुछ पद भी दे दिये गये हैं, जिनसे प्रकरणोंमें और भी सजीवता आ गयी है। इस प्रकार वर्तमान संग्रह व्रज-रस—मधुर-रसका एक अमूल्य आकर बन गया है। इन पंक्तियोंके लेखक (श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी)-की धारणाके अनुसार इस विषयपर ऐसा सर्वांगपूर्ण, सुगम, सरस और प्रामाणिक विवेचनात्मक ग्रन्थ कदाचित् किसी भी भाषामें आजतक नहीं लिखा गया है। संस्कृत-साहित्यमें अवश्य ही इस प्रकारकी सामग्री प्रचुररूपमें उपलब्ध है; परंतु वह यत्र-तत्र इतनी बिखरी पड़ी है कि उसके मर्मको हृदयंगम करते हुए उसका सम्यक्तया विश्लेषण तथा उपयोग करके समन्वित रूप देना श्रीभाईजी-जैसे पुरुषका ही काम था। मेरी समझसे इसमें भक्तिशास्त्रका मर्म एवं व्रज-साहित्यका निचोड़ बहुत कुछ आ गया है। इसमें जो कुछ लिखा गया है, वह वैष्णव-शास्त्र एवं रसिकसम्प्रदायके सिद्धान्तोंद्वारा पूर्णतया सम्मत है। मेरी अपनी मान्यता एवं विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थ श्रीराधाकृष्णके उपासकोंके लिये अनुपम पथ-प्रदर्शकका काम करेगा। इस ग्रन्थके मनोयोगपूर्वक अध्ययन-मननसे एवं इसमें वर्णित सिद्धान्तोंको अपने जीवनमें उतारनेसे मनुष्य परम दुर्लभ मोक्षको भी लघु बना देनेवाले भगवत्प्रेमके मार्गमें अनायास ही अग्रसर हो सकता है।

मधुरभावकी साधना करनेवालोंके लिये भी यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। मधुरभावकी उपासनाके नामपर व्यक्तिगत जीवनमें तथा समष्टिरूप समाजमें बहुत गंदगी आयी है और आनेकी सम्भावना है। कारण, मधुर रसका 'पारा' यदि विधिपूर्वक सेवन न किया गया तो वह फूट पड़ता है और सारे शरीर और मनको क्षत-विक्षत कर डालता है। इस ग्रन्थमें प्रस्तुत मधुरभावकी उपासनाके सिद्धान्तोंको पकड़कर चलनेवालेका नैतिक स्तर निरन्तर उन्नत होता जायगा और वह सांसारिक भोगोंके दलदलसे, नीच कामके चंगुलसे निकलकर विशुद्ध प्रेम-राज्यमें प्रवेश कर पायेगा।

अन्तमें यह निवेदन है कि इस ग्रन्थमें संगृहीत सामग्री ३५ वर्षोंके सुदीर्घकालमें समय-समयपर तथा भिन्न-भिन्न अवसरोंपर लिखी होनेके कारण इसमें यत्र-तत्र पुनरुक्तिका दोष अवश्य दृष्टिगोचर होगा, यद्यपि जहाँ-जहाँ वह ध्यानमें आया है, उसके निराकरणका प्रयास किया गया है जिससे मूल लेखोंका रूप कुछ विकृत भी हुआ है। किंतु लेखोंमें निरूपित विषयोंके परस्पर सम्बद्ध होनेके कारण कहीं-कहीं उन पुनरुक्तियोंको उसी रूपमें रखना अनिवार्य हो गया है। साथ ही प्रतिपाद्य विषयको हृदयंगम करानेके लिये कहीं-कहीं एक ही बातको बार-बार दोहराना आवश्यक भी होता है। फिर इसमें आये हुए प्रसंग तो इतने मार्मिक, भावपूर्ण, रोचक एवं हृदयग्राही हैं कि उन्हें जितनी बार पढ़ा जायगा, वे हृदयको उतना ही पवित्र एवं भगवद्भावसे पुष्ट करेंगे। इन सब दृष्टियोंसे ये सब पुनरुक्तियाँ क्षम्य ही नहीं, अपितु सहृदय सज्जनोंकी दृष्टिमें गुणाधायक ही सिद्ध होंगी। हाँ, यह बात अवश्य ध्यानमें रखनेकी है कि जो सामग्री इस ग्रन्थमें संकलित की गयी है, वह 'कल्याण' की ३५ वर्षोंकी फाइलोंमें विभिन्न रूपोंमें बिखरी पड़ी थी। उसे जहाँ-तहाँसे छाँटकर एकत्रित करने, प्रकरणोंमें बाँटने, शृंखलाबद्ध करने आदिमें सम्भव है, अपने प्रमादवश—अज्ञानवश बहुत-सी भूलें रह गयी हों। यदि ग्रन्थकार स्वयं इस कार्यको सम्पन्न करते तो निश्चित है, इसका और ही रूप हमारे सामने उपस्थित होता; किंतु स्वयं ग्रन्थकारको न इतना अवकाश था और न रुचि ही कि वे इन स्थलोंको पुनः पढ़ते और परिमार्जित एवं शृंखलाबद्ध करते। इस संग्रहको छापनेकी अनुमति भी उन्होंने हमलोगोंकी रुचिको रखनेके लिये ही बड़े संकोचसे दी है। ऐसी दशामें, इस ग्रन्थमें यदि कोई त्रुटि रह गयी है तो वह इन पंक्तियोंके लेखककी ही माननी चाहिये।

अन्तमें 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये' इस भावसे इस संग्रहको हम श्रीनिकुंजेश्वर तथा श्रीनिकुंजेश्वरीके पावन चरणोंमें भक्तिपूर्वक निवेदित करते हैं; क्योंकि इन पंक्तियोंके लेखक (श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी)-का विश्वास है कि इस ग्रन्थमें

जो कुछ लिखा गया है, उन्हींकी प्रेरणासे लिखा गया है, अथवा यों कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी कि उन्होंने ग्रन्थकारके हृदयमें स्थित होकर लिखा है।

प्रस्तुत ग्रन्थमें व्रज-रसका सिद्धान्तपक्ष उपन्यस्त किया गया है। लीलापक्षका इसमें विशेष रूपमें समावेश नहीं है।

अन्ततोगत्वा हमारी श्रीभाईजीसे विनीत प्रार्थना है कि वे हमारी प्रसन्नताके लिये ही प्रस्तुत ग्रन्थपर विहंगम दृष्टि डालकर यदि उन्हें ऐसा लगे कि इस विषयका कोई आवश्यक अंग छूट गया है तो उसे कृपया पूरा कर दें, जिससे अगले संस्करणमें उसे जोड़ दिया जाय ! श्रीराधाकृष्णार्पणमस्तु।

गोरखपुर — भक्तोंकी चरण-रज—

श्रीराधाष्टमी — **चिम्मनलाल गोस्वामी**

सं. २०१८ वि. — एम० ए०, शास्त्री

'पदरत्नाकर' में प्रकाशित निवेदन

दो शब्द

भगवान् श्रीराधा–माधवकी दिव्यातिदिव्य परम मधुर लीला अप्राकृत जगत्में नित्य–निरन्तर चलती रहती है। उसका कहीं न आदि है, न अन्त। जिस प्रकार श्रीराधा–माधव नित्य सच्चिदानन्दमय हैं, उसी प्रकार उनकी लीला भी नित्य सच्चिदानन्दस्वरूपा है। वह देश और कालकी सीमासे परे है। श्रीराधा–माधवकी विशेष कृपासे ही किसी विरले भाग्यवान् भागवत–जनके मानस–पटलपर उन नित्य नवीन, नित्य वर्धनशील, नित्य सरस लीलाओंका यत्किंचित् प्रकाश होता है। वे लीलाएँ इतनी मधुर हैं कि वाणीद्वारा उनका वर्णन सम्भव ही नहीं। उनका माधुर्य मूकास्वादनवत् केवल अनुभवगम्य है। हृदय उस दिव्य रसमें सराबोर होकर स्वयं रसमय बन जाता है। परंतु जिस प्रकार समुद्रकी तरंगें समय–समयपर कूलसे टकराती हैं और उस समय वे मुखरित होती हैं तथा तटवर्ती जनोंको उनका गम्भीर शब्द सुनायी देता है, उसी प्रकार जिनका हृदय प्रेम–पयोनिधिकी उत्ताल तरंगोंका क्रीड़ास्थल बन जाता है, उनकी वे भावतरंगें भी कूलसे टकराकर कभी–कभी मुखरित हो उठती हैं और जगत्के बहिर्मुख लोगोंको भी उनके दिव्य उद्गारोंके रूपमें उनके उस हृदय–स्थित रसके कतिपय सीकर उपलब्ध करनेका सौभाग्य प्राप्त हो जाता है और उनका अन्तःकरण क्षणभरके लिये उस रससे आविष्ट होकर रसमयताका अनुभव करने लगता है। प्रस्तुत प्रकाशन ऐसे ही कतिपय सीकरोंका संग्रह है, जो समयसमयपर भगवत्प्रेरणासे ही परम श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके माध्यमसे प्रकट होते रहे हैं। जो महानुभाव इन सीकरोंका एक साथ आस्वादन करना चाहते हैं, उनके सौकर्यके लिये इन वाङ्मय सीकरोंका पुस्तकरूपमें संग्रह किया गया है। इस मधुमय संग्रहको प्रेमी पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत कर यह क्षुद्रजन अपनेको धन्य मानता है। भगवान्की ओर बढ़नेके लिये यह परमावश्यक है कि मनुष्य उन्हें दीन होकर पुकारे, अपनी दुर्बलताओंको रो–रोकर उनके सामने रखे, अपनी अपात्रताको हृदयंगम करते हुए उनसे कृपाकी याचना करे, उनकी कृपापर विश्वास रखे, उनकी दयालुताको समझे,

कभी निराश न हो, संसारकी असारतापर विचार करे, अपने आचरणको भगवान्‌के अनुकूल बनानेका अथक प्रयत्न करे तथा अपने अंदर दैवी-सम्पदाका अर्जन करे और अपने पवित्र जीवनके शुद्ध कल्याणमय आचार-विचारके द्वारा जनसमूहके सामने ऐसा आदर्श रखे, जिससे अधिक-से-अधिक नर-नारी भगवान्‌की ओर अग्रसर हो सकें। इस संग्रहका बार-बार मनन करनेपर पाठकोंको इन सभी दिशाओंमें प्रचुर प्रकाश प्राप्त होगा और अपने जीवनको भगवन्मुखी बनानेमें पर्याप्त सहायता मिलेगी।

प्रेमीजनोंकी चरणरज—**चिम्मनलाल गोस्वामी**

'परमार्थका सरगम' में प्रकाशित निवेदन

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन

संसारमें मानव-जन्मको अत्यन्त दुर्लभ माना गया है, ऊँच-नीच कर्मोंके अनुसार चौरासी लाख योनियोंमें भटकते-भटकते जब यह जीव श्रान्ति और क्लान्तिका अनुभव करता है, तब इसके अकारण-हितू करुणा-वरुणालय प्रभु उसे मनुष्य-योनि देते हैं—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

—इसीलिये कि जीवका उद्धार इसी योनिमें सम्भव है। ऊपरकी देवादि-योनियाँ सुख-प्रचुर तथा नीचेकी तिर्यगादि योनियाँ दुःख-बहुल एवं तमःप्रधान होनेके कारण इनमें जीव अपने जीवनके उद्देश्य—भगवत्प्राप्तिको भूला रहता है। भगवान्‌ने विवेक-

बुद्धि केवल मनुष्यको ही दी है, अतः मनुष्य ही हिताहितका विचार करके अपना हित-साधन अर्थात् भगवत्प्राप्ति अथवा मोक्षके लिये प्रयत्न कर सकता है। उपर्युक्त कारणोंसे इतर योनियोंमें यह सम्भव नहीं होता। इसीलिये मनुष्ययोनिको संतोंने—

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा।

—कहा है। इसे पाकर भी जो अपने ध्येयको नहीं प्राप्त कर लेता, उससे बढ़कर मूर्ख—आत्मघाती कौन होगा।

जीवन एक संगीत है। स्वर एवं ताल-लयमें परस्पर संवादिता होनेपर ही 'संगीत' नामकी चरितार्थता होती है। इनकी विसंवादिताको ही 'बेसुरापन' या 'बेतालापन' कहते हैं। इसीलिये किसी संगीतप्रेमी कविने स्वर-ज्ञानसे शून्यको 'असुर' और ताल चूकनेवालेको 'बेताल' की संज्ञा दी है—सुर नहिं जानै 'असुर' है, बिना ताल 'बेताल'। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, सामाजिक, पारिवारिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक—सभी पक्षोंकी समस्वरताका नाम ही 'जीवन' है।

इस विषयको ठीक तरहसे हृदयङ्गम करनेके लिये स्वरोंका भी यत्किंचित् विवेचन आवश्यक है। कहते हैं—देवाधिदेव महादेवने पहले प्रणवध्वनि की। इस प्रणवध्वनिसे स्वर सात भागों में विभक्त हुआ, इन्हीं सात भागोंको 'सप्त स्वर' कहते हैं। उनके नाम क्रमशः ये हैं—(१) षड्ज, (२) ऋषभ, (३) गान्धार, (४) मध्यम, (५) पञ्चम, (६) धैवत और (७) निषाद। इन्हींको सांकेतिक भाषामें सा, रि, ग, म, प, ध, नि कहते हैं। इनके आलापमें क्रमशः चढ़ाव-उतार होता है। अर्थात् षड्जसे निषादतक स्वर क्रमशः ऊँचा होता जाता है और निषादसे षड्जतक नीचा। इन सात स्वरोंके समूहका नाम है 'सप्तक'। निषादसे आगे बढ़नेपर पुनः इन्हीं सप्त स्वरोंका उसी क्रमसे आलाप होता है। इन सात स्वरोंको 'तार-सप्तक' कहते हैं और षड्जसे नीचे उतरनेपर उसी क्रमसे इन स्वरोंका आलाप करनेपर इनका नाम हो जाता है—'मन्द्र-

सप्तक' । बीचके सप्तकका नाम है—'मध्य-सप्तक' । मध्य-सप्तकके आगे षड्जका नाम है—'तार-षड्ज'। इसको मिलाकर कुल आठ स्वर होते हैं।

षड्जका निरुक्तगत अर्थ है—'षड्भ्यो जायते इति ।' इसका उच्चारण नासा, कण्ठ, उरःस्थल, तालु, जिह्वा और दाँत—इन छः भागोंसे होता है। इसीसे इसका नाम 'षड्ज' पड़ा। दूसरे स्वरका नाम है 'ऋषभ' । संस्कृतमें 'ऋषभ' बैलको कहते हैं। बैलकी ध्वनिसे मिलता-जुलता होनेके कारण इसका नाम 'ऋषभ' हुआ। तीसरे स्वरका नाम है 'गान्धार' । भरत (नाट्यशास्त्रके रचयिता भरत)-के मतानुसार इसका आलाप करते समय वायु नाभिसे उठकर कण्ठ और मस्तकतक जाती है। इन समस्त स्थानोंसे नाना प्रकारकी गन्ध निकलती है, इसीलिये इस स्वरका नाम 'गान्धार' हो गया। चौथे स्वरका नाम है 'मध्यम' है। इसकी अपेक्षा तीन स्वर नीचे हैं और तीन ऊँचे हैं। इसकी सबके मध्यमें स्थिति होनेके कारण ही इसे 'मध्यम' कहते हैं। क्रमकी दृष्टिसे पाँचवाँ होनेके कारण ही पाँचवें स्वरका नाम हो गया 'पञ्चम' । छठे स्वरका नाम है—'धैवत' । 'धीमतामयम्' इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'धीमत्' शब्दसे 'अण्' प्रत्यय लगनेपर 'धैमत' शब्द बनता है और 'म' को 'व' आदेश हो जानेपर इसका रूप 'धैवत' हो जाता है। यह स्वर बुद्धिमानों (गायनकुशलों) का है। सातवें और अन्तिम स्वरका नाम है—'निषाद' । 'निषीदन्ति षड्जादिस्वरा यत्र'—इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'निषाद' में पहले छहों स्वरोंका अन्तर्भाव होनेके कारण इसे 'निषाद' कहते हैं। प्रत्येक संगीतके विद्यार्थीको 'तार-सप्तक' के षड्जको मिलाकर क्रमशः आठ स्वरोंकी साधना करनी पड़ती है। उदाहरणके लिये नीचे पीलू रागकी स्वर-साधनाका संक्षिप्त विवरण शास्त्रीय मतानुसार दिया जा रहा है —

राग पीलू

मतः पीलूरागः सकलमृदुतीव्रस्वरयुतो मृदुर्गान्धारोंऽशः सहचरति तीव्रस्तु निरिह।

प्रसिद्धः सर्वत्र प्रचुरतरसंचाररुचिरः सदा गेयः सर्वाभकतरुणवृद्धैः परिचितः॥

—रागकल्पद्रुम

इस रागकी उत्पत्ति काफी ठाटसे मानी जाती है। यद्यपि गुणी गायकोंने इसकी गणना क्षुद्र रागोंमें की है, तथापि यह मानना ही होगा कि यह राग आबाल–वृद्ध सभीको समानरूपसे रञ्जक है। यह राग मिश्र रागोंमें अति मधुर है तथा कुशल गायकोंके द्वारा रञ्जनके हेतु भैरवी, भीमपलासी, गौरी आदिका मिश्रण करके गाया जाता है। कलाकार अपने सप्तकके बारहों स्वरोंको बड़ी कुशलतासे इसके उपयोगमें लाते हैं। तीव्र स्वरोंका प्रयोग अधिकतर अवरोहणमें ही किया जाता है।

इस रागका वादी स्वर 'गान्धार' और संवादी स्वर 'निषाद' है। इसके गानेका समय यद्यपि दिनका तृतीय प्रहर माना गया है, तथापि रागकी मनोरञ्जकताके कारण यह राग सभी समय गाया जाते सुना गया है।

राग पीलू, ताल तिताला, मध्य लय, मात्रा १६

स्थायी

			ध प म ग
			की ऽ र अ
म — म म	प — म ग	म ध प —	प ध सां सां
हो ऽ सु न	हौं ऽ न बि	र हि नी ऽ	तु म स च
नि सां ध प	ग म नि ध	प म रे सा	
साँ ऽ व र	दा ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ स	
३	×	२	०

अन्तरा

			ग म ध नि
			जि यौं ऽ अ
सां नि सां सां	ध नि रे सां	ध प ग म	ध ध ध ध
ब हुँ पु नि	दे ऽ त सँ	दे ऽ सौ ऽ	तु म त जि
ग्म त्रिध ग्म ग्म	ग म नि ध	प म रे सा	
आ ऽऽ येऽ ऽऽ	साँ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ स	
३	×	२	०

जीवनकी जो विभिन्न धाराएँ हैं, वे ही राग–रागिनियाँ हैं। प्रत्येक मानव विभिन्न राग–रागिनियोंका मूर्त रूप है। जिस प्रकार एक कुशल गायक विविध राग–रागिनियोंमें गाता है, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपना–अपना अलग राग अलापता रहता है। देखना यही है कि वह उस रागके स्वरूपको ठीक–ठीक निबाह पाता है या नहीं।

जो उसे निबाह पाता है, वही कुशल गायक है और जो उसके स्वरोंको बिगाड़ देता है, विकृत रूपमें उनका प्रयोग करता है, वह भोंड़ा कहलाता है। शास्त्रीय पद्धतिके अनुसार जो ठीक गाता है, उसका मन जैसे प्रफुल्लित हो उठता है, उसी प्रकार जो मानव

अपने जीवनको समस्वर बना लेता है, उसीका जीवन सफल माना जाता है। विश्वमें उसीका अस्तित्व सार्थक होता है। यों तो साँस सभी लेते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीताके द्वितीय अध्यायके अन्तमें वर्णित 'ब्राह्मी स्थिति' अथवा 'भगवत्प्रेम' के अनन्त, अपरिसीम, चिन्मय महासमुद्रमें सदाके लिये निमग्न हो जानेमें ही मानव-जीवनकी सफलता शास्त्रों एवं संतोंने मानी है। इसी उद्देश्यकी प्राप्ति करानेके लिये इस पुस्तिकामें प्रकाशित आठ कथा-कहानियाँ संकलित की गयी हैं। 'सरगम' के आठ स्वरोंके साधनेसे जैसे गायनमें कुशलता आती है, उसी प्रकार इन आठों कथा-कहानियोंका पठन, श्रवण, मनन एवं तदनुरूप जीवन बनानेसे यह जीवन संगीतमय हो सकता है। इसीलिये इस लघु संग्रहको 'परमार्थका सरगम' नाम दिया गया है। यदि मनुष्य इस 'सरगम' को जीवनभर साधता रहे और इसके फलस्वरूप जीवन-संगीतका एक राग भी ठीक बैठ जाय तो उसका जीवन सफल हो जाय। संग्रहके अन्तमें ३३ पद भी जोड़ दिये गये हैं, जिनका श्रवण, मनन एवं गायन भी उपर्युक्त उद्देश्यकी सिद्धिमें सहायक होगा। इनमेंसे संख्या २६ से ३१ तकके पदोंका किसी विशेष कारणसे अंग्रेजी अनुवाद भी दिया जा रहा है। समयाभावसे अन्य पदोंका अंग्रेजी अनुवाद नहीं किया जा सका। परंतु मेरा निश्छल विश्वास है कि जो अंग्रेजी भाषा-भाषी लोग मूलको न समझ सकनेके कारण केवल इन छः पदोंके अनुवादका नियमित रूपसे पाठ करेंगे, उन्हें भी अवश्य पारमार्थिक लाभ होगा। किमधिकं सहृदयेषु –

गोरखपुर, विनीत

कार्तिक शु० १५, **चिम्मनलाल गोस्वामी**

सं० २०२२ वि०

(परम पूज्य श्रीराधाबाबाकी प्रेरणासे विशेष कारणवश पूज्य श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीने परम पूज्य भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारद्वारा रचित इन पदोंका अंग्रेजी अनुवाद किया था। पूज्य श्रीगोस्वामीजीके वचन हैं —'मेरा निश्छल विश्वास है कि जो अंग्रेजी भाषा-भाषी लोग मूलको न समझ सकनेके कारण केवल इन छः पदोंके अनुवादका नियमित रूपसे पाठ करेंगे, उन्हें भी अवश्य पारमार्थिक लाभ होगा।' अतः पाठकोंके लाभार्थ इन पदोंको अंग्रेजी भाषान्तर-सहित प्रकाशित किया जा रहा है। — **सम्पादक**)

[जिन्हें संगीतका अभ्यास हो, वे यदि निम्नलिखित पदोंको यथानिर्दिष्ट राग और तालमें गायेंगे तथा पद सं० १ को निषादसे, २ को तारसप्तकके षड्जसे, ३ को षड्ज से, ४ को ऋषभसे, ५ को गान्धारसे और ६ को मध्यमसे प्रारम्भ करेंगे तो उन्हें विशेषरूपसे भगवद्रसकी उपलब्धि होगी। — **पूज्य श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी**]

(१)

(राग जंगला—कहरवा)

हे राधे ! बृषभानुनन्दिनी मम मन-नन्दिनि सुषमागार।
तेरी परम सुखद सुस्मृति ही है मेरी जीवन-आधार॥
कनक-गौर अनुपम वर तनपर नील वसन नव रहा विराज।
अङ्ग-अङ्ग अति मधुर मनोहर सजे सकल विधि सुन्दर साज॥
वदन-सरोज प्रफुल्ल, सौरभित, नवपीयूष मधुर मकरन्द।
रहते सदा अतृप्त पान-रत मधुलोभी मम नयन-मिलिन्द॥
रासेश्वरि, रस-रास -विलासिनि, मनमोहिनि, निर्मल सुखसार। तेरी०
बिम्बाधर अति मधुर सुधा-रस-भरित, ललित शुचि गोल कपोल।

रत्न–द्युति–भासित, श्रुति–रञ्जन, परम सुशोभित कुण्डल लोल॥
कुटिल नयन कज्जल–अनुरञ्जित, अति विशाल, रसभरे ललाम।
बंकिम भृकुटि, पञ्चशर–शर–सी सुघड़ नासिका शोभाधाम॥
परमाह्लादिनि ह्लादिनि श्यामा प्रेम–सुधा–रस–उदधि अपार॥ तेरी०
मधुकर–कृष्ण मनोहर चिक्कण चिकुर सुशोभित वेणि अनूप।
सुमन सुगन्धित गुँथे मनोरम, मणिमय मुकुट, विलक्षण रूप॥
नित नव अनुरागिनि, बड़भागिनि, भूषण विविध विराजित अंग।
वक्ष उतुंग कञ्चुकी–शोभित, शीश चूनरी मोहन रंग॥
चिबुक मनोहर, कम्बु–कण्ठ कमनीय, कुसुम–मुक्ता–मणिहार। तेरी०
मन्द उदर रेखात्रय–राजित, नाभि गभीर, मधुर, अभिराम।
कृशकटि सुन्दर किङ्किणि शोभित, कर–पद मेंहदी रची सुठाम॥
सकल कला निधि, गुणनिधि, गुण–वर्णन–अक्षम श्रुति शारद–शेष।
मन्मथ–मन्मथ–मानस–मन्थिनि सदा सुहागिनि सुन्दर वेश॥
नित्य निकुञ्जेश्वरि नव–कुञ्ज–विहारिणि करती नित्य विहार॥ तेरी०

Says Śrī Kṛṣṇa :—

O Rādhā, Vṛṣabhānu's Daughter, the delight of my mind and the abode of exquisite splendour, your blessed thought alone, the supreme source of felicity, is the mainstay of my life. Your incomparably excellent golden yellow form looks graceful in or ever new azure attire. Embellishments charming in every way have found a

befitting place on each of your most lovely and heart-stealing limbs. Your face is a full-blown lotus emitting fragrance and filled with nectar-like luscious honey (in the shape of comeliness) which never grows stale. Black bees in the form of my eyes, which are greedy of honey, ever remain engaged in sucking it and never feel sated. O deity presiding over the Rāsa Dance and revelling in the blissful Rāsa, soul-captivating and the quintessence of untarnished joy, your blessed thought alone, the source of supreme felicity, is the mainstay of my life.

Your lips resembling a (ripe) Bimba fruit, are full of exceedingly sweet nectarean bliss and your cheeks are lovely, bright and round. Your dangling ear-rings, lit up by the splendour of jewels and heightening the charm of your ears, appear most graceful. Your eyes with sidelong glances, their edges tinted with collyrium, are extraordinarily large, full of charm and beauteous. Your curved eye-brows and shapely nose resembling the shaft of love-god are an abode of grace. You, O supremely delighting Syāmā, my Enrapturing Energy, and a boundless ocean of nectarean sweetness in the form of Love, your blessed thought alone, the source of supreme felicity, is the mainstay of my life.

Your capitvating sleek tresses, black as the black bee, look most graceful in the form of a peerless braid, strung with fragrant flowers; a fascinating crown of gems adorns your head; all these endow you with an unsurpassable charm. Overflowing with a ever-freshening love, you are blessed with a rare good fortune and your limbs are decked with various ornaments. Your projecting breasts are graced

with a brassiere and Your head is covered with a Chunri (a speckled cloth of entrancing hue). Your chin captivates the mind and your conch-shaped neck is adorned with lovely wreaths of flowers and necklaces of pearls and gems. Your blessed thought alone, the source of supreme felicity, is the mainstay of my life.

Your thin belly graced with three folds and your deep navel are (both) enchanting and delightful. A beautiful ornament with tiny bells adorns your slender waist and your hands and feet are artistically coloured with the paste of Menhdi leaves. You are the repository of all fine arts and a mine of virtues; (even) the Vedas Śāradā (the goddess presiding over speech) and Śeṣa (the thousand-headed serpent-god) are incapable of recounting your excellences. You stir the mind even of Śrī Kṛṣṇa (myself, who churn the mind of Cupid); you ever enjoy the love of your Divine Spouse (myself) and are dressed in an attractive garb. O Goddess eternally presiding over the inner arbours of Bṛndāban, fond of sporting in ever-newbours, you remain ever engaged in pastimes. Your blessed thought alone, the source of supreme felicity, is the mainstay of my life.

* * *

(२)

(राग नट—तीन ताल)

नवकिशोर नटवर मुरलीधर मधुर मयूर–मुकुटधर लाल।
कटि पट पीत, करधनी कूजित, विकट भृकुटि, मधु नयन विशाल॥
अतुलनीय सौन्दर्य निकेतन द्विभुज, कण्ठ मणि–मुक्ता–माल।

गोल कपोल अरुण नीलाभायुत, गोरोचन–तिलक सुभाल॥
भूषण–भूषण अङ्ग ललित अति, तन त्रिभङ्ग, त्रिभुवन–मादन।
मुख शरदिन्दु–सुभग सुषमानिधि राधा–तन–मन–सुख–साधन॥
देख रूप निज हुए चमत्कृत मोहन मन्मथ–मन्मथ श्याम।
जाग उठा तुरंत मनमें शुचि निज–सौन्दर्यास्वादन–काम॥

Holding a flute in his hands, the sweet juvenescent Darling of Nanda, the foremost of dancers, dons (on his head) a coronet adorned with the plume of a peacock. He has a yellow cloth about His loins encircled with a tinkling zone, has curved eyebrows and large attractive eyes. Having a pair of arms which are an abode of incomparable charm, he is adorned with a necklace of gems and pearls and is distinguished by ruddy round cheeks with a bluish splendour. He wears a sacred mark of Gorochana (a bright yellow pigment prepared from the bile of a cow) on His excellent forehead. His most charming limbs serve as an embellishment to the ornaments themselves; while His body slanting at three places, viz, the neck, the waist and the legs, maddens (the denizens of) all the three worlds (the earth, the heaven and the region intervening them). His countenance, graceful as the autumnal (full) moon, is a storehouse of surpassing elegance and a source of delight to the body as well as to the mind of Śrī Rādhā. Śrī Kṛṣṇa (who wears a dark-brown hue), the enchanter of all, who churns the mind (even) of the god of love, was fascinated to behold his own form and a sublime longing to enjoy His own charm was forthwith awakened in his mind.

* * *

(३)

(राग पूर्वी—एक ताल)

रुचिर तपन–तनया–तट, निभृत नव निकुंज निकट,
निरतत नव नागर नट, लसत पीत पट ललाम।
सोभा निरुपाधि सजत, कोटि–कोटि काम लजत,
मुरलि अधर मधुर बजत, भजत संत नित निकाम।
मृग–मद रुचि तिलक भाल, चंचल लोचन बिसाल,
कुंचित कच कृष्न जाल, भृकुटि कुटिल कलाधाम।
करि–बर–मद–हरनि चाल, कटि किंकिनि–रव रसाल,
सुरभित बन–कुसुममाल, रत्नहार कंठ–धाम।
कुंडल–मनि–रत्न–चमक, सुचि कपोल गोल दमक,
अंग–अंग सुरभि गमक, रमा रमत वक्षधाम।
निपट सुखद खटपट–रति, लपट–झपट नटखट गति,
आकरषत तन–मन–मति, इंद्रिय झट बिना दाम।
मृदु मधु मुसुकान बिमल, मुनि–जन–मन हरत स–बल,
मिटत दुःख–दैन्य सकल, परम रम्य सुधाधाम।
रसमय रसराज सतत, रस–बरषा बरसत नित,
नेह–सिंधु उमगि अमित, बहे अन्य रस तमाम।
बाढ्यौ अति प्रेम–भाव, सब कें मन भर्‌यौ चाव,

भाव भयौ महाभाव, भूले सब नाम–धाम।

On the lovely bank of Yamunā (daughter of the Sun-god), adjoining an evergreen innermost arbour (of the transcendent Bṛndāban), is dancing the juvenescent accomplished divine Dancer (Śrī Kṛṣṇa), his charming yellow garment looking splendid. A supernal elegance clothes his person, putting to shame crores of Cupids. The flute on his lips is emitting sweet strains. Saints ever devoid of desire adore him. On his forehead shines a sacred mark of musk. His large eyes keep rolling. A mass of curly black hair adorns his head. His curved eyebrows are an abode of artistry. His gait takes away the pride of the best of elephants; skirting his waist an ornament with tiny bells emits a sweet jengling sound. A garland of fragrant sylvan flowers and a necklace of jewels are hanging round his neck. The gems and jewels of his ear-rings are casting their splendour. High bright round cheeks are full of glow. Every limb of His scatters forth its fragrance, and Ramā (the goddess of beauty and fortune) feels rejoiced on His bosom, Her (eternal) abode. His highly pleasing love for picking quarrels, his grapple for embrace and his frolicsome movements gratuitously attract one's body, mind, intellect and senses in no time. His gentle, sweet and guileless smile forcibly lures away the mind of ascetics; all one's sufferings and misery melt away (at its very sight), most delightful and a storehouse of nectar as it is. The ever-blissful Śrī Kṛṣṇa (Transcendent Joy personified) is pouring a shower of Bliss all the time, owing to which the ocean of love swelled immeasurably, carrying away all other delights. The feeling of love rose high, the hearts of all got filled with a longing; Love manifested itself in its original state of

Love supreme, all names and existence fell into oblivion.

* * *

(४)

(राग बिलास टोड़ी—तीन ताल)

कृपा जो राधा जू की चहियै।
तौ राधाबर की सेवा में तन–मन सदा उमहियै॥
माधव की सुख–मूल राधिका, तिन के अनुगत रहियै।
तिन के सुख–संपादन कौ पथ सूधौ अबिरत गहियै॥
राधा–पद–सरोज–सेवा में चित निज नित अरुझइयै।
या बिधि स्याम–सुखद राधा–सेवा सौं स्याम रिझइयै॥
रीझत स्याम राधिका रानी की अनुकंपा पइयै।
निभृत निकुंज जुगल सेवा कौ सरस सुअवसर लहियै॥

If you seek the grace of Rādhā, the divine, let ever your body and soul overflow with enthusiasm in the service of Rādhā's lord. (Since) Rādhikā is the fount of Madhava's joy, follow Rādhā's will and tread unceasingly the path of ministering to Her happiness without deviation. Let your mind ever remain engrossed in the service of Rādha's lotus feet. In this way captivate Syāma through service to Rādhā, which is the (only) source of felicity to him. No sooner does Syāma get captivated than you obtain the grace of Rādhikā Rānī and

secure the sweet and sublime opportunity to serve the blessed couple in the innermost arbours (of the transcendent Bṛndāban).

* * *

(५)

(राग भीमपलासी—तीन ताल)

हुआ समर्पण प्रभु–चरणोंमें जो कुछ था सब मैं–मेरा।
अग–जगसे उठ गया सदाको चिर–संचित सारा डेरा॥
मेरी सारी ममताका अब रहा एक प्रभुसे सम्बन्ध।
प्रीति, प्रतीति, सगाई सब ही मिटी, खुल गये सारे बन्ध॥
प्रेम उन्हींमें, भाव उन्हींका, उनमें ही सारा संसार।
उनके सिवा शेष कोई भी बचा न, जिससे हो ब्यवहार॥
नहीं चाहती जाने कोई, मेरी इस स्थितिकी कुछ बात।
मेरे प्राण–प्रियतम प्रभुसे भी यह रहे सदा अज्ञात॥
सुन्दर सु–मन सरस सुरभित मृदुसे मैं नित अर्चन करती।
अति गोपन, वे जान न जायें कभी, इसी डरसे डरती॥
मेरी यह शुचि अर्चा चलती रहे सुरक्षित काल अनन्त।
रहूँ कहीं भी, कैसे भी; पर इसका कभी न आये अन्त॥
इस मेरी पुजासे पाती रहूँ नित्य मैं ही आनन्द।
बढ़े निरन्तर रुचि अर्चामें, बढ़े नित्य ही परमानन्द॥

बढ़ती अर्चा ही अर्चाका फल हो एकमात्र पावन।
नित्य निरखती रहूँ रूप मैं उनका अतिशय मनभावन॥
वे न देख पायें पर मुझको, मेरी पूजाको न कभी।
देख पायँगे वे यदि, होगा भाव विपर्यय विमल सभी॥
रह नहिं पायेगा फिर मेरा यह एकाङ्गी निर्मल भाव।
फिर तो नये–नये उपजेंगे प्रियसे सुख पानेके चाव॥

My own self as well as all that was mine lies dedicated at the Lord's feet. All my dependence, treasured long, on the immobile as well as on the mobile creation has ceased for good. All my sense of mine centres now in the Lord alone. Affection, confidence and affinity have all ended; all knots have been loosened. Love is (now) confined in Him alone, sentiment to Him alone, and in Him alone remains located all the world. No one is left other than Him with whom to deal. I do not wish that anyone should know anything about this state of mine. (Nay) it should ever remain unknown even to the Lord, who is dearest as life to me. I always worship the Lord with the lovely, sweet, fragrant and tender flower of my cheerful mind in strict secrecy. I remain afraid lest He should come to know of it at any time. May this holy worship of mine remain wholly intact till eternity. Wherever and in whatever condition I may live, there should be no end to it. Let me alone ever continue to derive joy from this worship of mine. Let my fondness for worship incessantly grow, and so should my supreme joy ever increase. Let worship growing more and more intense be the only sacred reward of this worship. Let me ever continue to feast my eyes on his exceedingly soul-captivating form. But let him never have an

opportunity to see me nor my worship. If he (ever) comes to see it, my holy motive will get immediately polluted. This unalloyed motive of mine seeking no reciprocity will then cease to exist. It will, on the other hand, be followed by a repeated yearning to derive newer and newer joys from my beloved.

* * *

(६)

(राग बागेश्री—तीन ताल)

सौंप दिये मन–प्राण तुम्हींको, सौंप दिये ममता–अभिमान।
जब जैसे मन चाहे बरतो, अपनी वस्तु सर्वथा जान॥
मत सकुचाओ मन की करते, सोचो नहीं दूसरी बात।
मेरा कुछ भी रहा न अब तो, तुमको सबकुछ पूरा ज्ञात॥
मान–अमान, दुःख–सुखसे अब मेरा रहा न कुछ सम्बन्ध।
तुम्हीं एक कैवल्य मोक्ष हो, तुम ही केवल मेरे बन्ध॥
रहूँ कहीं, कैसे भी, रहती बसी तुम्हारे अन्दर नित्य।
छूटे सभी अन्य आश्रय अब, मिटे सभी सम्बन्ध अनित्य॥
एक तुम्हारे चरण–कमलमें हुआ विसर्जित सब संसार।
रहे एक स्वामी बस, तुम ही करो सदा स्वच्छन्द विहार॥

To you alone have I dedicated my mind and life-breath, to you I consigned the sense of possession and the ego-sense. Treating them as absolutely yours, use them as and when you will. Do not shy of

doing as you please (with them), do not think otherwise. Nothing whatsoever is left now which I can call my own: everything is fully known to you. Honour and dishonour, joy and sorrow are no longer my concern: You alone are my absolute emancipation (from the hold of matter), you alone constitute my bond. Wherever and in whatever condition I may live, I eternally abide in you. All other supports have now fallen, all transient relationships at your lotus feet alone, my lord, and you alone are (now) left; (as much) carry on your pastime ever at will.

श्रीहरिः

श्रीराधा–माधव–रस–सुधा

[षोडशगीत]

(अंग्रेजी भाषान्तर सहित)

NECTAREAN BLISS OF ŚRĪ RĀDHĀ-MĀDHAVA

(English rendering of sixteen Hindi songs composed by Śrī Hanumānprasād Poddār)

(Rendered into English by Śrī C. L. Goswāmī)

॥ श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः ॥

नम्र निवेदन

सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णका आनन्दस्वरूप या ह्लादिनी शक्ति ही श्रीराधाके रूपमें प्रकट है। श्रीराधाजी स्वरूपतः भगवान् श्रीकृष्णके विशुद्धतम प्रेमकी ही अद्वितीय घनीभूत नित्य स्थिति हैं। ह्लादिनीका सार प्रेम है, प्रेमका सार मादनाख्य महाभाव है और श्रीराधाजी मूर्तिमती मादनाख्य महाभावरूपा हैं। वे प्रत्यक्ष साक्षात् ह्लादिनी शक्ति हैं, पवित्रतम नित्य वर्द्धनशील प्रेमकी आत्मस्वरूपा अधिष्ठात्री देवी हैं। कामगन्धहीन स्वसुख–वांछा–वासना–कल्पना–गन्धसे सर्वथा रहित श्रीकृष्णसुखैकतात्पर्यमयी श्रीकृष्णसुखजीवना श्रीराधाका एकमात्र कार्य है—त्यागमयी पवित्रतम नित्य सेवाके द्वारा श्रीकृष्णका आनन्दविधान। श्रीराधा पूर्णतमा शक्ति हैं, श्रीकृष्ण परिपूर्णतम शक्तिमान् हैं। शक्ति और शक्तिमान्में भेद तथा अभेद दोनों ही नित्य वर्तमान हैं। अभेदरूप तत्त्वतः श्रीराधा और श्रीकृष्ण अनादि, अनन्त, नित्य एक हैं और प्रेमानन्दमयी दिव्यलीलाके रसास्वादनार्थ अनादिकालसे ही नित्य दो स्वरूपोंमें विराजित हैं। श्रीराधाका मादनाख्य महाभावरूप प्रेम अत्यन्त गौरवमय होनेपर भी मदीयतामय मधुर स्नेहसे आविर्भूत होनेके कारण सर्वथा ऐश्वर्य–गन्ध–शून्य है। वह न तो अपनेमें गौरवकी कल्पना करता है, न गौरवकी कामना ही। सर्वोपरि होनेपर भी वह अहंकारादिदोष–लेश–शून्य है। यह मादनाख्य महाभाव ही राधाप्रेमका एक विशिष्ट रूप है। राधाजी इसी भावसे आश्रयनिष्ठ प्रेमके द्वारा प्रियतम श्रीकृष्णकी सेवा करती हैं। उन्हें उसमें जो महान् सुख मिलता है, वह सुख श्रीकृष्ण 'विषय' रूपसे राधाके द्वारा सेवा प्राप्त करके जिस प्रेमसुखका अनुभव करते हैं, उससे अनन्तगुना अधिक है। अतएव श्रीकृष्ण चाहते हैं कि मैं प्रेमका 'विषय' न होकर प्रेमका 'आश्रय' बनूँ, अर्थात् मैं सेवाके द्वारा प्रेम प्राप्त करनेवाला 'विषय' ही न बनकर सेवा करके प्रेमदान करनेवाला भी बनूँ। मैं आराध्य ही न बनकर, आराधक भी बनूँ। इसीसे श्रीकृष्ण नित्य राधाके आराध्य होनेपर भी स्वयं उनके आराधक बन जाते हैं। जहाँ श्रीकृष्ण प्रेमी हैं, वहाँ श्रीराधा उनकी प्रेमास्पदा हैं और जहाँ श्रीराधा प्रेमिकाके भावसे

आविष्ट हैं, वहाँ श्रीकृष्ण प्रेमास्पद हैं। दोनों ही अपनेमें प्रेमका अभाव देखते हैं और अपनेको अत्यन्त दीन और दूसरेका ऋणी अनुभव करते हैं; क्योंकि विशुद्ध प्रेमका यही स्वभाव है।

रस–साहित्यमें अधिकांश रचनाएँ ऐसी ही उपलब्ध होती हैं, जिनमें श्रीकृष्ण प्रेमास्पदके रूपमें और श्रीराधा प्रेमिकाके रूपमें चित्रित की गयी हैं। इन सोलह गीतोंमें आठ पद ऐसे हैं, जिनमें श्रीकृष्ण राधाको अपनी प्रेमास्पदा मानकर उन्हें प्रेमकी स्वामिनी और अपनेको प्रेमका कंगाल स्वीकार करते हैं और उनके उत्तररूपमें आठ पद श्रीराधाके द्वारा कहे गये हैं, जिनमें श्रीराधा अपनेको अत्यन्त दीना और श्रीकृष्णको प्रेमके धनीरूपमें स्वीकार करती हैं। इस प्रकार इन सोलह पदोंमें प्रेमिगत दैन्य और प्रेमास्पदकी महत्ताका उत्तरोत्तर विकास दृष्टिगत होता है।

पाठक विशेष गहराईमें जाकर इन पदोंके भावोंको ग्रहण करनेका प्रयास करेंगे तो उन्हें पता लगेगा कि श्रीराधाकृष्णके प्रेमका स्वरूप कितना पवित्रतम, समर्पणपूर्ण तथा दिव्य है। इसी प्रेमको आदर्श मानकर प्रेममार्गके साधक अपना मार्ग निश्चय करें और श्रीराधा–माधवके चरणोंमें प्रेम प्राप्त करें, इसी हेतु इन पदोंका प्रकाशन किया गया है।

Om

Preface

None else than the Bliss aspect or the Enrapturing Potency (Hlādinī Śakti) of Lord Śrī Kṛṣṇa—who is all Truth, all Consciousness and all Bliss—is manifest in the form of Śrī Rādhā. Essentially speaking, Śrī Rādhā is no other than the unique eternal concretized phase of the purest Love for Lord Śrī Kṛṣṇa. Love is the essence of the said Enrapturing Potency and the quintessence of Love is known as the Mādana (maddening) Mahābhāva (Supreme Love), Śrī Rādhā being the living embodiment of the said Mahābhāva. She is the Hlādinī Śakti Herself in visible form; She is the very soul of, the Deity presiding over the purest, ever-growing love. The sole function of Śrī Rādhā, whose only purpose is to afford delight to Śrī Kṛṣṇa, nay, to whom the joy of Śrī Kṛṣṇa is Her very life, who has no trace of concupiscence in Her and who has absolutely no semblance even of a fancied trace of the seeking for self-gratification, is to bring joy to Śrī Kṛṣṇa through constant service of the purest type and full of self-abnegation. Śrī Rādhā is the fullest manifestation of the Divine Energy, while Śrī Kṛṣṇa is the most perfect Energizer. Energy and the Energizer are eternally different as well as non-different. In their non-different character Śrī Rādhā and Śrī Kṛṣṇa are essentially one without beginning or end, and, though ever identical, They eternally shine in two forms from time without beginning in order to enjoy Their transcendental Sport, which is full of love and joy. Śrī Rādhā's Love, known by the name of Mādana Mahābhāva, though exceedingly glorious, is altogether free from the least tinge of consciousness of divinity, born as it is of sweet affection consisting of the feeling of mineness. It has no consciousness of its greatness nor does it seek any recognition of its greatness. Though excelling all, it is altogether free from the least tinge of egotism and other such drawbacks. This Mādana Mahābhāva alone is a singular

phase of Rādhā's Love. It is with this sentiment that Śrī Rādhā waits upon Her most beloved Śrī Kṛṣṇa through love characteristic of a selfless lover. The immense joy She experiences in such service is infinitely greater than the joy of love experienced by Śrī Kṛṣṇa while accepting service from Śrī Rādhā as the Object of Her Love. It is for this reason that Śrī Kṛṣṇa longs to be a repository of Love rather than the Object of Love. In other words He desires that instead of playing the exclusive role of an Object of Love receiving Love through service He should also play the role of a bestower of Love through service—that He should not only be the object of worship but should also be the worshipper. That is why though continuing to be the eternal object of worship to Śrī Rādhā, He also assumes the role of Her votary. Where Śrī Kṛṣṇa is the Lover, Śrī Rādhā is His Darling and where Śrī Rādhā is possessed by the sentiment of a lover. Śrī Kṛṣṇa is the object of Her Love. Both view themselves as destitute of Love and feel that they are humble and indebted to the other; for such is the nature of immaculate love.

The bulk of the literature bearing on the Love of Śri Rādhā and Śrī Kṛṣṇa mostly consists of poems depicting Śrī Kṛṣṇa as the Beloved and Śrī Rādhā as the Lover. In eight out of these sixteen songs Śrī Kṛṣṇa looks upon Śrī Rādhā as His Darling and recognizes Her as the Sovereign of the Kingdom of Love and Himself as destitute of Love; while in the other eight songs embodying the reply of Śrī Rādhā, Śrī Rādhā speaks of Herself as destitute of Love and acknowledges Śrī Kṛṣṇa as Master of the wealth of Love. In this way these sixteen songs portray the gradual stepping up of humility in the Lover and exalt the Beloved more and more in the eyes of the former.

If the reader dives deep into the spirit of these songs, he will come to realize how very pure, self-dedicating and transcendent is the Love of Śrī Rādhā and Śrī Kṛṣṇa. These songs have been published in order that, recognizing this Love to be the ideal the strivers on the Path of Love may chalk out their path accordingly and develop Love for the feet of Śrī Rādhā and Śrī Kṛṣṇa.

॥ श्रीराधाकृष्णौ विजयेते ॥

श्रीराधा–माधव–रस–सुधा

महाभाव–रसराज–वन्दना

दोउ चकोर, दोउ चंद्रमा, दोउ अलि, पंकज दोउ।
दोउ चातक, दोउ मेघ प्रिय, दोउ मछरी, जल दोउ॥
आस्रय–आलंबन दोउ, बिषयालंबन दोउ।
प्रेमी–प्रेमास्पद दोउ, तत्सुख–सुखिया दोउ॥
लीला–आस्वादन–निरत, महाभाव–रसराज।
बितरत रस दोउ दुहुन कौं, रचि बिचित्र सुठि साज॥
सहित बिरोधी धर्म–गुन जुगपत नित्य अनंत।
बचनातीत अचिन्त्य अति, सुषमामय श्रीमंत॥
श्रीराधा–माधव–चरन बंदौं बारंबार।
एक तत्व दो तनु धरें, नित–रस–पाराबार॥

NECTAREAN BLISS OF SRĪ RĀDHĀ-MĀDHAVA

SALUTATIONS TO

ŚRĪ RĀDHĀ (THE EMBODIMENT OF LOVE SUPREME)

AND ŚRĪ KṚṢṆA (THE HIGHEST BLISS PERSONIFIED)

Both are Chakora birds (noted for their love for the moon) in relation to each other and both are the moon (the beloved of the said bird). Both are Bhramaras or black bees (in relation to the other) and both are the lotus (the beloved of the bee). Both are Chātaka birds (noted for their love for the rainy cloud) and both represent the cloud, the beloved of the Chātaka. Both are fish (that cannot live without water) and both represent water (the beloved of the fish).

Both are repositories of Love, in whom Love abides (आश्रयालम्बन) and both are the objects of Love, on which love fastens itself (विषयालम्बन). Both are Lovers as well as the Beloved ; the happiness of each hinges on the other's happiness.

Both Śrī Rādhā (the Embodiment of Love Supreme) and Śrī Kṛṣṇa (the Highest Bliss personified) delight in enjoying their blissful pastimes and, creating diverse lovely accessories and materials, afford delight each to the other.

The two are eternally endowed at once with endless contradictory traits and attributes completely defying speech and thought and full of surpassing charm and elegance.

I bow again and again at the feet of Śrī Rādhā and Śrī Kṛṣṇa, the one essence appearing in two forms, the Oceans of Eternal Bliss.

१. श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

राधिके ! तुम मम जीवन-मूल।
अनुपम अमर प्रान-संजीवनि, नहिं कहुँ कोउ समतूल॥
जस सरीरमें निज-निज थानहिं सबही सोभित अंग।
किंतु प्रान बिनु सबहि ब्यर्थ, नहिं रहत कतहुँ कोउ रंग॥
तस तुम प्रिये ! सबनिके सुखकी एकमात्र आधार।
तुम्हरे बिना नहीं जीवन-रस, जासौं सब कौ प्यार॥
तुम्हारे प्राननि सौं अनुप्रानित, तुम्हरे मन मनवान।
तुम्हरौ प्रेम-सिंधु-सीकर लै करौं सबहि रसदान॥
तुम्हरे रस-भंडार पुन्य तैं पावत भिच्छुक चून।
तुम सम केवल तुमहि एक हौ, तनिक न मानौ ऊन॥
सोऊ अति मरजादा, अति संभ्रम-भय-दैन्य-सँकोच।
नहिं कोउ कतहुँ कबहुँ तुम-सी रसस्वामिनि निस्संकोच॥
तुम्हरौ स्वत्व अनंत नित्य, सब भाँति पूर्न अधिकार।
कायब्यूह निज रस-बितरन करवावति परम उदार॥
तुम्हरी मधुर रहस्यमई मोहनि माया सौं नित्य।
दच्छिन बाम रसास्वादन हित बनतौ रहूँ निमित्त॥

1. ŚRĪ KṚṢṆA'S LOVE-UTTERANCE TO ŚRĪ RĀDHĀ

You are the very source of my existence, O Rādhā ! You are the peerless immortal elixir of my life, none can equal you anywhere.

Even as every limb is charming in its own place in the body, but without life they are all useless and devoid of charm,

so, my darling, you are the sole substratum of the joy of all. Life, which is dear to all, becomes insipid without you.

Your life alone breathes life into me; it is your mind which has endowed me with a mind. With a particle from the ocean of your love I afford delight to everyone.

It is from your sacred store of Bliss that beggars get their pinch of joy. You are your only compeer: pray, do not conceive an iota of untruth in this.

Even though (as I have told you just now) I dole out joy from your store of Bliss alone, I do so with great reserve, with the utmost restraint, apprehension, chariness and diffidence. There is no such liberal-minded possessor of Bliss as you existing anywhere at any time.

As regards myself you have an infinite eternal claim on me and have a full right on me in every way. That is why (making me an instrument of your munificence) you get your own other selves (the cowherdesses of Vraja) to dispense Bliss most liberally.

I only wish that through your mysterious and enchanting sweet love I may ever continue to serve as an instrument for the enjoyment of your pliant and sullen moods.

२. श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति

हौं तो दासी नित्य तिहारी।
प्राननाथ जीवन-धन मेरे, हौं तुम पै बलिहारी॥
चाहें तुम अति प्रेम करौ, तन-मन सौं मोहि अपनाऔ।
चाहें द्रोह करौ, त्रासौ, दुख देइ मोहि छिटकाऔ॥
तुम्हरौ सुख ही है मेरौ सुख, आन न कछु सुख जानौं।
जो तुम सुखी होउ मो दुखमें, अनुपम सुख हौं मानौं॥
सुख भोगौं तुम्हरे सुख कारन, और न कछु मन मेरे।
तुमहि सुखी नित देखन चाहौं निसि-दिन साँझ-सबेरे॥
तुमहि सुखी देखन हित हौं निज तन-मन कौं सुख देऊँ।
तुमहि समरपन करि अपने कौं नित तव रुचि कौं सेऊँ॥
तुम मोहि 'प्रानेस्वरि', 'हृदयेश्वरी', 'कांता' कहि सचु पावौ।
यातैं हौं स्वीकार करौं सब, जद्यपि मन सकुचावौ॥

2. ŚRĪ RĀDHĀ'S LOVE-UTTERANCE TO ŚRĪ KṚṢṆA

I am but your eternal servant-maid. You are the lord of my breath, the asset of my life. I cast myself as an offering at your feet.

You may lavish on me your utmost love and accept me as your own mentally as well as bodily. Or you may adopt a hostile attitude to me, cause fright to me, persecute and spurn me.

In your happiness alone lies my happiness, no other happiness do I know. If you rejoice in my suffering, I treat it as an incomparable joy.

I enjoy happiness for your happiness: no other joy exists in my conception. I wish to see you happy every moment, by day and by night, morning and evening.

I give delight to my mind and comfort to my body only in order to see you happy. Offering myself at your feet I always follow your liking.

Since you feel happy in addressing me as the “Queen of my life”, the “Mistress of my heart”, “Darling”, I accept all these epithets even though I feel embarrassed at heart.

३. श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

हे आराध्या राधा ! मेरे मनका तुझमें नित्य निवास।
तेरे ही दर्शन कारण मैं करता हूँ गोकुलमें वास॥
तेरा ही रस-तत्त्व जानना, करना उसका आस्वादन।
इसी हेतु दिन-रात घूमता मैं करता वंशीवादन॥
इसी हेतु स्नानको जाता, बैठा रहता यमुना-तीर।
तेरी रूपमाधुरीके दर्शनहित रहता चित्त अधीर॥
इसी हेतु रहता कदम्बतल, करता तेरा ही नित ध्यान।
सदा तरसता चातककी ज्यौं, रूप-स्वातिका करने पान॥
तेरी रूप-शील-गुण-माधुरी मधुर नित्य लेती चित चोर।
प्रेमगान करता नित तेरा, रहता उसमें सदा विभोर॥

3. ŚRĪ KṚṢṆA'S LOVE-UTTERANCE TO ŚRĪ RĀDHĀ

O Rādhā, the object of my adoration, my mind ever dwells in you. It is to obtain your blessed sight that I reside in Gokula.

My object (in life) is only to realize the true nature of the love abiding in you and to relish it. It is with this object in view that I ramble day and night playing on my flute.

It is for this purpose that I go out for bath and keep sitting on the bank of the Yamuna. My mind remains restless for the blessed sight of your sweet charms.

It is for this reason that I remain at the foot of the Kadamba tree and meditate every moment on you. Like a Chātaka bird I ever thirst to have a draught of rain water at the opportune moment (when the constellation Swati is in the ascendant) in the form of your beauty.

The agreeable sweetness of your beauty, amiable disposition and virtues ever steal my heart. I sing the praises of your love every moment and remain ever absorbed in it.

४. श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति

मेरी इस विनीत विनतीको सुन लो, हे व्रजराजकुमार!
युग-युग, जन्म-जन्ममें मेरे तुम ही बनो जीवनाधार॥
पद-पंकज-परागकी मैं नित अलिनी बनी रहूँ, नँदलाल!
लिपटी रहूँ सदा तुमसे मैं, कनकलता ज्यों तरुण तमाल॥
दासी मैं हो चुकी सदाको, अर्पणकर चरणोंमें प्राण।
प्रेम-दामसे बँध चरणोंमें, प्राण हो गये धन्य महान॥
देख लिया, त्रिभुवनमें बिना तुम्हारे और कौन मेरा।
कौन पूछता है 'राधा' कह, किसको राधाने हेरा॥
इस कुल, उस कुल—दोनों कुल, गोकुलमें मेरा अपना कौन?
अरुण मृदुल पद-कमलोंकी ले शरण अनन्य, गयी हो मौन॥
देखे बिना तुम्हें पलभर भी मुझे नहीं पड़ता है चैन।
तुम ही प्राणनाथ नित मेरे, किसे सुनाऊँ मनके बैन॥
रूप-शील-गुणहीन समझकर कितना ही दुतकारो तुम।
चरणधूलि मैं चरणोंमें ही लगी रहूँगी, बस, हरदम॥

4. ŚRĪ RĀDHĀ'S LOVE-UTTERANCE TO ŚRI KṚṢṆA

Listen, O prince of the lord of Vraja, to the following humble prayer of mine. Be you alone the support of my life in every aeon, from birth to birth.

Let me ever continue to hover as a black bee over the pollen of your lotus feet, O darling of Nanda ! Let me remain ever entwined about you as a gold creeper round a young Tamāla tree (distinguished by its dark bark).

Having dedicated my life at your feet, I have placed myself at your service for all time to come. Fastened to your feet with the string of Love, my life has become highly blessed.

I have seen that none other than you in all the three worlds is mine. Who accosts me calling me ‘Rādhā’ and at whom have I, Rādhā, (ever) cast a glance ?

Who is mine in this (my father's) family and that (my husband's) and in (the entire) Vraja (lit., a station of cowherds) ? Seeking the protection exclusively of your red soft lotus-like feet I have turned mute.

Without seeing you I find no peace of mind even for an instant. You are ever the lord of my life; before whom (other than you) shall I open my heart ?

Accounting me destitute of bodily charm, amiable. disposition and virtues, rebuff me as much as you can; I, the dust of your feet, shall remain clinging to your soles alone every moment: that is all I know.

५. श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

हे बृषभानुराजनन्दिनी ! हे अतुल प्रेम–रस–सुधा–निधान !
गाय चराता वन–वन भटकूँ, क्या समझूँ मैं प्रेम–विधान ॥
ग्वाल–बालकोंके सँग डोलूँ, खेलूँ सदा गँवारू खेल ।
प्रेम–सुधा–सरिता तुमसे मुझ तप्त धूलका कैसा मेल ?॥
तुम स्वामिनी अनुरागिणी ! जब देती हो प्रेमभरे दर्शन ।
तब अति सुख पाता मैं, मुझपर बढ़ता अमित तुम्हारा ऋण ॥
कैसे ऋणका शोध करूँ मैं, नित्य प्रेम–धनका कंगाल ।
तुम्हीं दयाकर प्रेमदान दे, मुझको करती रहो निहाल ॥

5. ŚRĪ KṚṢṆA'S LOVE-UTTERANCE TO ŚRI RĀDHĀ

O delight of Prince Vṛṣabhānu, O matchless fount of the nectarean sweetness of Love, roaming about as I do from wood to wood pasturing cows, what can I know of the code of Love ?

Moving in the company of cowherd boys, I always play rustic games. What affinity can I, who am no better than hot sand, have with you, a stream of nectarean Love ?

When, O queen bubbling over with Love, you vouchsafe to me your blessed loving sight, I derive excessive joy and my obligation to you grows beyond measure.

How shall I be able to repay my debt, eternally destitute as I am of the wealth of Love ? I look up to you alone to continue to bless me with gifts of Love out of (sheer) compassion.

६. श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति

सुन्दर श्याम कमल-दल-लोचन, दुखमोचन व्रजराजकिशोर!
देखूँ तुम्हें निरन्तर हिय-मन्दिरमें, हे मेरे चितचोर!॥
लोक-मान-कुल-मर्यादाके शैल सभी कर चकनाचूर।
रक्खूँ तुम्हें समीप सदा मैं, करूँ न पलक तनिक भर दूर॥
पर मैं अति गँवार ग्वालिनी, गुणरहित, कलंकी, सदा कुरूप।
तुम नागर, गुण-आगर, अतिशय कुलभूषण, सौन्दर्य-स्वरूप॥
मैं रस-ज्ञान-रहित, रसवर्जित, तुम रसनिपुण, रसिक-सिरताज।
इतनेपर भी, दयासिन्धु! तुम मेरे उरमें रहे विराज॥

6. ŚRĪ RĀDHĀ'S LOVE-UTTERANCE TO ŚRĪ KṚṢṆA

O youthful darling of the lord of Vraja, darkbrown of complexion and charming to look at, with eyes resembling the petals of a lotus, O reliever of distress, let me behold you incessantly in the temple of my heart, O captivator of my mind !

Shattering all the mountain-like barriers of worldly decorum, honour, family prestige and morality, let me ever have you by my side and never send you away even to a short distance for the twinkling of an eye.

I am, however, an exceedingly rustic cowherdess, devoid of excellences, bearing the stigma of infamy and ugly of appearance at all times while you are, on the other hand, urbane in manners, a mine of virtues, a shining jewel of your race and beauty personified.

While I am lacking in the aesthetic sense and devoid of good taste, you are a master of good taste and the very crest-jewel of men of good taste. All the same, O ocean of compassion, you remain ensconced in my bosom.

७. श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

हे प्रियतमे राधिके ! तेरी महिमा अनुपम, अकथ, अनन्त।
युग-युगसे गाता मैं अविरत, नहीं कहीं भी पाता अन्त॥
सुधानन्द बरसाता हियमें तेरा मधुर वचन अनमोल।
बिका सदाके लिये मधुर दृग-कमल, कुटिल भृकुटीके मोल॥
जपता तेरा नाम मधुर अनुपम, मुरलीमें नित्य ललाम।
नित अतृप्त नयनोंसे तेरा रूप देखता अति अभिराम॥
कहीं न मिला प्रेम शुचि ऐसा, कहीं न पूरी मनकी आश।
एक तुझीको पाया मैंने जिसने किया पूर्ण अभिलाष॥
नित्य तृप्त निष्काम नित्यमें मधुर अतृप्ति, मधुरतम काम।
तेरे दिव्य प्रेमका है यह जादूभरा मधुर परिणाम॥

7. ŚRĪ KṚṢṆA'S LOVE-UTTERANCE TO ŚRĪ RĀDHĀ

My most beloved Rādhā, your glory is matchless, ineffable and infinite. From aeon to aeon I have been singing it without pause, yet I find no end to it anywhere.

Your mellifluous speech, which is invaluable, showers nectarean bliss in the heart. (Nay) I have been enthralled for ever by your charming lotus eyes and your curved eyebrows.

I ever repeat on my flute your incomparably sweet and transcendent name and with unsated eyes I drink every moment your exquisite beauty.

Nowhere could I get such immaculate love, nowhere was my heart's yearning realized. In you alone have I found the individual who has fulfilled my wishes.

To awaken an agreeable insatiety and a most enjoyable longing in me, who stand ever sated and am eternally free from desire, is the sweet miracle of your transcendent Love.

८. श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति

सदा सोचती रहती हूँ मैं, क्या दूँ तुमको, जीवनधन !
जो धन देना तुम्हें चाहती, तुम ही हो वह मेरा धन ॥
तुम ही मेरे प्राणप्रिय हो, प्रियतम ! सदा तुम्हारी मैं ।
वस्तु तुम्हारी तुमको देते पल-पल हूँ बलिहारी मैं ॥
प्यारे ! तुम्हें सुनाऊँ कैसे अपने मनकी सहित विवेक ।
अन्योंके अनेक, पर मेरे तो तुम ही हो, प्रियतम ! एक ॥
मेरे सभी साधनोंकी, बस एकमात्र हो तुम ही सिद्धि ।
तुम ही प्राणनाथ हो, बस, तुम ही हो मेरी नित्य समृद्धि ॥
तन-धन-जनका बन्धन टूटा, छूटा भोग-मोक्षका रोग ।
धन्य हुई मैं, प्रियतम ! पाकर एक तुम्हारा प्रिय संयोग ॥

8. ŚRĪ RĀDHĀ'S LOVE-UTTERANCE TO ŚRI KṚṢṆA

The question as to what I should give to you has ever been engaging my thought, O wealth of my life ! (In fact) you alone are the treasure which I seek to bestow on you.

You alone are the dearest object of my life and I am ever yours, O most beloved one ! I stand offered at your feet every moment in offering to you what really belongs to you.

In what words shall I give conscious utterance, my darling, to what I feel in my mind ? While others have many to call their own, I have no one else than you to call my own. O most beloved one !

In fact you are the sole consummation of all my endeavours. You alone are the lord of my life and you alone are my la-ting wealth: that is all I have to say.

The ties of body, ownership and kinship have given way; the malady in the shape of lust for enjoyment and the seeking for Liberation has left me for good. I have become blessed by securing your beloved contact alone, O most beloved one !

९. श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

राधे ! हे प्रियतमे ! प्राण-प्रतिमे ! हे मेरी जीवन-मूल !
पल भर भी न कभी रह सकता, प्रिये ! मधुर मैं तुमको भूल ॥
श्वास-श्वासमें तेरी स्मृतिका नित्य पवित्र स्रोत बहता ।
रोम-रोम अति पुलकित तेरा आलिंगन करता रहता ॥
नेत्र देखते तुझे नित्य ही, सुनते शब्द मधुर यह कान ।
नासा अंग-सुगन्ध सूँघती, रसना अधर-सुधा-रस-पान ॥
अंग-अंग शुचि पाते नित ही तेरा प्यारा अंग-स्पर्श ।
नित्य नवीन प्रेम-रस बढ़ता, नित्य नवीन हृदयमें हर्ष ॥

9. ŚRĪ KṚṢṆA'S LOVE-UTTERANCE TO ŚRĪ RĀDHĀ

My dearest Rādhā, my life-breath incarnate, the source of my existence, forgetting you I cannot survive even for an instant. O sweet darling !

Through every breath of mine flows the perennial and holy stream of your thought. Thrilled to the core, every hair on my body continues to embrace you.

My eyes behold you every moment and these ears drink your sweet words. My nose inhales the fragrance of your person, while the tongue enjoys the nectarean sweetness of your lips.

Every limb of mine ever gets hallowed by the beloved touch of your body. The sweetness of your love acquires a fresh charm and grows every moment and along with it the joy of my heart too grows fresh.

१०. श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति

मेरे धन-जन-जीवन तुम ही, तुम ही तन-मन, तुम सब धर्म।
तुम ही मेरे सकल सुख सदन, प्रिय निज जन, प्राणोंके मर्म॥
तुम्हीं एक, बस, आवश्यकता; तुम ही एकमात्र हो पूर्ति।
तुम्हीं एक सब काल, सभी विधि, हो उपास्य शुचि सुन्दर मूर्ति॥
तुम ही काम-धाम सब मेरे, एकमात्र तुम लक्ष्य महान।
आठों पहर बसे रहते तुम मम मन-मन्दिरमें भगवान॥*
सभी इन्द्रियोंको तुम शुचितम करते नित्य स्पर्श-सुख-दान।
बाह्याभ्यन्तर नित्य निरन्तर तुम छेड़े रहते निज तान॥
कभी नहीं तुम ओझल होते, कभी नहीं तजते संयोग।
घुले-मिले रहते करवाते-करते निर्मल रस-सम्भोग॥
पर इसमें न कभी मतलब कुछ मेरा तुमसे रहता भिन्न।
हुए सभी संकल्प भंग मैं-मेरेके समूल तरु छिन्न॥
भोक्ता, भोग्य—सभी कुछ तुम हो, तुम ही स्वयं बने हो भोग।
मेरा मन बन सभी तुम्हीं हो अनुभव करते योग-वियोग॥

---

* दूसरा पाठ — आठों पहर सरसते रहते तुम मन सर-वरमें रसवान॥

10. ŚRĪ RĀDHĀ'S LOVE-UTTERANCE TO ŚRĪ KṚṢṆA

You alone are my wealth, kinsman and life. You alone are my body and mind, you are all my righteousness. You alone are the abode of all my joy, my near and dear one, the core of my life.

Well, you are my only desideratum and you alone constitute its only solution. You are the only holy and charming idol worth adoring every moment in every way.

You alone constitute all my affairs and abode, you are my sole great objective. You remain enshrined day and night as the deity in the temple of my mind.*

You impart every moment to all my senses your most sacred and exhilarating contact. Inside as well as outside of me you are ever busy tuning your melody without break.

Never do you go beyond the range of my sight, never do you get disunited from me. Remaining united, nay, identified with me, you enjoy and make me enjoy the unalloyed bliss inhering in you.

In this enjoyment, however, I do not cherish any purpose different from yours. All my volitions have come to an end and the trees of egotism and meum have fallen root and branch.

You are the enjoyer, the object of enjoyment and all, and you alone have assumed the form of enjoyment. (Nay) assuming the form of my mind, you alone experience (the joy of) union as well as (the pangs of) separation.

---

*Ever full of bliss you radiate joy, day and night, in the charming lake of my mind.

११. श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

मेरा तन-मन सब तेरा ही, तू ही सदा स्वामिनी एक।
अन्योंका उपभोग्य न भोक्ता है कदापि, यह सच्ची टेक॥
तन समीप रहता न स्थूलतः, पर जो मेरा सूक्ष्म शरीर।
क्षणभर भी न विलग रह पाता, हो उठता अत्यन्त अधीर॥
रहता सदा जुड़ा तुझसे ही, अतः बसा तेरे पद-प्रान्त।
तू ही उसकी एकमात्र जीवनकी जीवन है निर्भ्रान्त॥
हुआ न होगा अन्य किसीका उसपर कभी तनिक अधिकार।
नहीं किसीको सुख देगा, लेगा न किसीसे किसी प्रकार॥
यदि वह कभी किसीसे किंचित् दिखता करता-पाता प्यार।
वह सब तेरे ही रसका, बस, है केवल पवित्र विस्तार॥
कह सकती तू मुझे सभी कुछ, मैं तो नित तेरे आधीन।
पर न मानना कभी अन्यथा, कभी न कहना निजको दीन॥
इतनेपर भी मैं तेरे मनकी न कभी हूँ कर पाता।
अतः बना रहता हूँ सतत तुझको दुखका ही दाता॥
अपनी ओर देख तू मेरे सब अपराधोंको जा भूल।
करती रह कृतार्थ मुझको, दे पावन पद-पंकजकी धूल॥

11. ŚRĪ KṚṢṆA'S LOVE-UTTERANCE TO ŚRĪ RĀDHĀ

My body and mind, everything belongs to you; you alone are ever my only queen. This body or mind of mine can neither be the enjoyer nor the object of enjoyment of others: this is my unfailing vow.

True, my body, grossly speaking, does not always remain by your side; my subtle body, however, cannot remain disunited even for a moment and grows utterly impatient.

It remains ever united with you and keeps clinging to the soles of your feet. You alone are unmistakably the sole life of its life.

No one else has ever had or shall ever have the least claim on it. It will never afford delight to anyone nor derive joy from anyone in any way.

If it is ever seen loving or being loved by anyone in the slightest degree, it is nothing but a holy projection of your love alone.

You can tell me whatever you like; I am ever at your disposal. But, pray, never take it otherwise and never call yourself humble.

Notwithstanding all this I am never able to meet your wishes. Hence I continue to be a perennial source of affliction alone to you.

Recalling your own nature, pray, forget all my transgressions and continue to bless me by giving me the sacred dust of your lotus feet.

१२. श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति

तुमसे सदा लिया ही मैंने, लेती-लेती थकी नहीं।
अमित प्रेम-सौभाग्य मिला, पर मैं कुछ भी दे सकी नहीं॥
मेरी त्रुटि, मेरे दोषोंको तुमने देखा नहीं कभी।
दिया सदा, देते न थके तुम, दे डाला निज प्यार सभी॥
तब भी कहते—'दे न सका मैं तुमको कुछ भी, हे प्यारी!
तुम-सी शील-गुणवती तुम ही, मैं तुम पर हूँ बलिहारी'॥
क्या मैं कहूँ प्राणप्रियतमसे, देख लजाती अपनी ओर।
मेरी हर करनीमें ही तुम प्रेम देखते, नन्दकिशोर॥

12. ŚRĪ RĀDHĀ'S LOVE-UTTERANCE TO ŚRĪ KṚṢṆA

I have ever received and only received from you and have never felt wearied in making repeated drafts on you. Love and blessedness beyond measure has been my lot, while I could not make any return.

My drawbacks, my failings you have never cared to look at. You have ever played the donor and never felt wearied in giving. What more, you have lavished all your love on me.

Yet you say, “I could not give anything to you, my darling ! You are your own compeer in amiable disposition and virtues. I stand offered at your feet.”

What shall I say to you, the dearest object of my life ? I feel small when I look to myself. You read love alone in every act of mine, O youthful darling of Nanda !

१३. श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

राधे ! तू ही चित्तरंजनी, तू ही चेतनता मेरी।
तू ही नित्य आतमा मेरी, मैं हूँ, बस, आत्मा तेरी॥
तेरे जीवनसे जीवन है, तेरे प्राणोंसे हैं प्राण।
तू ही मन, मति, चक्षु, कर्ण, त्वक्, रसना, तू ही इन्द्रिय-घ्राण॥
तू ही स्थूल-सूक्ष्म इन्द्रियके विषय सभी मेरे सुखरूप।
तू ही मैं, मैं ही तू, बस, तेरा-मेरा सम्बन्ध अनूप॥
तेरे बिना न मैं हूँ, मेरे बिना न तू रखती अस्तित्व।
अविनाभाव विलक्षण यह सम्बन्ध, यही, बस, जीवन-तत्त्व॥

13. ŚRĪ KṚṢṆA'S LOVE-UTTERANCE TO ŚRĪ RĀDHĀ

O Rādhā, you alone are the delight of my soul, (nay) you are my consciousness itself. You alone are my eternal self, while I comprise your very soul.

I owe my existence to yours, my life-breath has its source in yours. You alone are my mind, intellect, sight, auditory sense, tactile sense and palate: you alone are my olfactory sense.

You alone comprise all the delightful objects of my senses, gross as well as subtle. You alone are I and I alone am you. In short, the relationship between you and me is without parallel.

I do not exist apart from you, nor do you have any existence apart from me. This unique relationship of invariable concomitance subsists between us. In short, this is the whole truth of our existence.

१४. श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति

तुम अनन्त सौन्दर्य-सुधा-निधि, तुममें सब माधुर्य अनन्त।
तुम अनन्त ऐश्वर्य-महोदधि, तुममें सब शुचि शौर्य अनन्त॥
सकल दिव्य सद्गुण-सागर तुम लहराते सब ओर अनन्त।
सकल दिव्य रस-निधि तुम अनुपम, पूर्ण रसिक, रसरूप अनन्त॥
इस प्रकार जो सभी गुणोंमें, रसमें अमित, असीम, अपार।
नहीं किसी गुण-रसकी उसे अपेक्षा कुछ भी, किसी प्रकार॥
फिर, मैं तो गुणरहित सर्वथा, कुत्सित-गति सब भाँति, गँवार।
सुन्दरता-मधुरता-रहित, कर्कश, कुरूप, अति दोषागार॥
नहीं वस्तु कुछ भी ऐसी, जिससे तुमको मैं दूँ रस-दान।
जिससे तुम्हें रिझाऊँ, जिससे करूँ तुम्हारा पूजन-मान॥
एक वस्तु मुझमें अनन्य, आत्यन्तिक है विरहित उपमान।
'मुझे सदा प्रिय लगते तुम', यह तुच्छ किंतु अत्यन्त महान॥
रीझ गये तुम इसी एकपर, किया मुझे तुमने स्वीकार।
दिया स्वयं आकर अपनेको, किया न कुछ भी सोच-विचार॥
भूल उच्चता, भगवत्ता सब, सत्ताका सारा अधिकार।
मुझ नगण्यसे मिले तुच्छ बन, स्वयं छोड़ संकोच-सँभार॥
मानो अति आतुर मिलनेको, मानो हो अत्यन्त अधीर।
तत्त्वरूपता भूल सभी, नेत्रोंसे लगे बहाने नीर॥

हो व्याकुल, भर रस अगाध, आकर शुचि रस–सरिताके तीर।
करने लगे परम अवगाहन, तोड़ सभी मर्यादा–धीर॥
बढ़ी अमित, उमड़ी रस–सरिता पावन, छायी चारों ओर।
डूबे सभी भेद उसमें, फिर रहा कहीं भी ओर न छोर॥
प्रेमी, प्रेम, परम प्रेमास्पद—नहीं ज्ञान कुछ, हुए विभोर।
राधा प्यारी हूँ मैं, या हो केवल तुम प्रिय नन्दकिशोर॥

14. ŚRĪ RĀDHĀ'S LOVE-UTTERANCE TO ŚRĪ KṚṢṆA

You are the infinite fount of nectar in the shape no end of comeliness: entire sweetness knowing abides in you. You are the endless ocean of divinity, all immaculate valour without end exists in you.

In the form of an ocean of all sublime virtues, you are rolling on all sides in an infinite expanse. You are an incomparable storehouse of all transcendent bliss, a perfect lover of beauty, infinite bliss personified.

In this way he who is immeasurable, limitless and unbounded in the matter of all excellences and bliss has no need whatsoever for any virtue or bliss in any way.

I, on the other hand, am utterly devoid of virtues, unconth of manners and rustic in every respect. (Nay) I am lacking in comeliness and sweetness, rough, ugly and a sheer abode of evils.

I have nothing at all with which I can afford delight to you, with which I can fascinate you, with which I can adore and honour you.

(Of course) I claim to have one thing which is not shared by others, (nay) which knows no end and is without parallel. It is that you are ever dear to me. Though trivial, it is something of very great consequence (at the same time).

This alone was enough to fascinate you and you accepted me as your own. Of your own initiative you came and offered yourself to me without the least deliberation.

Forgetting all your exalted nature and divinity as well as all claim to lordship, you met me, insignificant as I am, on an equal footing, becoming insignificant yourself and unburdening yourself of all demur,

as if you were utterly impatient to meet me and as if you were extremely restless; (nay) oblivious of your true nature—your all-embracing character, you started shedding tears.

Feeling uneasy and charging yourself with unfathomable emotion you sought the bank of the river of unalloyed love and began to take a deep plunge in it, shattering all barriers of decorum and forbearance.

The holy stream of love rose in an unbounded measure, overflowed its banks and spread all round. All disparities got merged in it and then there was no end or beginning to be seen anywhere.

The distinction between lover, love and the most beloved disappeared from your mind and you were lost in a trance. You had no consciousness even whether I alone, your darling Rādhā, existed or whether you, my beloved Śrī Kṛṣṇa (Nanda's youthful son), only remained.

१५. श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

राधा ! तुम–सी तुम्हीं एक हो, नहीं कहीं भी उपमा और।
लहराता अत्यन्त सुधा–रस–सागर, जिसका ओर न छोर॥
मैं नित रहता डूबा उसमे, नहीं कभी ऊपर आता।
कभी तुम्हारी ही इच्छासे हूँ लहरोंमें लहराता॥
पर वे लहरें भी गाती हैं एक तुम्हारा रम्य महत्व।
उनका सब सौन्दर्य और माधुर्य, तुम्हारा ही है स्वत्व॥
तो भी उनके बाह्य रूपमें ही, बस, मैं हूँ लहराता।
केवल तुम्हें सुखी करनेको सहज कभी ऊपर आता॥
एकच्छत्र स्वामिनि तुम मेरी अनुकम्पा अति बरसाती।
रखकर सदा मुझे संनिधिमें जीवनके क्षण सरसाती॥
अमित नेत्रसे गुण–दर्शन कर, सदा सराहा ही करती।
सदा बढ़ाती सुख अनुपम, उल्लास अमित उरमें भरती॥
सदा, सदा मैं सदा तुम्हारा, नहीं कदा कोई भी अन्य—
कहीं जरा भी कर पाता अधिकार दासपर सदा अनन्य॥
जैसे मुझे नचाओगी तुम, वैसे नित्य करूँगा नृत्य।
यही धर्म है, सहज प्रकृति यह, यही एक स्वाभाविक कृत्य॥

15. ŚRĪ KṚṢṆA'S LOVE-UTTERANCE TO ŚRĪ RĀDHĀ

Rādhā, you are your only compeer; none else can compare with you anywhere. In you rolls an infinite ocean of nectarean love, which has no end or beginning.

I remain ever submerged in it and never rise to the surface. By your will alone I am tossed at times on the waves.

But those waves too sing your pleasing glory alone. Their entire charm and sweetness is only your monopoly.

Yet I keep swinging only on their external form. I come at times to the surface in the natural course only in order to afford delight to you.

You shower grace on me in profusion, O unrivalled queen of mine ! You enliven the moments of my life keeping me by your side all the time.

You Seeing my good points with endless eyes remain ever engaged only in eulogizing me. You ever enhance my peerless joy and flood my bosom with boundless hilarity.

I am always, always, always yours; no one else anywhere can ever lay the least claim to this eternal and exclusive servant of yours.

I shall ever dance as you will make me dance. That is my only sacred duty, this constitutes my inborn nature, and this is my only natural function.

१६. श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

तुम हो यन्त्री, मैं यन्त्र, काठकी पुतली मैं, तुम सूत्रधार।
तुम करवाओ, कहलाओ, मुझे नचाओ निज इच्छानुसार॥
मैं करूँ, कहूँ, नाचूँ नित ही परतन्त्र, न कोई अहंकार।
मन मौन नहीं, मन ही न पृथक्, मैं अकल खिलौना, तुम खिलार॥
क्या करूँ, नहीं क्या करूँ—करूँ इसका मैं कैसे कुछ विचार?
तुम करो सदा स्वच्छन्द, सुखी जो करे तुम्हें सो प्रिय विहार॥
अनबोल, नित्य निष्क्रिय, स्पन्दनसे रहित, सदा मैं निर्विकार।
तुम जब जो चाहो करो सदा बेशर्त, न कोई भी करार॥
मरना-जीना मेरा कैसा, कैसा मेरा मानापमान।
हैं सभी तुम्हारे ही, प्रियतम ! ये खेल नित्य सुखमय महान॥
कर दिया क्रीड़नक बना मुझे निज करका तुमने अति निहाल।
यह भी कैसे मानूँ-जानूँ, जानो तुम ही निज हाल-चाल॥
इतना मैं जो यह बोल गयी, तुम जान रह—है कहाँ कौन?
तुम ही बोले भर सुर मुझमें मुखरा-से मैं तो शून्य मौन॥

16. ŚRĪ RĀDHĀ'S LOVE-UTTERANCE TO ŚRĪ KṚṢṆA

You are the operator and I an instrument worked by you; I am a puppet and you, the wire-puller. You make me act, speak and dance as you will.

I ever act, speak and dance subject to your will without any ego-sense. My mind (too) is silent—nay, I have no separate mind at all: I am a plaything beyond conception and you are the player.

How am I to ponder what I should and what I should not do ? Play you ever at will that favourite game which is calculated to make you happy.

I am speechless, eternally devoid of action, incapable (even) of movement and ever free from all morbid affections. Ever do whatever you like at any particular moment without any condition or stipulation (from me).

Life and death mean nothing to me: and what do I care for honour and ignominy ? All these are eternal pastimes of yours, full of great bliss, my most beloved one !

Turning me into a toy in your hands, you have made me highly blessed. But how am I to believe or know even this ? You alone know your own affairs and movements.

Even while I have uttered this much you know who is figuring where. It is you who, making me your organ, spoke like a babbling girl, I for my part being free from volition and mute.

पुष्पिका

महाभाव–रसराजके मधुर मनोहर भाव।
दिव्य, मधुरतम, रागमय, दैन्य–विभूषित चाव॥
दोनों दोनोंके लिये सहज सभी कर त्याग।
सुखद परस्पर बन रहे, छलक रहा अनुराग॥
दोनों दोनोंके सदा प्रेमी–प्रेष्ठ महान।
नित्य, अनन्त, अचिन्त्य, शुचि, अनिर्वाच्य रस खान॥
सुख–दुख दोनों ही सुखद, प्रियतम–सुखके हेतु।
अन्य सभी टूटे सहज मिथ्या निजसुख–सेतु॥
राधा–माधव–प्रेम–रस वाचा–चित्त–अतीत।
करते शाखाचन्द्र–से इंगित सोलह गीत॥

COLOPHON

These songs embody the sweet and soul-captivating sentiments of Śrī Rādhā (who is no other than Love Supreme incarnate) and Śrī Kṛṣṇa (the Highest Bliss personified) and voice their transcendent and most agreeable yearnings laden with profound love and adorned with humility.

Having renounced everything in a natural way for the sake of each other, both have assumed the role of delighting each other, their hearts brimming with love.

Both ever figure as the lover as well most beloved of each other. They are perennial, inexhaustible, inconceivable, holy and inexplicable founts of love.

To each, joy and sorrow are both delightful inasmuch as they are a source of happiness to the most Beloved One. All other false embankments of one's own happiness have naturally given way.

The sweetness of the love subsisting between Śrī Rādhā and Śrī Kṛṣṇa is beyond speech and mind. The foregoing sixteen songs only give a faint idea of it even as the contiguity of the new moon to the bough of a tree only serves to indicate its position to him who is unable to locate it.

A Broken Vina : A Wailing Note (Preface)

This pathetic and graphic tale of the woeful departure from this transient world of a truly great and divine personage, a magnanimous soul who had endeared himself to all by his rare qualities of head and heart, who guided humanity on the Godward path and loved everyone as his soul, nay, who was a Messiah to millions of men and women groping in darkness and wallowing in sensuality and suffering and who brought hope and solace to many a lacerated heart, whose invaluable services to mankind in the various fields of life without distinction of caste and creed are too numerous, to be recounted and whoes heart overflowed with love and compassion, I mean the late lamented Śrī H. P. Poddār of revered memory, the illustrious and world-renowned editor of the 'Kalyāṇ', was originally written in eloquent Hindi by his loving grand-daughter (daughter's daughter), Śrīmatī Rādhādevī Bhālotia, in her inimitable style of lyrical prose-poetry.

This is the spontaneous outpouring of a loving and inconsolable heart brimming over with emotion at the grievous loss of one in whose loving care she had spent the childhood and prime of her life and who was much more than a grandfather to her.

The story depicts in a nutshell the heart-rending finale of an epochal life which spreads its fragrance like an undying flower throughout the world and the prolonged illness which heralded it. The narration enjoys the blessing of another godly soul, who had been closely and intimately associated with Śrī Poddārji for long, nay, who is his very other self as it were with his intuitive eye has discovered in it the merit of a true scripture, dealing as it does with the life of one who had completely merged his identity in the Lord. The story has been rendered into English with a view to widening its popularity and

extending its benefit to a larger public and Śrī Rādhā-Mādhav-Sevā-Sansthan have done the right thing in getting it printed. Let us hope the English-reading public will welcome this rare boon to the spiritual world.

Gita Vatika C.L. Goswami

Gorakhpur **Editor** "Kalyan" and "Kalyan-Kalptaru"

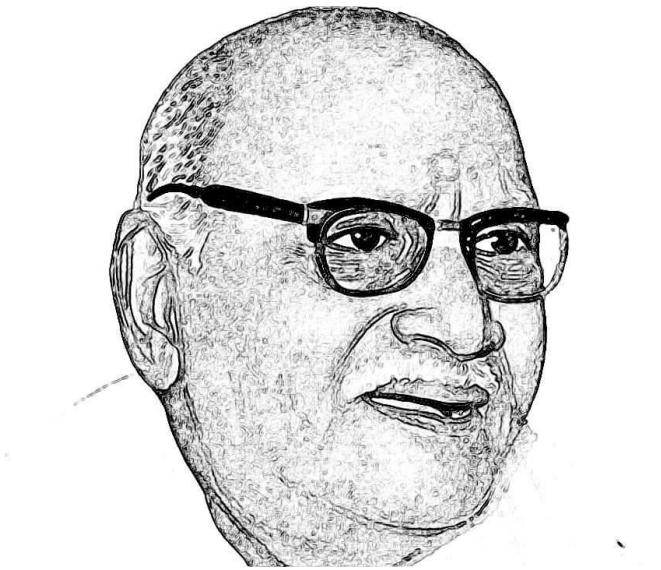

Who was Śrī Rādhā ?

By Śrī Hanumānprasād Poddār

[Rendered into English by Śrī C. L. Goswāmī]

A gentleman has asked the following question: "It is stated somewhere in the *Kalyan* that Śrī Rādhā is the *Hlādinī Śakti* (Enrapturing Energy) or *Ādi Śakti* (Prime Energy) of the Lord. If such is the case, what shall we call Śrī Rukmiṇī ? We place Śrī Rukmiṇī on the same rank with Śrī Sītā, whom we recognize as a manifestation of the Ādi Śakti. The name of Śrī Rādhā is nowhere to be found in *Srīmad Bhāgavata*; if she was a manifestation of the Ādi Śakti, why did she not accompany the Lord ? Moreover, she ought to have been formally married with the Lord."

Another question that he asks is, whether the Love of the milkmaids of Bṛndābana was pure and free from carnality.

It is very difficult to answer these questions; for my conviction is that Śrī Rādhā *cum* Śrī Kṛṣṇa is a supremely divine and transcendental Reality. Their forms as well as their Līlās are divine, the scene of those Līlās was also divine and they were enacted by divine beings with minds, intellects and bodies made of a purely divine stuff. *

---

* Had the Body and the various organs of the Lord been material, i. e., made up of the five great elements evolved from that *Māyā* which veils the real nature of things (आवरणरूपा), ascetics and sages who have crossed the ocean of *Māyā*, transcended the three Guṇas or modes of nature, and who rejoice in the Self, could not have been enchanted by the beauty of His person and the odour of His limbs and could not have eagerly sought the dust of His feet.

One must be endowed with divine eyes, divine ears, divine speech, a divine mind and a divine intellect in order to be able to behold, hear, describe and understand the Divine *Līlā*. How, then, can an earthly creature like myself know this divine truth and how can he expound it through earthly speech ? Hence whatever I am going to write on the subject should not lead anyone to believe that whatever I say is the whole and sole truth and that there is nothing beyond it; nor should anyone think that I am casting reflection on any particular viewpoint, or that I am taking up my pen to silence any caviller or that, out of bias, I want to inflict my views on others. It is never my intention that what I write should be accepted by the readers in any case. I am simply making an attempt here to record for my own spiritual benefit my convictions in the matter formed on the basis of the scriptures and discourses heard from the lips of various saints and devotees. I am sincerely grateful to the gentleman through whose insistence I am discussing this subject, inasmuch as it has enabled me, humble though I am, to engage my mind with thoughts of the Lord even for a short while. It is far from my mind to enter into a controversy on the subject. Should anyone challenge my views, I am not prepared to take up the gauntlet, and acknowledge my defeat at the very outset. It is a subject on which I feel the least inclined to enter into a dialectic disputation. If, however, the foundation of my faith is weak, it can be changed only at the will of God.

Just as I do not hold any distinction between Bhagavān Śrī Kṛṣṇa, the Most Perfect and Transcendent Supreme Divine possessed of infinite glory, sweetness and beauty and endowed with a divine Form consisting of *Sat* (Existence), *Chit* (Knowledge) and *Ānanda* (Bliss)

and the very root of joy, and Bhagavān Śrī Rāmachandra, in the same manner, in my opinion, there is no difference between Śrī Rādhā, Śrī Rukmiṇī, Śrī Sītā, and similar other manifestations of the Divine Energy. The *Hlādinī Śakti* (Enrapturing Energy) of the Lord invariably accompanies Him in all His divine Forms manifested for the sake of sport (लीलाविग्रह), though called by different names and having a distinctive form in each case. These Śaktis, although known and represented by different Names and Forms, are, truly speaking, manifestations of the same Energy. The Lord Himself once said to Śrī Rādhā:—

"My dear Rādhā, just as You are present in Goloka (the Supreme Divine Abode of Śrī Kṛṣṇa) as well as at Gokula in the Form of Śrī Rādhā, similarly in Vaikuṇṭha (the Supreme Abode of Mahāviṣṇu) You are present in the Form of Mahālakṣmī and Saraswatī. As Martyalakṣmī You are the beloved consort of Bhagavān Viṣṇu, who rests on the surface of the Sea of Milk (क्षीरसागरशायी). You are Śānti, an image of Lakṣmī, wife of the son of Dharma. You are the blessed Bhāratī, the devoted wife of Kapila, in Bhārata; and You are Rukmiṇī, the Incarnation of Mahālakṣmī at Dwārakā. The virtuous Draupadī is Your shadow. It is You who manifested Yourself as Sītā at Mithilā. It was You in the Form of Sītā, the beloved Consort of Śrī Rāma, who were forcibly carried away by Rāvaṇa."

(*Brahmavaivarta-Purāṇa, Kṛṣṇa-Khaṇḍa,* Chap. 126)

In reality, it is for the sake of the Blissful Enrapturing Energy (ह्लादिनीशक्ति) that the Lord manifests Himself through various divine Sportive Forms (लीलाविग्रह). It is in order to express more fully and

vividly His own Blissful aspect or to taste that delight under newer circumstances that He manifests that spirit of rapture in the form of Images of Love and derives pleasure and delight from those manifestations. Śrī Rādhā, who is Divine Love personified, is a concrete Image of that spirit of ecstatic rapture of the Lord; in that Form all the different aspects of Love are unified and consolidated. Therefore, Śrī Rādhā is All-Love, and Bhagavān Śrī Kṛṣṇa is All-Bliss. Where there is Delight, there is Love; and where Love is, there is Delight. Śrī Kṛṣṇa is the condensed Form of the essence of Bliss and Śrī Rādhā is the crystallized Form of the essence of Love. Therefore, separation of Śrī Rādhā and Śrī Kṛṣṇa is never possible. Neither can remain without the other. The divine and blissful Form of Śrī Kṛṣṇa exists for the sake of Śrī Rādhā, who is Divine Love personified. She is, as it were, the very lifebreath of Śrī Kṛṣṇa, and *vice versa* Śrī Kṛṣṇa is the spring of life of Śrī Rādhā. Being the crystallized Form of the essence of Love, Śrī Rādhā is the embodiment of Supreme Ecstasy (महाभाव). In that wise She is an eternal and perennial Source of Delight to the heart of Her dearest Śrī Kṛṣṇa, who is the very essence of the nectar of Bliss, the Lord of *Rasa* (Divine Joy), the repository of infinite glory, infinite beauty, sweetness, and elegance; endowed with a Form consisting of *Sat*, *Chit* and *Ānanda* solidified; possessed of incomprehensible Power, and the Enchanter of Souls freed from all worldly enchantments. A countless number of subordinate Śaktis subservient to this Enrapturing Energy (ह्लादिनीशक्ति) also manifest themselves in concrete Forms and are constantly engaged in rendering services to Śrī Rādhā and Śrī Kṛṣṇa in the diverse capacities of friends (companions), associates, or messengers. Their sole function is to give delight to Śrī Rādhā and Śrī

Kṛṣṇa and contribute to their happiness. These subordinate Śaktis are the Gopīs.

Now, the question is: How can the desire for happiness or pleasure be conceived in the case of the *Paramātmā* (Soul of souls), the Supreme *Brahma*, who is eternally blissful, eternally satisfied, eternally existent in one state of Being, and who comprises in Himself countless millions of worlds of creation ? Although the question appears quite reasonable, it cannot be accepted as a final conclusion. Rapture (भाव) and Love (प्रेम) are not different in substance from the *Paramātmā*. Rapture is felt by the Lover in relation to the object of Love, and the object of Love feels rapture in relation to the Lover. The Gopīs are Lovers (channels of Love), and Śrī Kṛṣṇa is the recipient of Love, the object towards which the Love flows. It is the transcendent Divine Love of the Gopīs that gives rise to the transcendent desire for happiness in the Supreme Brahma. It is the Supreme sublimity and purity of that Divine Love which awakens this desire for happiness, this dissatisfaction or sense of want, this manifestation of activity and the craving for delight in the desireless, eternally satisfied, actionless and blissful *Brahma*. Of course, this desire, dissatisfaction or activity, etc. are not born of any craving of the senses, nor are they material like the transient desires, etc. of this material world. For divine Joy and divine Love are inseparable. It is for this reason that Śrī Kṛṣṇa and Śrī Rādhā are eternally inseparable. Śrī Bhagavān says:—

यथा त्वं च तथाहं च भेदो हि नावयोर्ध्रुवम्।

यथा क्षीरे च धावल्यं यथाग्नौ दाहिका सति॥

यथा पृथिव्यां गन्धश्च तथाहं त्वयि संततम्।

"What You are, that I am. There is not the least difference between You and Me. Just as whiteness is always present in milk, the burning capacity in fire and odour in the earth, in the same manner, I always remain in You."

The same thing holds good in the case of Śrī Rāma and Śrī Sītā; Bhagavān Śrī Mahāviṣṇu and Goddess Mahālakṣmī, the mother of the Universe; Bhagavān Śrī Śankara and Śrī Gaurī Devī, also known as Mahāmāyā, the Supreme Enchantress. The same thing is true of Śrī Kṛṣṇa and Śrī Rukmiṇī, the mother of all devotees of the Lord. There remains now the question of marriage of Śrī Rādhā; but how can there be a marriage in the worldly sense in the transcendental plane referred to above. The *Līlā* (Sport) of the Lord of Vṛndāvana itself had no nexus with the material world. From the point of view of the world, Śrī Kṛṣṇa left Vraja for Mathura at the age of eleven. It is hard to conceive how the question of gross love with women can arise at such an immature age. Whereas in the state of supernatural or transcendent existence, they are eternally united. In spite of this, with a view to fulfilling the pledge given to Brahmā, the Lord showed the latter in a lonely forest the divine and super-spiritual Form of Śrī Rādhā, consisting of the purest essence of Love, and there, it is mentioned, the Lord of *Rasa* was formally wedded with *Mahābhāva*, Brahmā acting as the officiating priest. Sri Śrī Rādhā, thus married, is the eternal companion of Bhagavān Śrī Kṛṣṇa. Of course She remains concealed from view. The supremely same enrapturing Forms of this Divine Pair are revealed in exceptional cases to those devotees in the path of Love on whom the particular grace of Bhagavān Śrī Kṛṣṇa descends. It is true that Śrī Rādhā's name does not find explicit

mention in the Bhāgavata; but all the same it is there in a disguised form in the manner as the soul remains concealed within the body. The presence of Śrī Rādhā, the very embodiment of the essence of Love, inspires the divine Love-sports of Śrī Kṛṣṇa, the very essence of Joy. Where Śrī Kṛṣṇa is, it is impossible either to state or to imagine that Śrī Rādhā is not. Letting alone people who have a special predilection for dialectical reasoning, those who belong to the class of devotees or hold the Śāstras in veneration should always bear in mind the following statement of the Lord on this subject:—

"That curse among men, who makes a distinction between us two (Śrī Kṛṣṇa and Śrī Rādhā), has to rot in the infernal region known by the of name *Kālasūtra* till the sun and the moon are in existence (perform their functions). Seven generations preceding him and seven generations coming after suffer from the effect of this evil *Karma* by retrogression from their state of existence, and the merits earned by him through crores of births are utterly destroyed. The wretch who through ignorance reviles us similarly suffers punishment in the direst hell till the sun and the moon endure."

(*Brahmavaivarta-Purāṇa, Kṛṣṇa-Khaṇḍa*, XV. 67-70)

Now remains the question whether the Love of the Gopīs was pure and free from carnality. In this connection I may refer the reader to the following half-verse in the Rāsa-Pañchādhyāyī (the five chapters on Rāsa in the Bhāgavata):—

रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि–

र्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः ।

"Just as an infant plays with the reflection of its image in a mirror, in the same manner the Lord of Lakṣmī (Goddess of Fortune) sported with the beautiful damsels of Vraja."

The Lord, who is the very embodiment of the Sport of Love and the perennial source of delight, is by His very nature susceptible to the influence of Love. It was this Spirit of Love which made Him sport with the blessed Gopīs—who were the very images of Love, and were in reality nothing but His own reflections—through His own Blissful Energy. This sport and enjoyment of His was the enjoyment of Self through Self. So far as the Gopīs are concerned, the sole object of the sport was to minister to the happiness of Śrī Kṛṣṇa without any sense of return. Therefore, there was not the least taint of lust or gross sense-enjoyment in this sport of Love between the Gopīs, who were the very images of love, and the Lord, who is Bliss personified. The Love of the Gopīs represented the purest type of Love in its highest state of expression. Therefore, it is called 'रूढ़ महाभाव' (Supreme Ecstasy in a developed form). The existence of even a taint of sense-gratification cannot be conceived in such a state of ecstasy. Therefore, this divine sport was not the gross earthly sport of lust. It was a purely divine, blissful, unique and mysterious sport, to taste the delight of which the greatest of the gods and liberated souls were extremely eager. It is said that it was for this very purpose that they came and took birth in Vraja as animals, birds, trees and creepers. The capacity to understand and explain either the character of this lustless Love of the Gopīs, or the Supreme Ecstasy (महाभाव) of Śrī Rādhā, the highest among the objects of love of Śrī Kṛṣṇa, and as to how the desire for sport and happiness arises in the *Paramātma*, who is eternally full

through the joy of His own Being, or how He derived pleasure through sport with His own Śaktis manifested in the form of Love,—can be acquired only through the grace of Śrī Kṛṣṇa, by such devotees as have dedicated their lives to Him and to His worship, and have tasted the nectar of His Love. What light can a person like me, who is steeped in the attractions of the world, throw on the subject ? I can only submit my prayer to all with folded hands that none should attribute the impurity of his own heart to the Lord and impugn His transcendent character or call in question His unimpeachable Līlās. Discarding all doubt and disbelief, let him accept for meditation any Name or Form of the Lord that may appear attractive to him, and engage with undivided devotion in the worship and service of the Lord of his heart. He should also guard against the belief that the Names and Forms of God, other than the ones chosen by him, are lower in spiritual value or represent a lower spiritual level; on the contrary, he should regard them only as so many Names and Forms of his own Beloved Lord.

Love of God

By Śrī Hanumānprasād Poddār

[Rendered into English by Śrī C. L. Goswāmī]

In the materialistic science-ridden world of to-day, Love of God, is a rare phenomenon, if not the fantastic phantom of an unbalanced and hallucinated brain. There may be a few people here and there, who have fear of God but a LOVER OF GOD, it is not easy to find. One in a hundred millions or one in an age, is the most one could expect to hear about.

Even in this decrepit age of universal godlessness when surging waves of agnosticism are out to engulf the whole world, India could boast of sages like Swāmī Rāmkṛṣṇa, Vivekānand, Swāmī Rām Tīrtha and such other spiritual luminaries although, she herself could not fully understand, them much less follow them in their foot-steps.

Fear of God makes people bow to Him, for protecting them from misfortune or for beseeching Him to bestow upon them wealth, children, etc., etc. The very prosperity they hanker after makes them soon forget Him when once they get it; if they do not get it, they begin to doubt the very existence of God.

But a true LOVER OF GOD wants nothing for himself. He pants day and night only for the LORD. He finds immense joy in surrendering his all at the lotus feet of the Lord. Day and night he is ever cheerfully busy in serving the Lord, and therein he finds infinite bliss. He will not beg the Lord of anything for how can he bear the very idea of giving Him any trouble for his own sordid self ? For him the Lord alone is all-in-all and having found Him what does there remain to be asked for ? A true “LOVER OF GOD” does not even want the so-called SALVATION, for he knows, that once he is in that state, he can no longer have the good fortune of serving the Lord, who is the heart of his heart, the soul of his soul, the very breath of his life.

It was a feeling like this that made the Gopīs dance to the tune of the Kṛṣṇa's flute. When Uddhava enjoined them to concentrate their mind on Brahma, with a view to achieve Salvation, they retorted thus:—

"Udhavji, one does not possess ten or twenty hearts,
The one there was is gone with Lord Kṛṣṇa,
Where is there another to contem-plate on your Brahma ?
Have done with the talk of salvation,
We have no attachment for your Brahma.
We have given up our hearth and home.
Panting for the love of Our Beloved Kṛṣṇa."

This reminds me of a scene from the Mahābhārata. The Great War between the Kauravas and the Pāṇḍavas had ended. The victory of the Pāṇḍavas was being trumpetted on all sides. Arjuna with Lord Kṛṣṇa, as his driver, was out for a pleasure drive. His face was resplendent with the joy of victory. The mellow breezes were singing the songs of Arjuna's prowess and so were the birds singing on the blossoming trees. The whole nature seemed to have been loaded with the glory of

the victory. The victorious hero of the Mahābhārata was chatting with Lord Kṛṣṇa, on the technique and tactics of the war. The Lord Himself was humouring Arjuna with fulsome praise for his deftness in warfare.

In the very course of the talk, Arjuna was reminded of the VIRAT SWARUP—the UNIVERSAL FORM that he had seen before in the battle-field, previous to his deciding upon war. He began to ponder within himself:

"Nobody could be more blessed than I in having Lord Kṛṣṇa—the Lord of the Universe—for my charioteer. It was the Lord's prowess that Bhīṣma, Droṇa, Karṇa and other great warriors were disposed off. The Lord who enabled me to kill Jayadratha through the great miracle of shadowed and illusory sunset, the Lord who is the Lord of the whole Universe, that the self-same Lord should serve me as a charioteer is because of my unparallel Love for the Lord. The world must know that I am the truest and the most beloved LOVER of the LORD."

The Omniscient, All-benign Lord, feeling that His Bhakta was getting conceited, at once, chalked out a plan for making him shed off his vanity. He cannot let any drawback remain in His devotees.

Arjuna began to feel thirsty but looking all around he could not find water anywhere. He addressed the Lord thus, "Lord, I am feeling awfully thirsty. Pray drive me on to a place where water could be had."

The Lord reined in the horses and pointing to a thatched hut told that a poor woman-devotee of His was living there, and that Arjuna should go there to slake his thirst, but on no account, should he reveal his identity.

Arjuna ran towards the hut and was instantly there to find a beautiful hermitage, fragrant with heavenly flowers. He proceeded towards the door. Hearing the footfall, an old woman, seventy years

old stepped out. She wore a loving smile on her face and fixing her imperious, bright sparkling eyes on the stately figure before her, she in measured tones, enquired, “Are you ARJUNA ?”

Simply dumbfounded, reminded as he was of the injunction of the Lord, and trembling with the fear of a culprit Arjuna replied, “Mother, I am a thirsty way-farer and an humble devotee of Lord Śrī Kṛṣṇa.”

“Good”, rejoined the women, “Come in, sanctify my hut with the dust of your feet. Excuse me, verily you are a *Bhakta* of my Lord, come, come. May the Lord protect you from all evil.”

Overpowered with love for the *Bhakta* of her Lord, she took him inside, furnished him with a beautiful *Kuśa* seat, washed his feet and then engaged herself in arranging hospitality for him.

Arjuna looked all around in the cottage. Besides articles of worship, he was astonished to find on the walls of the hut, a couple of glittering swords, two extra sharp hatchets and a couple of spears, exquisitely well-arranged and heroically displayed.

The old woman re-appeared with a *Kamaṇdalu* of water and sweet *Kadali* (plantain) fruits, neatly peeled and prettily arranged on a Kadali leaf.

With the look of one who was in fright, Arjuna, reverently enquired, “Mother, how is it that there are those sharp, deadly weapons in the hermitage of a pious, kind and saintly lady like you.”

“You take water,” curtly replied the woman, and then mellowing down a bit she added, “Excuse me, these are there for a specific purpose which I am loth to disclose.”

Arjuna, mustering up courage said, “Mother dear, I must know the purpose of their being there and if you do not tell me, I must clear out without taking water. I say this deliberately.”

“Then listen,” retorted the old lady, “I am sick of the vanity of Arjuna, Draupadī and Uttarā. They call themselves Bhaktas of my Lord Kṛṣṇa. Would that that they came my way. With these weapons, I would tear them off and with the flesh and blood of their bodies I would feed the dogs aud vultures. Are you satisfied ?”

For a moment, Arjuna trembled with fear and rage, and then collecting himself up, asked, “What wrong have these Bhaktas of the Lord done you ? Why, you a sister Bhakta of theirs are so bent upon taking their life ?”

The old woman sobbed and wept and then distressfully said, “Sonny, you call those conceited, selfish people, Bhaktas of my Lord. For life, do not disgrace my Lord thus. You call Draupadī, a *Bhakta*. She who forced my Lord to run bare-footed from Dwārkā, just to save her from being stripped naked by Duśāsana ? What, if she was rendered naked ? Was she not naked when she came into the world ? And would she not be naked when she leaves it ?. Is she a *Bhakta* who was the source of so much trouble to the Lord.

“And then, behold, it was the noonday sun of Āṣārh (June-July). The scorching Sun was rafning fire from above, the earth below was emitting flames of fire too. At such a time, you would not stir lest you burnt your skin. Even the birds keep to their nests and do not so much as look out. Ah, it was at such a time that the so-called Bhakta Draupadī made my Lord Kṛṣṇa, with His feet tender like the lotus, run to save her from the curse of Durvāsā,” and flaring up with devotional rage, she asked, “Is that what you call *Bhakti*, LOVE OF THE LORD ?”

"And as to Uttarā. What if the child in her womb had been burnt to ashes by the fire of Brahmāstra ? But, no, that apostate of a *Bhakta* cried piteously and the Lord of my heart, Lord Kṛṣṇa had, perforce, to place Himself between Uttarā and the fire of the Brahmāstra. Fastening your own sins on the Lord, is that what you call *Bhakti*."

"And do you still want to know, what sham it is, that hoax of Arjuna's *Bhakti*. Well, listen. This arch-apostate, Arjuna, placed the darling of Yaśodā, the light of her eyes, the cynosure of the world, my tender Śyāma, the sweet notes of whose flute put stones and beasts into raptures, yes, that arch-apostate Arjuna placed the Lord, all-unarmed, in the front of his chariot to be the victim of the sharp, deadly arrows of warriors like Bhīṣma, Droṇa and Karṇa. And for what, all this ? For regaining his lost sovereignty; lost by gambling, forsooth. I, Oh, what tortures...!! My heart has become like a sieve. And the sufferings of my Lord for this cursed brood of Bhaktas, oh, they are too many and too, too varied. Is that the working of the heart of a true *Bhakta*, a true Lover of the Lord ? Shall I not have a revenge from these self-styled Bhaktas. Those arms over there are thirsting for their blood." The old lady began once more to shed tears in devotional rage and holy remembrance of the Lord.

Arjuna was stung to the quick, as if bitten by hundreds of scorpions and amid that torrent of invective, with a voice half-stifled in the throat could only utter the words, "Ah mother, my mother."

As soon as the old lady had finished, Arjuna fell prostrate at her feet and after he had washed them with tears of love and repentance said, "Hail Mother, you are blessed. You have shown me the real, the true path. Bless me mother, so that I too may have real Love for the Lord and may propitiate Him, even as you have done."

By way of a blessing, the old lady asked Arjuna to take the water that had been lying there, in spite of the awful thirst of Arjuna. He took it, bowed and left.

Arjuna was cursing himself all the way back to where he had left Lord Kṛṣṇa. He fell at His feet and in the anguish of the soul, said, "Pardon me Lord, I am a great sinner. Moulder of my Fate ! I have caused Thee endless annoyance for my selfish ends. I know not what repentance I could offer. Save me Lord, out of Thy abounding Mercy, save me, save this humblest of Thy humble slaves."

The Lord, with a smile took him up into His embrace and said, "O *king*, O son of Kunti, why so afflicted ? What had happened to you, my darling brother ? Warrior-heroes like you do not humble themselves thus."

Now the Lord and Arjuna got into the chariot. Arjuna repeated all that he had seen and heard and with folded hands said, "O Blessed Lord, O Lord of all Illusion, true, abiding Love of Thee is so difficult of achievement, unless Thy Mercy wills it. O Lord of the humble, let me drink deep into the fountain of your devotion, remove the weeds of sinful conceit and vanity and through Thy Infinite Mercy, sow the seeds of True Love and let them blossom forth with the water of Thy tender regard for the true *Bhakta*. Pray, do this, My Lord, the Supreme Master of the universe. My Lord KRISHNA pray do this."

The Lord cast a lovely glance with sweet smiles, once more.

The Philosophy of Love.

By Śrī Hanumānprasād Poddār

[Rendered into English by Śrī C. L. Goswāmī]

1. Love is not love which centres in any object of sense.

2. All conventions and restrictions are automatically relaxed in love—such is the law of love.

3. Love is only a dream so long as conventions and restrictions are deliberately ignored and done away with. Some sort of attachment must be prompting you to do so. In love, you have not to break the laws.

4. There is a peculiar intoxication in love, which does not allow the lover to look to observances and customs of society.

5. In love there is, of course, the quest of happiness, with this difference that the lover looks upon the happiness of the Beloved as his own happiness.

6. A true lover will find happiness even if he has to bear the tortures of hell for the sake of the Beloved, if the Beloved finds joy in it; for he has completely merged his identity in that of his Beloved.

7. A prostitute alone seeks her own gratification and we know, her love has no value, no meaning. A chaste and faithful wife, on the contrary, tries to please her lord even by sacrificing her all. Her happiness lies in making him happy, because she does not recognize anything to be her ‘own’ excepting her husband.

8. If the Beloved flouts the lover in his very presence and shows intimacy to or makes love with a new-comer, the lover does not feel offended or insulted thereby. On the contrary, he will feel immensely pleased to think that his beloved is happy.

9. He alone is eligible for the divine gift of love who can bear the pangs of separation, put up with insult and oppression, threats and reproach, and can afford to remain happy notwithstanding all this.

10. Love knows no expression. The portals of Love are opened only when the lover is prepared to sacrifice his all, surrender his earth and heaven at the feet of the Beloved.

11. It is really very difficult to be blessed with true love. The lover has no right to grumble even if he has to spend his whole life in mere expectation.

12. Love is not a plaything; it is a blazing fire. He alone is able to realize the goal of his life who embraces this fire, forgetting everything else.

13. Love knows no limits. Where there is limit or restriction, rest assured there is no love there.

14. Love is its own reward; one who treads the path of love finds new vigour and encouragement in proceeding further.

15. Love is indescribable. It is to be found hidden in the cave of the Lover's heart: whatever comes out is a mere semblance of it.

16. The divine Rāmachandra is recorded to have sent the following message to Śrī Sītā to mitigate her pangs of separation:—

"O My Beloved ! My heart alone can feel the intensity of love subsisting between you and Me and that heart is ever with you. Know this much to be the secret of love." *

---

* तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मनु मोरा॥

सो मनु रहत सदा तोहि पाहीं। जानु प्रीति रस एतनेहि माहीं॥

17. Kabir says:—

"Love does not grow in a garden, Love does not sell in the market. Prince or pauper, whoever may desire, can have it in exchange for his life. So long as there was 'I', Hari was not; now that there is Hari, 'I' is gone. The path of love is very narrow and the two cannot go together." †

† प्रेम न बाड़ी नीपजै, प्रेम न हाट बिकाय। राजा परजा जेहि रुचै, सीस देइ ले जाय॥

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं। प्रेम गली अति साँकरी, तामें दो न समाहिं॥

Thy Laughter !

By Śrī Hanumānprasād Poddār

[Rendered into English by Śrī C. L. Goswāmī]

O Delighter of my soul ! Thou art very playful indeed. How marvellous and soul-enrapturing are Thy plays ! Thou makest Thy creatures dance in tune to the entrancing music of Thy Flute and keepest watching from a distance with glee. This universe is nothing but an expression of Thy incessant mirth, but Thy laughter is ever presenting new vistas of joy. One phase of it brings the universe into existence, another sustains it and a third dissolves it. But Thou keepest on laughing all the time. So many scenes are enacted, but Thy laughter knows no abatement. They interpret it in so many ways and there is nothing wrong in their doing so, because it presents itself to their view in diverse forms. Herein lies the peculiarity of Thy laughter; herein do we witness the wonderful spectable of Thy merriment. A babe makes its appearance in a household and Thou laughest. The child grows into manhood, enjoys the pleasures of the world and indulges in luxuries; You still go on laughing. And, when he closes his eyes for ever, plunging the whole family in a sea of grief and sorrow, even then Thy laughter does not cease. In fact, this laughter of Thine knows no beginning or end.

They seek to unravel the mystery of Thy laughter by dint of their intellectual calibre, which is but limited, nay, warped by love of pleasure and infatuation. This shows that their intellect has, through a process of attenuation, become so subtle as to be on the verge of extinction ! A minute particle of water seeks to gauge the fathomless ocean, which is full on all sides and has no limits ! This is surely an impossibility. So long as the particle stands apart it will not be able to fathom the ocean. And if in its eagerness to measure the depth of the ocean it dives into it, it will lose its identity and become one with the ocean, so that there will be no one left to measure it. The seeker itself

will have been lost. Therefore, O Charmer of Sages, to me it appears that no one in this world has got the capacity to know the secret of this laughter of Thine. No doubt, some extraordinary lovers of Thine may be able to know it through Thy grace; but to us it makes no difference, for such lovers no longer remain apart from Thee. Goswami Tulasidas has truly said:—

"He alone is able to know Thee, to whom Thou makest Thyself known. And as soon as he knows Thee he becomes one with Thee."*

He who feels the charm of Thy bewitching smile and, running towards Thee, catches hold of Thy lotus-like feet, him You never part from Thy lap; while those who are blinded by love of worldly pleasures can have no knowledge of Thy secrets.

The wonder of it is that we nevertheless claim to have lifted the veil off Thy mysteries and pronounce what does not appeal to our common sense as impossible even for Thee. Surely Thou must be feeling pity for this puerility of ours, O Reservoir of Mercy.

Blessed indeed are sages like Maharşi Vālmīki, and Maharşi Vedavyāsa and saints like Goswāmi Tulasīdās and Sūrdās through whose immortal compositions You mercifully made known some of Thy soul-enrapturing Līlās to the world at large. The divine lustre shed by these Līlās of Thine illuminated the gloomy path of attractive souls, who with the help of that light easily reached their destination and attained everlasting bliss. These Līlās of Thine are, however, exceedingly wonderful, extraordinary and attractive; even great intellectual giants are at their wit's end to understand their significance and get bewildered. Of course, those who shake off the

* सो जानै जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई॥

false pride of wisdom and surrender themselves at Thy feet with unflinching faith and devotion, the impenetrable veil of *Māyā* (Illusion) is lifted off their eyes of discrimination.

Pray so ordain, my Lord, that in every circumstance and at every time, nay, in every object and in every movement, I may be able to behold living, perfect, and integral images of Thy sweet, eternal infinite Mercy and that perfect image of Thy grace may never disappear from my view. Then and then alone can the secret of Thy laughter be unravelled.

My Darling !

By Śrī Hanumānprasād Poddār

[Rendered into English by Śrī C. L. Goswāmī]

Kṛṣṇa ! my darling ! it is to the dulcet tune of Thy bewitching flute that this actress of *Māyā* is dancing her soul-enthralling dance. It is at Thy prompting that the great Rudra, the terrible God of Destruction, is incessantly carrying on His violent Tāṇḍava dance. It is to please Thee that the ever-jubilant Nārada is dancing his ecstatic dance, with his fingers dexterously moving on the strings of his celestial lute. It is to win Thy favour that great sages like Vyāsa, Vālmīki, Śukadeva and Sanaka brothers sing Thy praises, moving from one place to another, mad in Thy love. Thy beauty is indeed marvellous. It maddens Thine own self, so that there is no wonder that sages and seers, saints and holy men and devotees and God- intoxicated men should stake their all (whatever they own in this world and whatever they hope to get hereafter) for Thy sake. Thou art an endless and unfathomable ocean of bliss, obtaining a small particle of which great scholars and ascetics regard their life fulfilled. Thy very being is an inexhaustible store-house of ineffable love. A small particle of Thy unbounded love has found its way into the oozing breasts of all mothers, the heaving bosom of all sighing lovers, and the hearts of all loving friends, nay, into all that we love in this world, and made the whole world sweet and savoury. A perennial and endless stream of wisdom flows from the particles of dust clinging to Thy lotus feet: that is why great sages and holy men yearn for the dust of Thy blessed feet.

Is there anyone who can count the infinite divine qualities of Thy qualityless being ? No one is potent enough to fathom Thy unfathomable wisdom, which is Thy very being and which is beyond the pale of *Prakṛti* (Nature). No one has got the power to get a full vision of Thy eternal and world-enchanting beauty and correctly describe it, formless as Thou art. What true lover is there who on

entering Thy being, which is a boundless ocean of divine love, can remain without merging himself in its unfathomable depths ? Tell me, then, as to who can describe or discuss Thy beauty, Thy virtues, Thy wisdom and Thy love, and how ? Thou and Thou alone art, O beloved Kṛṣṇa. Whatever is said about Thee is insufficient. Even a glimpse of Thy beauty, virtues, wisdom and love, obtained through meditation and knowledge, cannot touch, much less truly describe even a shadow or imaginary picture of Thy real being, which is beyond the conception of time and space, and which is an inexhaustible store-house of blessedness. Such being the case, mere flights of imagination, devoid of experience, are of no value. As a matter of fact, the loftiest conception of Thy being and qualities reached by human mind and expressed by human tongue does not correctly describe them. Nay, it is derogatory to Thee just like the effort of one who describes a great emperor as a small Zamindar. Thou art All-merciful. Thy lovers say that You are never displeased with the boyish pranks of Thy beloved children but are pleased like a loving mother with those who think of Thee or sing Thy name in any way. I, too, take liberties with Thee, relying on this indulgent disposition of Thine. But who am I to take liberties with Thee ? It is Thou who makest us dance like so many puppets. Who am I to indulge in wanton frolics, a base and wily creature as I am ? Do as Thou deemest fit. Who can say 'no' to what Thou willest ? Of course, I ask one boon of Thee. Pray drop in my ears occasionally the sweet melody of Thy bewitching flute and, if You so like, also kindly allow me to taste a few drops of Thy nectar-like beauty, which enchants the whole universe.

Devotee

By Śrī Hanumānprasād Poddār

[Rendered into English by Śrī C. L. Goswāmī]

Some people, these days, have persuaded themselves to believe that the path of Devotion is strewn with roses and that one can become a perfect devotee even though wallowing in the mire of sins and gross vice. This accounts for the fact that any number of the so-called Bhaktas can be had in India to-day. There are people who repeat the name of God once or twice out of lust, anger, avarice, or hypocrisy, or wear the costume of a devotee, and proclaim themselves Bhaktas. They never stop to think that a *Bhakta* has to undergo fiery ordeals, that he is required to quaff poison with all reverence and love, taking it to be a gift of God, and that he has to give up all attachment, with sensual enjoyments and luxuries, worldly possessions and even his dear and near ones, and dedicate himself with all his being to the Lord. True devotion is attained only by serving the Lord in a disinterested way through the performance of one's legitimate duties, after comprehending the nature of God through spiritual knowledge. A devotee is God's own man (निजजन). The Lord bears the whole burden of his योगक्षेम (supplying his wants and preserving what he has already attained) and takes upon himself the duty of looking after his comforts and protecting him against all mishaps. Hence a devotee is altogether free from sins and afflictions. He embodies in himself the highest ideal for the world to follow, for he manifests in himself the divine virtues of the Lord. Only such devotees are dear to the Lord, and it is for the redemption of such devotees alone that He holds himself responsible. A devotee dedicates his heart, his mind and intellect, his body, his family, his wealth and other possessions, nay, his very desires and ambitions, and everything else, to the Lord, and becomes free from cares and anxieties. He finds his Lord pervading the whole universe; hence he offers his love to all the creatures of the world, moving and

motionless, and is almost mad after serving them. In Tulasīdās' *Rāmāyaṇ* Lord Śrī Rāma characterises a devotee thus:—

सो अनन्य जाकी असि मति न टरै हनुमंत।

मैं सेवक सचराचर रूपरासि भगवंत॥

"Know him to be My exclusive devotee who always looks upon the universe as My image and is keen to serve it as such."

The life of such an exclusive devotee is wholly dedicated to the Lord: all his actions are God's actions. He is solely devoted to the Lord and worships Him alone. He has no attachment with anything connected with the world and bears ill-will against none, nay, not even against those who bear a hostile attitude towards him. He knows nobody except his Lord and finds His divine activity manifested everywhere and at all times in the universe. Life and death are equally agreeable to him. A Hindi poet has well said:—

जीवन–मरण चरणके चाकर, चिन्तारहित चित्त है नित्य।

"He looks upon life and death as subservient to the will of his Lord; his mind is therefore always free from worries and anxieties."

He never feels wearied of his existence, nor does he ever shudder at the thought of death. If death—which is so terrible in the eyes of the world—ever presents itself before him with a view to pleasing the Lord, he finds it very attractive and runs to embrace it with great love and ardour. He feels that no one else but his Lord has appeared before him in the guise of death, to bless him with a vision of His divine form and to take him in his arms. He recalls to his mind the declaration made by the Lord in the *Gītā*, viz., that "He is all-devouring Death" (मृत्युः सर्वहरश्चाहम्), and greets Him in that form with a heart full of joy. That is why a devotee cheerfully lays down his life at the altar of his

faith in order to please his Lord. He deems it a proud privilege to part with his life for the sake of the Lord. He hastens to sacrifice his life, just as a pauper runs after money, wherever, whenever and in whatever manner he feels he is called upon by the Lord to part with it. The poet Nārāyaṇa says:—

जो सिर साँटै हरि मिलें तो हरि लीजै दौर।

नारायन या देरमें गाँहक आवै और॥

"If you can get hold of the Lord even by wagering your head for it, you will be well-advised to do so at once. Who knows, says Nārāyana, another customer may come forward in the meanwhile."

Such devotees carry their head in the palm of their hands, as it were, seeking an opportunity to lay it at the feet of the Lord ! And they consider themselves very lucky if they can make it of any use to the Lord. That is the reason why even the gravest danger cannot deflect them from the path of righteousness; nay, not even the greatest calamity can deter them from following the path of God-realization

यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(*Gītā 6. 22.*)

Wild elephants, mad with fury, were let loose against Prahlāda to trample him under their feet, attempts were made to have him bitten by huge venomous serpents; magic spells and deceitful tricks were also used against him; nay, he was hurled from high mountain-peaks, pent up in a dark cell filled with poisonous gases and crushed under the dead weight of huge rocks; but Prahlāda was firm like a mountain. His faith in the Lord was unshakeable and he would not budge an inch from his determination. He did not give way to fear nor did he die. He emerged safe from all these ordeals, leaving his father in great

bewilderment. Hiraṇyakaśipu had at last to acknowledge the superiority of his son's prowess and wondered how intrepid he was, even though a child. Now, where did the strength of Prahlāda lie ? What superhuman power did he possess which enabled him to set at naught the vast resources of his mighty father and to baffle all the attempts made by him upon his life ? The answer is—he was a devotee of God, his heart was overflowing with divine Love. He had placed himself entirely in the charge of the mighty Lord of the universe and had accordingly become fearless and free from all sorts of worries and anxieties. He strongly believed—nay, acually perceived—that the whole universe was pervaded by the Lord, that everything in the world was an image of the Lord. Thus whatever weapons Hiraṇyakasipu used to make short work of him appeared to him as God Himself. Such being the case, how could the Lord kill His own devotee? Nay, in order to vindicate the truth of his statement and to give ocular proof of his omnipresence the Lord who pervades the whole universe in His unmanifest form emerged out of a stone pillar in a wonderful form, half-man, half-lion. A Hindi poet has beautifully expressed this idea in the following line:—

प्रेम बड़ो प्रहलादहिको जिन पाहनते परमेसुर काढ़े।

"Great, indeed, was the love of Prahlāda who manifested God out of a stone pillar."

Mīrā cheerfully drank the cup of poison sent to her by her brother-in-law; the celebrated Bhakta Haridās willingly underwent the tortures inflicted on his person by the Mohammedan officers, loudly chanting the names of the Lord all the time, and begged forgiveness of the Lord for the sins of his oppressors. This should not be taken to mean that devotees are cowards and hence they put up with every wrong. A coward can never be forbearing. He is afraid of death and would

always try to avoid danger. He would in his heart of hearts resent a wrong done to him and would even curse the wrong-doer. The heart of a devotee, however, is always replete with forgiveness, compassion, harmlessness, love and other such virtues. That is why he harms no one. Nay, he seeks to do good to others even though he may have to undergo some hardships in doing so, He does a good turn even to those who harm him. Hence ignorant people take him to be weak and cowardly. In fact, however, devotees are very brave. Forgiveness, harmlessness, compassion, etc. are virtues subsisting in those who are brave, and not in cowards. People, these days, assume the garb of devotees, while their heart is tormented by fears of various kinds. Assuming the existence of spirits and ghosts, they begin to tremble out of fear, while going along a particular road. For fear of catching infection they give up nursing their own dear and near ones who may be suffering from an infectious disease, and thus demonstrate their callousness. For fear of incurring opprobrium in society or losing their false prestige they are loth to abandon even such customs as are ostensibly sinful. They hesitate in giving up their vicious practices even though knowing them to be such. They lend their moral support to an unjust and unrighteous rule for fear of being sent to gaol or fined. They take leave of divine virtues like truthfulness, harmlessness and honesty, for fear of incurring loss of wealth and property. Nay, they coax and cajole sinners and wrong-doers and knowingly support them with a selfish motive. Surely, all this is not Bhakta-like. A devotee never swerves from the path of duty out of fear, nor does he ever commit a sin out of greed or fear. He never hesitates in abandoning an immoral practice, nor does he give up nursing an invalid for fear of catching infection or losing his life. And he never countenances injustice. Having found shelter under the protecting feet of the Lord, he banishes fear out of his mind once for all, becomes fearless for all time to come. To behave civilly with all and to speak sweet and useful words

becomes a second nature with him, although he is not afraid of even death in speaking the truth. When a man feels secure even after having taken shelter with an ordinary Police Officer or magistrate, how can one who has clung to the protecting feet of the Lord (who is the Devourer even of Death and a terror to the God of Death) be afraid of anyone ? A baby resting in the comfortable lap of its mother can have no fear, no anxiety. One who is haunted by fear, even though believing himself to be a devotee of God who is the supreme Mother, Father and Grandfather, all in one (माता पिता पितामहः), has neither appraised the worth of God nor has he turned his face towards Him. On dedicating oneself to the Lord one has no room left for fear. It is His vow to render him immune from fear who betakes himself to the Lord only once:—

अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

A true devotee can never abandon the path of virtue, the path of service of God, for fear of any harm befalling himself. His body, mind and money—all belongs to God. Under such circumstances what harm can befall him if he devotes them to the service of God. On the contrary, he considers his proud privilege and a matter of immense gratification to him to be able to do so. Hence a devotee regards himself very lucky if he dies in harness while nursing an invalid or spends his whole fortune in feeding the hungry and the poor.

Remembrance of God and repetition of His names becomes an automatic process with him like respiration. He has no duty left for himself except service of God. Whatever he does, even his bodily functions and daily routine such as eating and drinking, he does for the Lord. He survives in the world only because his Lord wants that he should continue to exist in that particular form and to be called by that

particular name. He has no interest left in the world nor is he keen to renounce it. He has no attraction for worldly enjoyments nor does he decry renunciation. He conducts himself in accordance with the wishes of his Lord, dances to His tunes, and becomes an instrument in His hands. He is indifferent to honour and indignity as also to pleasure and pain. If the game of his Lord is accomplished by his being insulted or subjected to hardships, he rejoices in it. Likewise, if His drama is properly enacted by his being honoured or made to enjoy pleasure, he gladly accepts both. He does not covet honour or worldly pleasures like those who are given to sense-gratification, nor does he show his aversion to them like one who has renounced the world. In accordance with some secret hint received from the Lord he applies himself whole-heartedly to that which pleases the Lord, which fulfils the game of the Lord, giving up all notions of shame and fear or gain and loss. He experiences great joy in doing so. To say nothing of worldly enjoyments, he considers even the bliss arising out of liberation as nothing compared to this joy. He does not accept the gift of salvation offered by the Lord Himself and takes delight only in serving the Lord as desired by Him—**दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः** । Such a devotee is a natural friend of all. He does not take the life of any creature or inflict pain on anyone with a selfish motive, even for the sake of universal sovereignty or even heavenly bliss, much less for the sake of any worldly enjoyment or sensual pleasure. He is, however, always prepared even to offer battle to his enemies to vindicate a righteous cause and to kill and be killed for the sahe of the Lord, in order to fulfil His game and in response to a hint from him. Vices like lust, anger, greed, hypocrisy, fear, pride, selfishness, violence, negligence, sloth and so on evacuate his heart once for all and virtues like compassion, harmlessness, forgiveness, bravery, modesty, spirit of service, purity, selflessness, love, truthfulness, continence, serenity, self-control, absence of attachment with worldly enjoyments, dispassion,

attachment with every one taken as an image of God, absence of pride, pride over one's connection with the Lord, contentment, even-mindedness, etc. develop in as a matter of course, as necessary adjuncts to Devotion. Ardour, perseverance, purity, faith, tranquillity, cheerfulness, etc. are his constant companions. He does not coerce others nor does he allow himself to be coerced by others. He never intimidates others nor is he afraid of anybody. He does not molest anyone nor does he fall molested by others.

He is the friend of all, everyone's kinsman and relation and a true servant of all. He is truth incarnate, an ocean of patience, an abode of forgiveness, a mass of splendour, fearlessness personified, and a store-house of love. Influenced by his pure and ideal behaviour, the hearts of worldly creatures naturally turn towards God. Such a devotee is really the most beloved and trusted messenger of God. He abides in the Lord at all times and the Lord always abides in the chamber of his heart.

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(*Gītā 6.30*)

Practices leading to Devotion.

By Śrī Hanumānprasād Poddār

[Rendered into English by Śrī C. L. Goswāmī]

A few rules of conduct are recommended below for observance by those who are treading the path of Devotion. The more completely they are followed the greater benefit will accrue therefrom to the practicant.

1. One should altogether give up lying, thieving, harming others, adultery and eating prohibited food.

2. One should never assume false appearances: one should try to ***become*** a devotee and should on no account ***pose*** as one.

3. One should relinquish all sorts of desires: he should seek nothing from God in return for his devotion.

4. One should give up the eight* forms of sexual enjoyment: one should copulate with his wedded consort as seldom as possible. The best thing would be to give up copulation altogether. This should, of course, be done with the mutual consent of both (husband and wife).

5. One should have absolutely no connection with those of the other sex. One should take care never to see a person belonging to the opposite sex or talk with him or her in seclusion.

---

*The eight forms of sexual enjoyment are:—mental enjoyment (स्मरण), talking of such enjoyment (कीर्तन), amorous sport (केलि), casting amorous looks (प्रेक्षण), indulging in amorous talks (गुह्य भाषण), intention to copulate (संकल्प), resolution (अध्यवसाय), and the actual process (क्रियानिष्पत्ति).

6. One should never seek honour, nor should he be afraid of insult or indignity. He should practise humility and submissiveness, should never speak harsh or unpleasant words, should bear ill-will to none, should never indulge in idle gossip or vilification of others, and should hate no one.

7. One should serve those who may be suffering from some disease or are incapacitated in body or helpless, in all possible ways, with mind, body and money. He should make it a point not to take service from others as far as possible.

8. One should avoid as far as possible societies and other public bodies and should read newspapers as sparingly as possible; he had better not read them at all.

9. One should respect all, love all and should be ever ready to serve all.

10. One should not reason with others, should not enter into discussion or controversy with others.

11. One should have a firm belief and supreme faith in God and His name, His devotees, and works dealing with His *Bhakti*.

12. One should never denounce others' religion or mode of worship.

13. One should not detect others' faults; let him discover his own faults and expose them.

14. One should serve his parents and other elders, as well as his master.

15. One should meditate on or mentally worship the Lord and recite prayers to Him both in the morning and evening every day.

16. One should repeat the Divine name of his choice at least 25,000 times daily. One can complete this number by completing 16 Mālās (or rosaries of 108 beads each) of the following Mantra:—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

This is, however, meant only for the Hindus. The followers of other faiths can similarly repeat the names of their respective Prophets or other names recommended in their scriptures.

17. One should induce all the members of his family (including ladies, gentlemen, and children) to chant the Divine Name in a chorus and with absorbed attention at least for 15 minutes regularly every day.

18. One should read at least one chapter of *Śrīmad Bhagavadgītā* daily, keeping one's eye on its meaning as well.

19. One should make it a point to have the Darshan of an image of the Lord daily. If he has got a temple close to his house and if he is entitled to visit it, he should visit the same, or else he may keep an image or picture of the Lord at his own house and obtain its Darshan. This, as well as the following item, is meant for only those who believe in idol-worship. It should, however, be borne in mind here that those who practise idol-worship so-called do not really worship the idol as such but the Lord Himself who is present in the idol.

20. As far as possible, one should practise idol-worship daily. Ladies need not go to a temple: they should keep an image of the Lord at their own house and worship it with due ceremony.

21. One should turn his back upon all worldly things as objects of enjoyment, but should learn to love them all as so many images of the Lord.

22. One should never entertain doubts regarding God and His Incarnations nor as regards saints and godly men.

23. One should read, hear discourses on and ponder over the meaning of, books like the *Upaniṣads*, *Śrīmad Bhagavadgītā*, *Śrīmad Bhāgavata* (at least Book XI), *Māhābhārata* (at least *Śāntiparva* and *Anuśāsanaparva*), the *Rāmāyaṇa* of *Vālmīki*, the *Rāmacharitamānasa* of *Goswāmī Tulasīdās*, *Sundaravilāsa* of *Sundardās*, the *Dāsabodha* of *Samartha Rāmdās*, the *Bhaktamāla* and other lives of saints and devotees, and other such books. People of other faiths can read their own scriptures.

24. Instead of trying to ascertain the dates of incarnation of Śrī Rāma, Śrī Kṛṣṇa, Śrī Narasiṃha and other incarnations of the Lord and submitting their lives to a critical test, one should remember them and adore them with devotion. One who partakes of the mango fruit is wiser than one who is engaged in the vain pursuit of counting the trees. Life is too short to be frittered away in trifles.

Perception of God.

By Śrī Hanumānprasād Poddār

[Rendered into English by Śrī C. L. Goswāmī]

A certain Gujerati getleman has asked the following questions. I have purposely omitted to give his name, since he has asked me not to publish it. I have, of course, changed the wordings of the questions here and there, while preserving the sense intact. The questions are as follows:—

1. Some saints allege that it is not possible to see God face to face in this age. Is it worth believing ? If we believe it for a moment, is it a fiction that devotees like Goswami Tulasidas, Narasi Mehta and others were blessed with the sight of the soul-captivating form of the Lord ?

2. Is it possible to get the beloved Śrī Kṛṣṇa in front of us at close quarters and have a heart-to-heart talk with Him as you and I may meet and talk together ? If so, what means should be adopted in order to be able to see that charming figure at the earliest possible date ?

3. So long as these mortal eyes do not feast on that lovely form to their satisfaction, they are of no avail. What is the surest way to make them attain their true worth ?

4. A burning desire for the sight of Śrī Kṛṣṇa has been kindled in the heart; I am at a loss why it does not blaze forth and manifest itself vividly. This has made me all the more uneasy.

Along with these questions my friend has written many more things which lead one to believe that a desire to see the Lord has been kindled in his heart. Authoritative answers to these questions can be given by those exalted and revered souls who have had the rare fortune to witness that soul-enthralling divine form of the Lord. I shall also attempt to answer these questions in the light of whatever I have been able from time to time to gather from their inspired talks. Before

proceeding to answer the questions, however, I should like to express my heartfelt gratitude to the questioner who has through these questions afforded me a splendid opportunity to talk of God and His unbounded Mercy. Instead of discussing the questions individually I would prefer to treat them as one question and answer them as such in the form of an essay.

I have a strong conviction in my mind that we can certainly perceive God in this age; nay, we can do so more speedily and more easily, too, in this than in any other age. I have no doubt in my mind that that paragon of devotees, Goswami Tulasidas, Narasi Mehta, and other lovers of God actually perceived Him with their own eyes. It is open to a loving devotee to have a heart-to-heart talk with his beloved Lord, if he so desires, like two chummies. Of course, the devotee must have reached that stage where this sort of communion is possible and permissible. We have records of the lives of numerous devotees which bear testimony to this fact. A burning and intense desire to see the Lord is the best means of speedily obtaining His *darshan*. It is not very difficult to obtain His divine vision if we pine for His sight in the same way as a drowning person is impatient to come out of water. Of course, our pining should be real and not artificial. The Lord cannot help appearing in person before that blessed devotee who feels the same type of natural and genuine agony for the Lord as one feels when he is on the point of losing one's only son or when one's honour and prestige that he and his family have enjoyed for centuries past is at stake. Such agony is experienced only when the devotee comes to recognize God as above everything else in the world, when he turns his back on all sense-enjoyments of this world and the next as altogether worthless and of no consequence and has surrendered his all—his life, property, power, honour, sense of decorum, worldly duties and religious obligations, at the feet of his beloved Śrī Kṛṣṇa.

The sage Nārada has defined Devotion (भक्ति) as surrendering all one's actions to God and feeling great uneasiness in forgetting Him— 'तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परम व्याकुलता' (*Bhakti Sūtras, 9*). So long as the desire for worldly enjoyments persists, so long as the transitory things of the world appeal to us as attractive, delightful and gratifying to the senses, and so long as we relish them, it should be understood that we have not vacated the heart fully for the occupation of the Lord. Goswami Tulasidas has said in one of his songs:—

जो मोहि राम लागते मीठे।

तौ नवरस षटरस रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे॥

"Had I got the least attraction for the Lord, all other attractions would have disappeared."

The response that we get from God is commensurate with the room we allot to Him in our heart. So long as we do not keep our whole heart open for His occupation, so long as the love of our heart does not flow in a ceaseless stream towards the Lord, we cannot experience a pang of separation from Him; so long as we do not pine for the Lord He, too, would not pine for us. For, the following is His watchword:—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

"However men approach Me, even so do I receive them."

When the devotee gets absorbed in thoughts of the Lord and, renouncing his house and property, wife and son, this world and the next, joy and sorrow, honour and ignominy, like one intoxicated, pines for the Lord, when he cannot bear even a moment's separation from Him as a fish taken out of water, when the pangs of separation make him restless like the blessed cow-maids of Brindaban, he can obtain a

vision of the Lord in no time. But we do not generally experience that sort of agony for the Lord. That is why His *darshan* is being withheld from us. Have we ever in the whole span of our life striven for His *darshan* or pined for Him as much as we do for wealth and progeny, honour and fame. Almost all of us knock about from one place to another and clamour for wealth and honour which are so trifling. Have we ever shed a tear out of real agony for the Lord ? Such being the case, how can we murmur against our inability to obtain His *darshan*. Do we ever long for His vision ? No, we have given over full possession of our heart to dirty sense-enjoyments of the world. Is there any one who can maintain his equanimity when afflicted by a strong appetite or parching thirst ? Our craving for sense-enjoyments and indifference towards God, however, shows that we are not yet athirst for His vision, our soul does not hunger for Him. The moment we feel athirst for Him we shall not be able to bear the sight of anything else than God. Our mind would then withdraw from everything else and would be absorbed in His thoughts. Just as, on our acquiring the sovereignty of a vast empire, our mind would naturally turn away from a business which yields us a profit of a few farthings only, similarly, the biggest enjoyments of the world would then appear to us as trivial and dry. Then we shall have no attraction left in our mind for the world and will be reminded at every moment of the delightful and comely appearance of the Lord. The only reason why we do not feel fully drawn towards the Lord in spite of His being supremely delightful and lovely, is that we have not yet realized His true worth and real greatness. That is why we have turned our backs on His nectar-like form and are knocking about day and night for worldly enjoyments, which are like sweets mixed with poison, and, partaking of them, meet with repeated deaths. It is not so difficult to obtain His vision as to have a genuine and exclusive longing for the same. The Lord, who is

eternal and omnipresent, is to be found everywhere at all times. How, then, can it be believed that He is not open to perception in a particular age. Those who say like that are either lacking in faith or they have never had an opportunity to understand the true nature of God.

There is no doubt about the fact that the true worth of the eyes can be realized only when they are enabled to have the ever-new world-captivating form of the Lord constantly before them and feast on the same with an insatiable passion. But, so long as these eyes do not get divinised through His grace they are precluded from obtaining a vision of that maddening beauty. The supreme mental agony that we have referred to above is the surest way to divinise them and make them attain their true value. The blessed gentleman who has the fire of separation from Śrī Kṛṣṇa blazing in his heart deserves all praise. This fire does not generally manifest itself, and, whenever the agony of separation becomes altogether unbearable for the devotee and bursts forth into expression, it instantaneously burns away the whole stock of his sins and afflictions and makes him mad with love. At that moment the devotee forgets everything in his madness, like the cow-maids of Vraja, and, impatient to meet his beloved Lord, invokes Him with his whole strength and zeal. It is at this moment that he is blessed with the Divine vision of the Lord, and he sees Him in the same form in which he wishes to see Him and His communion and talk, too, is of the same nature as he may have desired before.

In order to reach this consummation, an aspirant should try to understand a bit of the incomparable greatness of God, through association with saints, and generate in his heart some love for God through constant meditation on Him and repetition of His name. In proportion as the heart gets filled with Divine love it will be emptied

of sensual enjoyments; and, in this way, the moment he is able to vacate the whole of his heart for the enthronement of the Lord, he will feel great agony in his heart for the Lord and this agony, becoming very acute, will create an agony of equal intensity in the heart of the Lord and compel Him to appear before the devotee. And then the hour will not be far when the blessed union of the devotee and his Lord will take place, rendering the whole earth sacred thereby.

You must find time.

By Śrī Hanumānprasād Poddār

[Rendered into English by Śrī C. L. Goswāmī]

Cleanse your mind first

It is a cold wintry day. The tailor is busy with his work, basking in the sun in front of his house. His young boy approached him from inside the house and said, “Papa, it is very cold to-day; pray, make me a jacket.” “The sun has just risen, my darling,” replied the tailor. “Bask yourself a little; I shall prepare one for you to-day, if I get time.” The boy waited there a while, and presently got up, saying “Please do get the jacket ready to-day, papa.” The tailor, who was busy conversing with two new customers, gave no reply, and the boy went inside the house and thought no more of the jacket. Early next morning, the mother of the child renewed the request, saying that the boy had been shivering with cold for the past so many days and crying for a jacket. “It is rather strange,” she added, “that you could not find time to make a small jacket for the boy. Pray get me a piece of cloth and I shall do it presently.” The tailor said, “What you say is perfectly right; but tell me when am I to take up this work. Cold weather has just set in and the customers plague me with their reminders day and night. I do not get time even to prepare their clothes; I am so hard pressed for time. Don't you see. I go without clothes myself ? Am I proof against climatic changes ? I must get time even to fetch cloth from the bazzar.” “You might as well get the cloth through any one,” retorted the tailoress. “You have so many customers waiting at your door every time; why don't you ask any of them to get the cloth for you ?”

“What will it avail, even if some one fetches the cloth for me ?” replied the tailor. “I have so many clothes of my customers to prepare that both you and I shall have to work at them for a number of days continually in order to be able to dispose of them. And, if I get more work in the meantime, we shall not be able to do so even then.”

“There will be no end to your work,” said the tailoress. “The whole winter will have passed before you are able to dispose of your customer's clothes and in the meantime, God forbid, if you or the boy catches cold and fever, what will happen to me ?” “What am I to do ?” replied the tailor rather coldly, “I have no time to spare just at the present moment.”

Similar is the case with the so-called teachers of mankind; they get no respite from the work of teaching others. (A tailor at least fits others with clothes and thus protects them against heat and cold, but these so-called teachers or preachers practically waste the whole of their time). But a day will come when they will get complete rest from their work, a rest which will know no hindrance. To say nothing of these poor people, even those who have boards bearing the words “No time” hanging at their doors and who are always found murmuring that they have no breathing time, will automatically get full leisure to roll in the ashes of the cremation-ground.

Hence it will be wise of you if you spare time beforehand. Leisure is not something to be imported from outside: it has to be found out at any rate. You will greatly repent if you find your life a great void in the end. You should therefore set apart some time at least from the work of redeeming others and serving your motherland, and utilize it in redeeming and serving your own self. It is only when you have washed off your own sins that you will find yourself equal to the task of serving your motherland and, later on, the entire universe.

The saint-poet Nārāyana says:—

"Let the world do whatever it takes into its head to do, no matter whether it is good or bad; what you should do is to put your own house in order." *

"You have spent decades in trying to purge the world of its sins ! You should therefore clean your own mind first; or else it will continue to remain dirty, (however you may try to clean others)." †

* तेरे भावै जो करौ भलौ बुरौ संसार।
नारायन तू बैठकै अपनो भवन बुहार॥

† जग अघ धोवत जुग गए, धुप्यौ न मनको मैल।
मन मल पहले धोयलै, नतरु मैलको मैल॥

बिखरे मोती

पूज्य श्रीगोस्वामीजीसे सम्बन्धित विभिन्न लघु संस्मरण

पूज्य श्रीगोस्वामीजीसे सम्बन्धित विभिन्न लघु संस्मरण

पूज्य स्वामी श्रीकृष्णप्रेमजी द्वारा संकलित संस्मरण

(१)

आश्विन सं. १९७७ वि. में बीकानेरमें तत्कालीन महाराजा श्रीगंगासिंहजी युवराज पदपर प्रतिष्ठित हुए। इसके पूर्व महाराजा नाबालिग थे। राज्य–शासन अंग्रेज रेजीडेण्ट द्वारा किया जाता था। इस अवसरपर बीकानेर शहर एवं सर्वत्र राज्यमें महोत्सव मनाया गया।

उस समय सभी प्रतिष्ठित नागरिकों एवं विद्वानोंको निमंत्रण दिया गया। इस उत्सवमें महाराजा गंगासिंहजीने श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीको, राज्यके अतिशय मेधावी छात्र समझकर काशीसे विशेष बुलावा देकर निमंत्रित किया। ये बीकानेर राज्यके प्रथम ऐसे मेधावी छात्र थे, जो Entrance परीक्षासे ग्रेजुएशनतक लगातार विश्वविद्यालयमें प्रथम एवं सर्वाधिक अंक प्राप्त करनेवाले छात्र रहे। इस अवसरपर श्रीअर्जुनदास केडियाजीको भी सम्मान्य नागरिकके रूपमें निमंत्रण मिला था। चिम्मनलालजी गोस्वामीकी प्रकृति आपकी (श्रीअर्जुनदासजीकी) प्रकृतिसे बहुत ही मिलती थी। अतः दोनोंके मन ऐसे मिले कि कभी फटे ही नहीं। समान विद्या व्यसनी होनेके कारण इनका सख्य सदैव एक–रस रहा। दोनों विद्वज्जनों में जैसा सौहार्द था, वैसा ही औदार्य, वैसा ही शौर्य और स्थैर्य भी था। आरब्धकार्यको न त्यागनेवाले उत्तमजनोंमें आप दोनों थे। यद्यपि दोनोंकी वयमें बहुत असमानता थी, श्रीकेडियाजी जहाँ वानप्रस्थोन्मुख वयके थे, वहीं श्रीचिम्मनलालजी यौवनकी देहलीमें पैर रख रहे थे। परन्तु दोनोंके ही लिये अपने जाति–समाज एवं देशमें "गुणोंका गाडा" विशेषण प्रयोगमें लाया जाता था। दोनों परस्पर जब भी मिलते, सारस्वत चन्द्रिका, कालिदास माघ, श्रीहर्ष आदिके प्रबन्धोंपर घण्टों साहित्यिक वार्त्ताका आनन्द लेते। उस समय

इनकी मण्डलीमें बाबू फतेहसिंहजी साहब (बीकानेरके चीफ कोर्टके जज) शेख मोहम्मद इब्राहीम साहब (बीकानेर हाईकोर्टके जज) आदि रहा करते थे।

इसी अवसरपर महाराजाकी ओरसे घोषणा की गयी थी कि यदि समागत सज्जनोंमेंसे कोई राज्य-संचालन-सम्बन्धी नूतन परामर्श दे, तो उससे लाभ उठाया जायेगा। उन दिनों चाटुकारीका युग था, अतः आप दोनोंके अतिरिक्त सभी आमंत्रित व्यक्तियोंने राज-व्यवस्थाकी मात्र प्रशस्तियोंका ही उल्लेख किया। इस बीच, आप दोनों साहसपूर्वक खड़े हुए और यह कहा कि हमें इस सम्बन्धमें निवेदन करना है। श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीका निवेदन यह था कि "प्रजाकी पुकार सुननेके लिये महाराजा साहब सप्ताह, पक्ष, या मासमें एक दिवस ऐसा नियत करनेका अनुग्रह करें, जिस दिन निर्बाधरूपसे प्रजा महाराजा साहबकी सेवामें अपना सुख-दुःख निवेदन कर सके।"

श्रीअर्जुनदासजी केडियाका सुझाव यह था कि "जकातके लिये स्त्रियोंकी तलाशी नहीं ली जावे।" इसपर जकातके तत्कालीन अफसर तैशमें आकर बोल पड़े कि "क्या औरतोंको बेपर्द किया जाता है ?" श्रीकेडियाजीका अति निर्भीकतापूर्ण उत्तर था कि "हाँ, क्योंकि किसी भी सभ्य जातिकी महिलाओंकी जकातके लिये तलाशी लेना तो क्या, तलाशी देनेके लिये उनसे कहा जाना भी उन्हें नंगी एवं बेइज्जत करना है। यदि ऐसा करनेसे राज्यकी आयमें कमी पड़े, तो मेरा निवेदन है कि जकातकी दर बढ़ाकर उसे पूरा कर लिया जाय।"

महाराज श्रीगंगासिंहजी पर इन दोनोंकी निर्भीक सलाहका बहुत असर पड़ा और दोनों ही सुझाव आगे चलकर कार्यरूपमें परिणत हो गये। श्रीगंगासिंहजी महाराज तो इन दोनोंसे इतने प्रभावित थे कि आगे जाकर श्रीअर्जुनदासजी केडियाको तो अपनी एक्जीक्यूटिव कौंसिलका सदस्य बनाया और श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीजीको इसी

कौंसिलका सेक्रेटरी नियुक्त कर दिया। कर्नल राव बहादुर राजा हरिसिंहजी सी.आई.ई. (महाराज) ने दरबारकी ओरसे आप दोनोंकी प्रशस्ति करते हुए कहा कि दरबारको इस बातसे बड़ी प्रसन्नता है कि राज्यमें ऐसे स्पष्टवादी मतिमान् प्रजाजन हैं। हमारी प्रजा मात्र भेड़ोंकी टोल नहीं है कि आँख मूँदे चलती जावे, उसमें राज्यभक्तिके साथ-ही-साथ आत्मसम्मान भी कूट-कूटकर भरा है।

उन दिनों बीकानेरमें शेख मुहम्मद इब्राहीम चीफ जस्टिस (जज) थे। इनको मुशायरेका बहुत शौक था। श्रीचिम्मनलालजीके साथ श्रीअर्जुनदासजी वहाँ भी जाया करते थे। एक दिवस महफिलमें शायर लोग "रंगलाया है दुपट्टा तेरा मैला होकर" — इस तरह पर अपनी-अपनी शायरी सुनाने लगे। श्रीकेडियाजी आशुकवि थे, अतः महफिलमें ही बैठे-बैठे दोनोंने मिलकर इसकी पूर्त्ति कर डाली। श्रीचिम्मनलालजीने इस नज्मको अपने सुमधुर कण्ठसे गाकर सुनायी। मजलिसमें इसकी खूब वाह-वाही हुई एवं दाद दी गयी। समस्या-पूर्त्तिकी कविता निम्न है —

"रंग लाया है दुपट्टा तेरा मैला होकर"

गुरु गोरखका हुआ जबसे तू चेला होकर।

खाक मलके घूमा बियाबाँमें अकेला होकर॥

पा लिया नूरे खुदा जिस्म घिनैला होकर।

रंग लाया है दुपट्टा तेरा मैला होकर॥

* * *

(२)

रासका ठाकुर बालक घनश्याम श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीको दादाजी कहता है । आज उसके दादाजीके यहाँ सभी मण्डलीका भोजन–निमन्त्रण है । सभी ब्रजवासी मण्डलीमें उत्साह है । इधर श्रीगोस्वामीजीकी पत्नीने रात्रिपर्यन्त जागकर पक्वान्न निर्माण किये हैं । गोस्वामीजीने भी उत्साहपूर्वक अपने घरको कदलीखम्भोंसे सज्जित किया है । आँगनमें बन्दनवारें बाँधी हैं । प्रातः से ही गृहद्वारपर तोरण सजानेमें सभी इष्टमित्र संलग्न हैं । प्रातः होते ही स्वर्णिम रविरश्मियोंने श्रीगोस्वामीजीके घरको ज्योंही आलोकित किया, वे भी आनन्दोल्लासमें भर उठीं ।

कदली–स्तंभ, मंगलघट, बन्दनवारों एवं पल्लव–पुष्पोंसे ही सारे घरको मानो भर दिया गया है । गोस्वामीजीकी पत्नीका मन रोम–रोमसे उल्लसित है । वह पाक–रचनामें रात्रिभरसे लगी है ।

“आज मेरा जन्मधारण सफल हो गया । मेरे नेत्र भी सफल हैं । मेरा कुल, मेरी विद्या, मेरी सभी पुण्यराशिका फल मुझे प्राप्त हो गया । मेरा सारा परिवार कृतार्थ हो गया । अपने पुरुषार्थसे नहीं, मेरे अग्रज धर्मभ्राता भाईजी श्रीपोद्दार महाराजके संगने मुझे सर्वथा कृतार्थ बना डाला । मेरे घरपर आज वे बालक भोजन–प्रसाद ग्रहण करेंगे, जिन्होंने रासलीलानुकरण करके प.पू. श्रीराधाबाबा एवं स्वयं श्रीपोद्दार महाराज जैसे पुण्यपुरुष सन्तोंको भावविभोर कर दिया और मुझे भी अलौकिक चिज्ज्योतिके दर्शनसे कृतकृत्य कर दिया ।”

“जिस बालकमें अनादि मोहान्धकारको सर्वथा नष्ट कर देनेवाले विशुद्ध ब्रह्मरूप अंकुरका उन्मेष होता है; जिसपर मेरे गुरुतुल्य पू.राधाबाबाके इष्ट मूर्त हो जाते हैं; जो उनके इष्ट साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके पूर्व निर्देशानुसार हम सबको दर्शन देकर कृतार्थ करने ब्रजप्रदेशसे यहाँ गोरखपुर आया है; जिसका मानस इतना पवित्र है कि

संतोद्घोषित परम आनन्द सुधा–सागरका उद्गमस्थल जिसमें लीलायमान हो उठता है, जो बालक यंत्रवत् श्रीराधाबाबाके मानस–संकल्पोंको अपने लीला–आचरणोंमें अवतरित कर देता है ओह ! वह आज मेरे घरपर अपना प्रसाद बिखेरेगा !"

परम श्रद्धापूत अन्तःकरणधारी श्रीगोस्वामी चिम्मनलालजी इन्हीं विचारोंमें डूबे, उन पावनतम क्षणोंकी प्रतीक्षा कर रहे हैं, जब स्वरूपधारी सभी बालकोंके चरण–प्रक्षालनकर, चरणोदक ग्रहणकर, वे कृतकृत्य हो उठेंगे । इधर तो श्रीगोस्वामीजी उत्सवावेशमें रात्रिभर विलक्षण भावदशामें स्थित रहे, उधर ठाकुर बननेवाला बालक घनश्याम भी निशापर्यन्त विलक्षण प्रेमदशामें विभोर रहा है । उसे रात्रिभर स्वप्न भी अपने 'दादाजी' के ही आते रहे हैं । अपने 'दादाजी' के पास पहुँचनेको बालक घनश्याम आतुर है । स्नेह चाहे सर्वथा ही निराविल, पूर्णतया निरपेक्ष ही क्यों न हो, स्नेहास्पदको आकर्षित तो करता ही है । बालक घनश्यामको दादाजीके स्नेहने मध्याहके पूर्व ही क्षुधातुर कर दिया है । मण्डलीवाले शीघ्र स्नान करें, अपने भालपर शीघ्र तिलक–छाप लगावें और ठकुरीबाबूके प्रांगणके कोनेपर पड़ी बग्घीपर शीघ्रातिशीघ्र सवार होकर गीतावाटिका प्रस्थान करें, उसे यही त्वरा है । वह बार–बार झुँझलाता है, बग्घीके अश्ववाहकको शीघ्र आनेका सन्देश भेजता है, परन्तु उसकी इस त्वराका दूसरे अन्य सदस्योंपर अनुकूल प्रतिक्रिया नहीं देख, वह झुँझलाता है । अन्ततः उसकी मनोदशापर स्वयं भगवती लीलाशक्ति योगमायाको कान देने पड़ते हैं, ब्रजवासी रासधारियोंको शीघ्र भिजवाने संबंधी फोन गीतावाटिकासे आ जाता है ।

ठकुरीबाबूकी बग्घी तो जैसी है, वैसी ही है, परन्तु आज उनके पुत्रने उस बग्घीपर नवीन तूलपुष्ट आस्तरण (रूईभरा तोषक) लगा दिया है । तोषकके चारों ओर सेमररूईसे भराये हुए उपधान (तकिये) भी लगे हैं । श्वेत रेशमी चादर उस टमटमपर बिछायी गयी है, जो अतिशय सुन्दर फब रही है । घोड़ेकी लगाम भी रेशमकी लाल

डोरीसे गूंथकर निर्मित करायी है। इसी बग्घीपर कौमारवयके मण्डलीके सभी परिकर बैठ जाते हैं, स्वामी और समाजी लोगोंके लिये बगीचेसे 'नैश' विदेशी नोटरगाड़ी भेजी गयी है। स्वामी श्रीरामजी सभी बालकोंको संयत रहने और शैशवजन्य उत्पात नहीं करनेका निर्देश देकर बग्घीको आगे बढाते हैं। सभी सोल्लास वायुकी लहरकी तरह शीघ्र ही बगीचे पहुँच जाते हैं और तब श्रीगोस्वामीजीके गृहप्रांगणकी ओर चल पड़ते हैं।

गृहद्वारपर ही गोस्वामीजी ब्राह्मणोचित मर्यादाका पालन करते हुए आम्रपल्लवयुक्त रजतघट लेकर सभी मण्डलीका वेदमन्त्रोंसे स्वस्त्ययन करते हैं और अपने पूजाके कमरेमें सभीको आसन देकर बैठाते हैं। क्रमशः सभीका पूजन होता है। वे अपने हाथों सभीके चरण प्रक्षालन करते हैं, और चरणोदकको सभी कुटुम्बीजनोंमें वितरण करते हैं।

इस प्रकार भोजनोपरान्त वस्त्राभरण समर्पित कर गोस्वामीजीके घरसे स्वरूपोंको बिदा कर दिया जाता है। विदाई बेला भी अभूतपूर्व होती है। पू. राधाबाबाकी छोटी मैया (श्रीगोस्वामी चिम्मनलालजीकी धर्मपत्नी) दोनों स्वरूप श्रीराधा एवं श्रीकृष्णको अपनी गोदमें बैठाकर आरती करवाती हैं। सभी मोहल्लेकी स्त्रियाँ मंगलगीत गाती हैं। तुमुल जयध्वनि होती है। उस अपूर्व प्यारभरे सम्मेलनका दृश्य देखकर उस समय हम सभीके तो पलक पड़ने ही बन्द हो जाते हैं। हम सभी देख रहे थे —

"दोनों ही राधाकृष्ण बननेवाले बालक परस्पर नेत्र मिलाये अभूतपूर्व सुन्दर लग रहे थे। श्रीगोस्वामीजीकी धर्मपत्नीका कलेवर भी प्रेमावेशसे निस्पन्द था। उसके एवं गोस्वामीजीके नेत्रकोण अश्रुपूरित थे । वास्तवमें तो दोनों वात्सल्य-रसघनमूर्ति दम्पत्तिका प्रेम-विगलित चित्त ही अश्रुमिषसे नेत्रोंके द्वारा प्रवाहित हो रहा था और बाह्यवक्षको भिगो रहा था। यों, होना तो चाहिये था श्रीकृष्ण स्वरूपको काला और

राधास्वरूपको गोरा, परन्तु वस्तुतः श्रीकृष्ण बननेवाला बालक घनश्याम गोरा था और राधा बननेवाला बालक कुञ्जबिहारी किंचित् कृष्णवर्ण (साँवला) था। उस समय इन दोनों स्वरूपोंमें सभीको ऐसी प्रेमासक्ति और प्रेमावेश अनुभव हो रहा था कि यही लगता था मानों सबसे बड़ा निबन्धन यदि विश्वमें कुछ है तो वह प्रेमबन्धन ही है।"

* * *

(३)

पू. गुरुदेव (श्रीराधाबाबा) षोडशगीतका हिन्दी अनुवाद करवाना चाहते थे। इसके लिये उन्होंने सुयोग्यतम व्यक्ति मेरे मामाजी श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीका चयन किया। गोस्वामीजी षोडशगीतोंके पन्ने लेकर अपने घर गये; परन्तु सायंकाल वे बाबाके पास वापस आये। उनके आँखोंमें अश्रु थे। वे पू. गुरुदेवसे कहने लगे—"बाबा ! मैं इस कार्यके लिये अयोग्य व्यक्ति हूँ।"

मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि मामाजी जैसे परम उद्भट विद्वान स्वयंको अयोग्य बता रहे हैं। षोडशगीतकी भाषा भी कोई इतनी क्लिष्ट नहीं, कोई नौवीं-दसवींका बालक भी उसका शब्दार्थ कर सकता है। मामाजी पू. गुरुदेवको कहने लगे—"बाबा ! षोडशगीत समाधि-भाषामें उद्भूत श्रीमहाभाव-रसराजकी परम रसमयी, चिन्मयी वार्त्ता है। पूरे संसारमें एकमात्र भाईजीके अतिरिक्त ऐसा कोई नहीं है, जो इन गीतोंका यथार्थ अनुवाद कर सके।"

पू. गुरुदेवने मामाजीकी बातका अनुमोदन किया तथा श्रीपोद्दार महाराजसे इनका अनुवाद करनेकी प्रार्थना की। पू. गुरुदेवके कहनेपर पूज्य श्रीपोद्दार महाराजने स्वयं इन गीतोंका अनुवाद किया।

श्रीगुरुचरणजीके संस्मरण

(प्रेषक — श्रीसुभाष दीपक)

पूज्य श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी 'कल्याण' का अंग्रेजीमें अनुवाद किया करते थे। अनुवाद करके भाईजी (पूज्य श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) को पकड़ा देते। भाईजी उसे देखकर प्रेसमें दे देते।

एक बारकी बात है उन्होंने अनुवाद करके भाईजीको दिया ही था कि थोड़ी देर बाद ही काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके अंग्रेजी विभागके एक प्रोफेसर वहाँ आ गये। कल्याण–कल्पतरुकी जब बात चली तो भाईजीने गोस्वामीजी द्वारा किये गये अनुवादके कुछ अंश उनको पढ़नेके लिये दे दिये। प्रोफेसर साहबने उसे पढ़ा और फिर लौटाते हुए कहा— 'ठीक है, पर स्टैंडर्डका नहीं है।'

भाईजीने चुपचाप कागज वापस ले लिया। भाईजीने तो कुछ नहीं कहा, पर ये बात किसी तरह बाबा (पूज्य श्रीराधाबाबा) के कानमें पड़ गयी। बाबा तो अंग्रेजीके प्रकाण्ड पण्डित थे, वे अभी नौवीं कक्षामें पढ़ते थे उसी समय उनकी अंग्रेजी सुनकर अंग्रेज कलेक्टरतकका मुँह खुला रह जाता था। प्रोफेसर साहबकी ये बात सुनते ही बाबा एकदम बौखला गये—"बिना सोचे समझे उन्होंने ऐसा कैसे कह दिया।" बाबाने तुरन्त उन प्रोफेसर महोदयको अपनी कुटियामें बुलवाया। वे आये तो बाबाने कुछ इधर–उधरकी बात करते हुए गीताका एक पृष्ठ उनके सामने रख दिया और कहा— "जरा इसका अंग्रेजीमें अनुवाद कर दीजिए।" प्रोफेसर साहब तुरन्त तैयार हो गये, पर बोले कि थोड़ा समय दीजिए। बाबाने कहा—"ठीक है, जब आप कर लें तो आइयेगा।"

इसी पृष्ठका अनुवाद गोस्वामीजीने पहले ही कर रखा था, और वह बाबाके पास था। प्रोफेसर साहब अनुवाद लेकर आये तो बाबाने उसे पढ़ा और उसके बाद गोस्वामीजी वाला अनुवाद भी उनके सामने रख दिया और बोले—"जरा इस अनुवादको भी देख लीजिये।"

प्रोफेसर साहबने ज्यों ही उसे देखा उनके तो पसीने छूट गये। बाबाने पूछा—"दोनोंमें अंतर आपको दिखाई देता है?"

प्रोफेसर साहबने नजर झुकाते हुए कहा—'इस अनुवादमें भावका अर्थ है, भाषाका सौष्ठव है, सरलता है, जबकि मेरे अनुवादमें शब्दोंके मात्र अर्थ हैं। डिक्शनरीवाले भारी-भरकम शब्द हैं, पर आत्मा नहीं है।' बाबाने उन्हें तब बताया कि ये अनुवाद गोस्वामीजीने किया है। प्रोफेसर साहब शर्मिंदा होते हुए बोले—'मुझे क्षमा कर दीजिए, मैंने ऐसे ही टिप्पणी कर दी थी।'

भाईजी भी जानते थे कि विषयके गर्भमें जाकर जो भाव गोस्वामीजी अभिव्यक्त कर सकते हैं वह दूसरा कोई नहीं कर सकता। विश्वविद्यालयी भाषा और गोस्वामीजी द्वारा प्रयोगमें लायी जानेवाली भाषामें रात-दिनका अंतर होता है। इसीलिए भाईजी प्रोफेसर साहबके बातसे विचलित नहीं हुए थे और उन्होंने उसे सहजतासे वापस ले लिया था।

बाबा गौरवमयी वाणीमें अनेक बार कहा करते थे—"अपने आर्ष ग्रन्थोंका ऐसा प्रामाणिक और आधिकारिक अंग्रेजी अनुवाद अभी तक मेरे देखनेमें नहीं आया जैसा गोस्वामीजीने किया है।"

श्रीसुभाष दीपकजी द्वारा संकलित संस्मरण

(१)

बात पुरानी है। श्रीचिम्मनलालजी उन दिनों 'कल्याण' मासिकपत्रका सम्पादन किया करते थे और श्रीमदनमोहनजी गोस्वामी भी उनके सहयोगीके रूपमें वहाँ काम करते थे।एक बारकी बात है गोस्वामीजी कुछ पत्रोंको पढ़ रहे थे और मदनजी उनके पास बैठे उनके आदेशकी प्रतीक्षा कर रहे थे। थोड़ी देर बाद उन्होंने मदन जीको पास बुलाया और उन्हें एक–एक करके पत्र देना शुरू कर दिया ताकि वे पोस्ट करने लगें। श्रीगोस्वामीजी मदनजीको पत्र पकड़ाते और मदनजी अगर आवश्यकता होती तो उसमें आलपिन लगाते और उसे मोड़ कर लिफाफेमें डाल देते अन्यथा वैसे ही लिफाफेमें रख देते। कुछ देर तक यह क्रम चलता रहा। अचानक एक पत्रपर गोस्वामीजी अटक गये, लेकिन फिर उसे मदनजीको पकड़ाते हुए बोले — "मदन यह मेरा निजी पत्र है।" मदनजीने सिर हिला कर जताया कि उन्होंने सुन लिया है। जैसा कि क्रम चल रहा था मदनजीने पत्र लिया और एक आलपिन लगाकर पोस्ट करनेके लिये रख दिया।

गोस्वामी जी अचानक भड़क गये। "यह क्या कर रहा है ?" —उन्होंने पूछा। 'पत्रको पोस्टके लिए डाला है', मदनजीका सहज उत्तर था। "मैंने क्या कहा था ?" —उन्होंने फिर पूछा। 'आपने कहा था यह मेरा निजी पत्र है' —मदनजीने जवाब दिया। "और इसपर तुमने जो आलपिन लगायी वह किसकी है ?" —गोस्वामीजीने सवाल किया। मदनजी पूरा माजरा समझ गये। 'जी, आफिस की है' —उनका उत्तर था। बस फिर क्या था, मदनजीने तुरंत पत्रमेंसे आलपिन निकाली और पत्रको बिना आलपिनके ही मोड़ कर रख दिया। गोस्वामीजी निश्चिंत हुए और अपने काममें जुट गए।

(२)

बात पुरानी है और उन दिनोंकी है जब पूरे देशमें एक जन आंदोलनके तहत धरना प्रदर्शन और हड़तालका दौर जारी था ।उन्ही दिनों गोरखपुरमें एक बार यह तय किया गया कि कुछ कार्यकर्ता शहरमें शांतिपूर्ण तरीकेसे मार्च निकालें। कार्यक्रम ऐसा बनाया गया कि एक सवेरे सारे कार्यकर्ता गीतावाटिकाके मुख्य द्वारपर एकत्रित हों और भाईजी अर्थात् श्रीपोद्दारजी उन्हें अपना आशीर्वाद देकर मार्चके लिए रवाना करें । निश्चित कार्यक्रमके अनुसार गीतावाटिकाके मुख्य द्वारपर तमाम कार्यकर्ताओंका समूह इकट्ठा हो गया । दुर्भाग्यवश भाईजीकी तबियत अचानक बिगड़ गयी और उनका द्वार पर पहुँचना असंभव हो गया। ऐसेमें अब यह जिम्मेदारी श्रीराधाबाबा पर आ गयी। तय यह हुआ कि बाबा अपना हाथ उठाकर प्रत्येक कार्यकर्ताको आशीर्वाद देंगे और गोस्वामीजी महाराज प्रत्येकके भालपर तिलक लगाते जायेंगे। बड़े शांतिपूर्ण तरीकेसे सबकुछ चल रहा था कि अचानक एक पुलिस अफसर घुड़सवार अपनी घुड़सवार टुकड़ीको लेकर आ गया और बगैर किसी चेतावनीके वहाँ उसने खड़े स्वयंसेवकोंपर कोड़े बरसाने शुरू कर दिये। बाबाको बहुत बुरा लगा। गुस्सेसे उनका चेहरा लाल हो गया। वे तेज गतिसे चलते हुए अफसरके पास गये और उसके घोड़ेकी उन्होंने कस कर रास पकड़ली ।अफसरको भी कुछ समझमें नहीं आया। वह हकबकाकर बाबाको देखने लगा।

“निहत्थे और निर्दोष लोगोंपर क्या अपनी ताकत दिखा रहा है,दिखाना है तो मुझ पर अपनी ताकत आजमा।” —कहते हुए बाबाने कंधेपरसे अपना वस्त्र उतार फेंका और अफसरकी तरफ अपनी नंगी पीठ करके खड़े हो गये। बाबाका इतना करना था कि गोस्वामीजी बाबाके सामने, पहला वार झेलनेके लिए ढाल बन कर खड़े हो गये। अफसरने जब जोशसे उबलते दुबले पतले बाबा और क्रोधसे लाल, तेजस्वी, सीना

ताने, गोस्वामीजीको देखा तो उसका सारा रौब हवा हो गया। एक क्षणको उसने दोनोंको देखा और फिर वह घोड़ेसे उतरा और दोनों महानुभावोंको सेल्यूट कर अपनी फौज लेकर लौट गया। जुलूस अपने कार्यक्रमके अनुसार शांतिपूर्ण तरीकेसे सम्पन्न हुआ।

आवश्यक सूचना

कई कारणोंसे समस्त सामग्रीके एकत्रीकरणमें किञ्चित् देरी हो जानेके कारण सम्पादन एवं मुद्रणके लिये समय कम मिला, अतः अनेक चेष्टाओंके बाद भी समयाभावके कारण बहुत-सी सामग्री इस संस्करणमें सम्मिलित नहीं की जा सकी है। अभी भी अनुमानित ६०-७० पृष्ठोंकी सामग्री शेष है, जिन्हें अगले संस्करणमें प्रकाशित करनेका विचार है।

— सम्पादक

सम्पादकका निवेदन

बिधि हरि हर कबि कोबिद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी॥

बंदउँ संत समान चित हित अनहित नहिं कोइ।

अंजलि गत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोइ॥

पूज्य श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी विभूति कोटिके महात्मा थे। उनके जीवनको कोई किसी भी कसौटीपर कसे, प्रत्येक कसौटीपर उन्हें सौ टंच खरा पायेगा। बौद्धिक, सामाजिक, पारिवारिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक—सभी पक्षोंकी अद्भुत समस्वरताका निदर्शन उनके जीवनमें प्राप्त होता है।

श्रीउद्धवजी एवं श्रीनारदजी सरीखे महात्मा जिन गोपियोंकी चरणधूलिसे अपने मस्तकको अभिषिक्त कर स्वयंको धन्य मानते हैं, जिस गोपीभावकी प्राप्तिके लिये स्वयं ब्रह्मविद्या भी कल्पोंतक कठोर तप करती है, वह पूज्य श्रीगोस्वामीजीका अपना आपा था—निज-स्वरूप था। अखिल रसामृतमूर्त्ति भगवान् श्रीनन्दनन्दन स्वयं उनके 'अपने' हो चुके थे। ऐसे आत्मप्रकाशदीप्त महापुरुषकी अनिर्वचनीय महिमाके सम्बन्धमें क्या कहा जा सकता है! हमारा उनके सम्बन्धमें कुछ भी निर्वचन करना स्वयंको पवित्र एवं तुष्ट करनेकी बालचेष्टा मात्र है। अस्तु,

जगत्‌की सर्वाधिक दुर्लभ वस्तु है—भगवत्प्रेम। परम पूज्य भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार कहते थे — "जो अपना सर्वस्व जलाकर उसके भस्मावशेषपर नृत्य कर सके, वही पथिक बन सकता है इस पथका।" जहाँ मोक्षसुखका भी सहज त्याग हो, वहाँसे प्रेमकी साधनाका आरम्भ होता है। इसीलिये इसे पञ्चम् पुरुषार्थ कहा जाता है। श्रीनारदजीके अनुसार भगवत्प्रेमकी प्राप्तिका मुख्य साधन प्रेमी महापुरुषोंकी कृपा ही है — **"मुख्यतस्तु महत्कृपयैव"** (श्रीनारद-भक्ति-सूत्र ३८) और महापुरुषोंकी कृपा पूर्ण आत्मसमर्पणके अनन्तर ही सम्यक् रूपसे अवतरित होती है। पूज्य श्रीगोस्वामीजीका जीवन इस परमोच्च समर्पणका साकार

स्वरूप था। उनके जीवनका कण–कण अभिनव चैतन्य परम पूज्य श्रीभाईजी एवं परम पूज्य श्रीराधाबाबाके रुचिके साँचेमें पूर्णरूपेण ढला हुआ था। उनका न अपना कोई पृथक् अस्तित्व था और न अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता थी। उनका जीवन — "**तुम हो यन्त्री, मैं यन्त्र, काठकी पुतली मैं, तुम सूत्रधार**" — का प्रत्यक्ष उदाहरण था। परम पूज्य श्रीभाईजीकी आत्मसंगोपनीय प्रवृत्ति अत्यन्त विलक्षण थी एवं उनके इस स्वभावकी सहज छाप पूज्य श्रीगोस्वामीजीके जीवनमें भी पूर्णरूपेण विद्यमान थी। यही कारण है कि उनका अपना कोई स्वतंत्र साहित्य अथवा उनके जीवनसे सम्बन्धित प्रकाशित सामग्री उपलब्ध नहीं है।

उनके अन्तरङ्ग सान्निध्यमें रहनेवाले कुछ अतिशय सौभाग्यशाली व्यक्तियोंके द्वारा उनके चरितसिन्धुके कतिपय बहुमूल्य रत्न भगवत्कृपासे समय–समयपर जगत्के सम्मुख अवश्य प्रकाशित होते रहे हैं। किन्तु उनसे सम्बन्धित वह समग्र प्रकाशित साहित्य विभिन्न पुस्तकोंमें अलग–अलग स्थानोंपर बिखरा हुआ था, जिसके परिणामस्वरूप वह जन–सामान्यके लिये प्रायः सुलभ नहीं था। अतः बहुत समयसे ऐसा विचार बन रहा था कि समस्त श्रद्धासम्पन्न पाठकोंके सौकर्यके लिये उन सभी बिखरी हुई सामग्रियोंको एक पुस्तकके रूपमें संकलित कर दिया जाय। भगवत्कृपासे वह विचार कार्यरूपमें परिणत हुआ और 'रस–प्रवाह' के द्वितीय विशेषांकके रूपमें यह संकलन "समर्पणमूर्त्ति श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी" नामसे प्रकाशित किया जा रहा है।

विषयको व्यवस्थित ढंगसे संयोजित करनेकी दृष्टिसे ही एकत्रित सामग्रीको ९ प्रकरणोंमें विभाजित किया गया है। प्रथम प्रकरणमें भगवान् श्रीराधा–माधवकी वन्दना की गयी है। दूसरे प्रकरणमें महापुरुषोंके महिमाका वर्णन है। तीसरे प्रकरणमें श्रीगोपीजनोंकी महिमा एवं पूज्य श्रीगोस्वामीजीके प्रति परम पूज्य श्रीभाईजी, परम

पूज्य श्रीराधाबाबा एवं पूज्या श्रीमती सावित्रीबाई फोगलाके उद्गार हैं। चतुर्थ प्रकरणमें पूज्य श्रीगोस्वामीजी द्वारा परम पूज्य श्रीभाईजीकी महिमामें लिखे गये उद्गार एवं पत्रोंका संकलन है । पञ्चम् प्रकरणमें परम पूज्य श्रीराधाबाबा द्वारा समय-समयपर पूज्य श्रीगोस्वामीजीको दिये गये उपदेशों एवं प्रबोधनोंका संकलन है। छठे प्रकरणमें परम पूज्य भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार द्वारा समय-समयपर पूज्य श्रीगोस्वामीजीको प्रेषित किये गये पत्रोंका संकलन है। सातवें प्रकरणमें पूज्य श्रीगोस्वामीजीके जीवनसे सम्बन्धित अनेक घटनाओं एवं सुन्दर संस्मरणोंका संकलन किया गया है। आठवें प्रकरणमें पूज्य श्रीगोस्वामीजी द्वारा लिखित कुछ पुस्तकोंके सम्पादकीय निवेदन एवं उनके द्वारा किये गये अनेक लेखों एवं पदोंका अंग्रेजी अनुवाद संकलित है एवं नवें प्रकरणमें कुछ छोटे-छोटे संस्मरण प्रकाशित किये गये हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थके प्रकाशनमें प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूपसे सहयोग एवं मार्गदर्शन प्रदान करनेवाले समस्त महानुभावोंके प्रति हम सहृदय आभार व्यक्त करते हैं।

इस पुस्तकके सम्पादन आदिके अन्तरालसे पूज्य श्रीगोस्वामीजी एवं उनके 'अपने' परम पूज्य श्रीभाईजी एवं परम पूज्य श्रीबाबाके स्मरण-चिन्तनका जो परम दुर्लभ सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ, यह उनके हेतुरहित स्नेह एवं वात्सल्यका ही परिणाम है। किन्तु जब अपनी ओर दृष्टि जाती है, तब ऐसा प्रतीत होता है कि हमारी विषय-कीचसे सनी अपावन बुद्धिके माध्यमसे हुआ यह संयोजन हमारे मलिनतम अहंकारके क्रियाशील रहनेके कारण उनके परम निर्मल, परम विशुद्ध स्वरूपको निश्चय ही अभिव्यक्त नहीं कर पाया है, इस संकोचके कारण हम विश्वरूप प्रभुके सम्मुख क्षमा-प्रार्थी होकर खड़े हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थका प्रकाशन पूज्य श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीके पुण्यतिथि पर करनेका विचार किया गया था। कई कारणोंसे समस्त सामग्रीके एकत्रीकरणमें किञ्चित्

देरी हो जानेके कारण सम्पादन एवं मुद्रणके लिये समय कम मिला, अतः अनेक चेष्टाओंके बाद भी समयाभावके कारण बहुत-सी सामग्री इस संस्करणमें सम्मिलित नहीं की जा सकी है। अभी भी अनुमानित ६०-७० पृष्ठोंकी सामग्री शेष है, जिन्हें अगले संस्करणमें प्रकाशित करनेका विचार है।

इसके अतिरिक्त यथाशक्य सावधानी रखनेके बाद भी मानवीय दुर्बलतावश मुद्रण आदिमें कुछ अशुद्धियोंका शेष रह जाना सम्भव है; अतः इस प्रमादजनित भूलके लिये भी हम समस्त प्रेमी पाठकोंसे क्षमा चाहते हैं।

अन्तमें सबसे यही निवेदन है कि इस पुस्तकमें जो कुछ है, वह परम पूज्य श्रीभाईजी, परम पूज्य श्रीराधाबाबा एवं पूज्य श्रीगोस्वामीजीका है; अतः यह अत्यन्त लाभकी वस्तु है उनके लिये, जो भगवत्प्राप्तिके मार्गका अनुसन्धान प्राप्त करना चाहते हैं। हमारा विश्वास है कि इस पुस्तकमें वर्णित महत्वपूर्ण सिद्धान्तों एवं आदर्शोंको जीवनमें धारण करनेवाले सौभाग्यशाली व्यक्तियोंका निश्चय ही कल्याण होगा।

विनीत

ऋत्विक मिश्र

सहायक ग्रन्थों / पुस्तकोंकी सूची :—

ग्रन्थ / पुस्तक	लेखक / प्रकाशक
पदरत्नाकर	परम पूज्य भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
श्रीराधा–माधव–चिन्तन	परम पूज्य भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
श्रीभाईजी पावन स्मरण	श्रीराधा–माधव–सेवा–संस्थान (प्रकाशक)
महाभाव–दिनमणि श्रीराधाबाबा (खण्ड : २, ३, ४, ५, ६)	पूज्य स्वामी श्रीकृष्णप्रेमजी
कहौं तो को पतियाय	डॉ० श्रीमती राधा भालोटियाजी
कल्याण पथ : निर्माता और राही	डॉ० श्रीभगवतीप्रसाद सिंहजी
श्रीभाईजी–चरितामृत	गीतावाटिका प्रकाशन (प्रकाशक)
श्रीभाईजी—एक अलौकिक विभूति	श्रीश्यामसुन्दरजी दुजारी (संकलनकर्ता)
मेरे प्रियतम	गीतावाटिका प्रकाशन (प्रकाशक)
समर्पित जीवनकी लोकयात्रा	श्रीमुकुन्दजी गोस्वामी एवं श्रीमती राधा भालोटियाजी
परमार्थका सरगम	पूज्य श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी द्वारा सम्पादित
वाटिकाके पत्र–पुष्प (भाग २ : रस कलरव)	श्रीराधेश्यामजी बंका
The Nectarean Bliss of Śrī Rādhā Mādhava	पूज्य श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी द्वारा प्रकाशित

(Numbers issued between 1935-1939) [Edited by Śrī Goswāmī Jī]

* * *

स्वतंत्र लेख :—

निष्ठाके प्रतीक आदरणीया श्रीमती अचलनन्दिनीजी श्रीवास्तव

पंडित श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी :

एक विलक्षण विभूति श्रीमती उषा गोस्वामीजी

गोस्वामीसे गोस्वामीतक की यात्रा (लेखक — अज्ञात,

प्रेषक — श्रीसुभाष दीपकजी)

आध्यात्मिक साहित्य–सम्पादनकी यशस्वी परम्पराओंके

संवाहक श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी (श्रीभानुस्वरूपजी गोस्वामी)

श्रीरामचरितमानसके प्रकाशनमें गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजी

आदिका योगदान (श्रीहेमंत शेषजी)

श्रद्धा–सुमन : एक भावाभिव्यक्ति (श्रीमती चित्रा तैलंगजी)

करुणाके रससागर (श्रीप्रदीप तैलंगजी)

अभिनव चैतन्य परम पूज्य भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

समर्पण

सौंप दिये मन–प्राण तुम्हींको, सौंप दिये ममता–अभिमान।
जब जैसे मन चाहे बरतो, अपनी वस्तु सर्वथा जान॥
मत सकुचाओ मन की करते, सोचो नहीं दूसरी बात।
मेरा कुछ भी रहा न अब तो, तुमको सबकुछ पूरा ज्ञात॥
मान–अमान, दुःख–सुखसे अब मेरा रहा न कुछ सम्बन्ध।
तुम्हीं एक कैवल्य मोक्ष हो, तुम ही केवल मेरे बन्ध॥
रहूँ कहीं, कैसे भी, रहती बसी तुम्हारे अन्दर नित्य।
छूटे सभी अन्य आश्रय अब, मिटे सभी सम्बन्ध अनित्य॥
एक तुम्हारे चरण–कमलमें हुआ विसर्जित सब संसार।
रहे एक स्वामी बस, तुम ही करो सदा स्वच्छन्द विहार॥

●

NEHNIKUNJ JAIPUR
NEHNIKUNJ JAIPUR